ISSN 2349-137X
UGC CARE-Listed Peer Reviewed

अनहद लोक

(प्रतिध्वनि कला एवं संस्कृति की)

वर्ष-9, अंक-17, 2023
(जनवरी - जून)
(अर्धवार्षिक शोध पत्रिका)

सम्पादक
डॉ॰ मधु रानी शुक्ला

सम्पादक मण्डल
डॉ॰ राजश्री रामकृष्ण, डॉ॰ मनीष कुमार मिश्रा,
डॉ॰ धनंजय चोपड़ा, डॉ॰ ज्योति सिन्हा

सह सम्पादक
सुश्री शाम्भवी शुक्ला

व्यंजना
आर्ट एण्ड कल्चर सोसाइटी
109 डी/4, अबुबकरपुर, प्रीतम नगर, सुलेम सरांय
प्रयागराज - 211011

अनहद लोक

(प्रतिध्वनि कला एवं संस्कृति की)

सम्पादक : डॉ॰ मधु रानी शुक्ला
सम्पादक मण्डल : डॉ॰ राजश्री रामकृष्ण, डॉ॰ मनीष कुमार मिश्रा, डॉ॰ धनंजय चोपड़ा, डॉ॰ ज्योति सिन्हा
सहायक सम्पादक : सुश्री शाम्भवी शुक्ला
मल्टीमीडिया सम्पादक : श्रेयस शुक्ला

प्रकाशक एवं वितरक :
व्यंजना (आर्ट एण्ड कल्चर सोसाइटी)
109 डी/4, अबुबकरपुर, प्रीतम नगर
सुलेम सरांय, प्रयागराज - 211 001
मो॰ : 9838963188, 8419085095
ई-मेल : anhadlok.vyanjana@gmail.com
वेबसाइट : vyanjanasociety.com/anhad_lok

मूल्य : 300/- प्रति अंक, पोस्टल चार्जेज अलग से
सदस्यता शुल्क
वार्षिक : 700/-
तीन वर्ष : 2,100/-
आजीवन : 15,000/-

संगीत नाटक अकादेमी के सहयोग से प्रकाशित

© सर्वाधिकार सुरक्षित
- रचनाकारों के विचार मौलिक हैं
- समस्त न्यायिक विवाद क्षेत्र इलाहाबाद न्यायालय होगा।

मुद्रक :
गोयल प्रिन्टर्स
73 A, गाड़ीवान टोला, प्रयागराज
फोन - 0532-2655513

मार्गदर्शन बोर्ड :

डॉ॰ सोनल मानसिंह, पं॰ विश्वमोहन भट्ट, प्रो॰ कमलेश दत्त त्रिपाठी, प्रो॰ ऋत्विक् सान्याल, प्रो॰ चित्तरंजन ज्योतिषि, पं॰ रोनू मजुमदार, पं॰ विजय शंकर मिश्र, प्रो॰ दीप्ति ओमचारी भल्ला, प्रो॰ के॰ शशि कुमार, प्रो॰ (डॉ॰) गुरप्रीत कौर, डॉ॰ राजेश मिश्रा

सहयोगी मण्डल :

प्रो॰ संगीता पंडित, प्रो॰ लावण्य कीर्ति सिंह 'काब्या', प्रो॰ निशा झा, प्रो॰ प्रभा भारद्वाज, प्रो॰ अर्चना अंभोरे, डॉ॰ राम शंकर, डॉ॰ इंदु शर्मा, डॉ॰ सुरेन्द्र कुमार, प्रो॰ भावना ग्रोवर, डॉ॰ स्नेहाशीष दास, डॉ॰ शान्ति महेश, डॉ॰ कल्पना दुबे, डॉ॰ बिन्दु के॰, डॉ॰ अभिसारिका प्रजापति, डॉ॰ पारुल पुरोहित वत्स

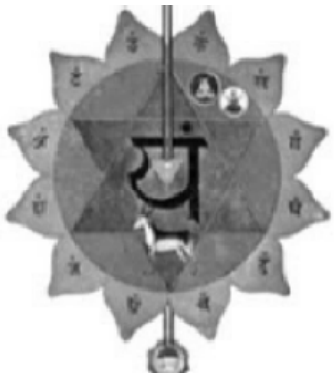

सम्पादकीय

'अनहद लोक' अंक 17 आप सभी को सौंपते हुए अत्यन्त हर्षित हूँ, आपकी मिल रही सकारात्मक प्रतिक्रियाओं ने निश्चित रूप से उर्जा का संचार किया है, भविष्य में भी आप सभी की प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा रहेगी।

भारत, इस वर्ष अपनी स्वतंत्रता की पचहत्तरवीं वर्षगाँठ मना रहा है, 15 अगस्त का दिन हर भारतवासी के लिए विशिष्ट होता है यह हमारे लिए राष्ट्रीय पर्व है जो हमें शहीदों को याद अनायास ही दिला जाता है जिन्होंने देश को आजाद करने के लिए अपने प्राणों का बलिदान दिया हम कृतज्ञता के भाव से भर जाते हैं जहाँ सम्पूर्ण भारत आजादी के विभिन्न पक्षों पर अपने-अपने तरीके से भावनाओं को व्यक्त करते हैं वहीं फिल्मों ने अपना योगदान दिया है बॉलीवुड में भी देशभक्ति की भावना से जुड़ी कई फिल्में बनती आई हैं। ऐसी फिल्मों के गाने भी हमारे मन को उत्साह, उमंग तथा कृतज्ञता से भर देते हैं साथ ही देशभक्ति में सराबोर कर देते हैं इन सदाबहार गीतों को अक्सर सुना जाता है।

कवि प्रदीप का लिखा तथा सी॰ रामचन्द्र का संगीतबद्ध किया गीत **'ए मेरे वतन के लोगों ज़रा आँख में भर लो पानी, जो शहीद हुए हैं उनकी ज़रा याद करो कुर्बानी'** 1962 में भारत-चीन युद्ध में मारे गये सिपाहियों की याद में लिखा जिसे 27 जनवरी, 1963 में दिल्ली के नेशनल स्टेडियम में लता मंगेशकर ने गाया था। कहा जाता है कि जब सुर कोकिला, लता मंगेशकर ने प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के सामने एक कार्यक्रम के दौरान ये गाना गाया था तो उनकीं आंखें नम हो गई थीं सी॰ रामचंद्र ने इसका संगीत दिया था यह गीत हमें उन स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के प्रति कृतज्ञता भाव से भर देता है जिन्होंनें हमारी आजादी के लिए हँसते-हँसते अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया। कवि प्रदीप ने ही 1940 में बंधन के गीत को लिखा - **'चल-चल रे नौजवां'** ये भी बहुत ही सुन्दर तथा जोश भरने वाला गीत रहा।

1942 में गीतकार वंशीधर शुक्ला का लिखा आजाद हिन्द फौज का चर्चित गीत जिसकी संगीत संरचना राम सिंह ठाकुर ने की -

'कदम-कदम बढ़ाये जा खुशी के गीत गाये जा,
ये जिन्दगी है कौम की तू कौम पे लुटाए जा'

ये गीत जाबांज स्वतंत्रता सेनानियों के साथ जन-जन के होंठों पर छाया ये गीत 'राष्ट्रगान' की तरह गाया जाता था जो जोशोखरोश से भर देता था। वर्ष 1943 में सुपर हिट फिल्म किस्मत के गीत **'दूर हटो ए दुनिया वालों हिन्दुस्तान हमारा है'** के रचनाकार प्रदीप देश भक्ति के लिखने वाले प्रिय गीतकार हो गये

ब्रीटिश सरकार ने उनकी गिरफ्तारी के आदेश भी दिये थे। 1952 आनन्द मठ फिल्म में बंकिम चन्द्र चटर्जी द्वारा रचित वंदे मातरम् गीत को हेमन्त कुमार के संगीत निर्देशन में गाया लता मंगेशकर ने था। वन्दे मातरम् गीत भी अनेक कलाकारों द्वारा गाया गया कहीं फिल्मों में तो कहीं प्राईवेट एलबम्स में, ए. आर. रहमान, शंकर महादेवन सभी ने अपनी शैली में इसे गाया। ये गीत मूलतः तो बंगला भाषा में था किन्तु इसके गीत कई भाषाओं में अनुवाद हुए संस्कृत अनुवाद को फिल्म में लिया गया।

1954 की सुप्रसिद्ध फिल्म जागृति में गाना **'दे दी हमें आजादी बिना खड़ग बिना ढाल साबरमती के संत तूने कर दिया कमाल'** हमारे बापू महात्मा गांधी को समर्पित है जिसे कवि प्रदीप द्वारा रचा गया जिसका संगीत संयोजन हेमन्त कुमार ने किया तथा आशा भोसले ने अपने सुरों से सजाया है। जागृति आजादी के कुछ वर्षों के बाद ही बनी जो संघर्ष लोगों ने किया था कितनी ही जानें गई वो घाव ताजा ही थे उसी वेदना को व्यक्त करते हुए बच्चों के लिए गीत रचा गया - **'हम लायें हैं तूफान से कश्ती निकाल के, इस देश को रखना मेरे बच्चों संभाल के'** जिसे संगीतबद्ध किया है हेमंत कुमार ने तथा मधुर कण्ठ से गाया है मोहम्मद रफ़ी ने। 1954 की दूसरी प्रसिद्ध फिल्म 'बूट पॉलिश' का एक बड़ा ही मधुर गीत है **'नन्हें-मुन्नें बच्चे तेरी मुट्ठी में क्या है'** - जिसे गाया था मोहम्मद रफी तथा आशा भोसले ने तथा शंकर जय किशन ने संगीतबद्ध किया था ये हर जाति, धर्म सम्प्रदाय के बच्चों का चर्चित गीत बन गया।

1957 में आई दिलीप कुमार की फिल्म **'नया दौर'** का प्रसिद्ध गीत है- **'ये देश है वीर जवानों का'** जो उर्जा, उत्साह, उमंग का ऐसा गीत बना आज भी विवाह जैसे मांगलिक अवसरों में 'बारात' के मध्य 'नाच' का गीत बन गया और लोग उसे हृदय से स्वीकार भी करते हैं। गाने को मोहम्मद रफी और बलबीर ने गाया था, साहिर लुधियानवी ने फिल्म के शब्द लिखे थे तथा इसका संगीत ओपी नैयर ने दिया था। वर्ष 1960 में ही एक फिल्म बनी **'जिस देश में गंगा बहती है'** इसका गीत अपने भारतवासियों की सहजता सरलता का बखान करता है-

होठों पे सच्चाई रहती है जहाँ

दिल में तन्हाई रहती है

हम उस देश के वासी हैं

जिस देश में गंगा बहती है।

इसको संगीतबद्ध किया था शंकर जय किशन ने तथा अपने मधुर कण्ठ से गाया मुकेश ने था।

'शहीद भगत सिंह' फिल्म भगत सिंह के योदगान को अविस्मरणीय बनाती है जिसमें उनके साथी राम प्रसाद बिस्मिल का लिखा गीत-

'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है

देखना है जोर कितना बाजू-ए-कातिल में है'

आज भी रोमांचित कर जाता है इसका संगीत प्रेम धवन ने दिया था तथा गाया मन्ना डे, मोहम्मद रफ़ी तथा पुरूषोत्तम मराठे ने था।

शहीद भगत सिंह फिल्म जगत के लोक प्रिय किरदार रहे जिन्हें मुख्य भूमिका में रखते हुए कई फिल्में आज तक में बनी है- 1954 में शहीदे आज़म भगत सिंह, 1963 में शहीद भगत सिंह, 1965 में शहीद। वर्ष 2002 में भगत सिंह र दो फिल्में बनी द लिजेंड ऑफ भगत सिंह, वर्ष 2006 में 'रंग दे बसन्ती' बनी इनमें देश भक्ति पूर्ण गाने रचे गये- 'सरफरोशी की तमन्ना' सभी में रखा गया। 23 मार्च 1931, शहीद भगत सिंह फिल्म वर्ष 2002 में बनी फिल्म में 'मेरा रंग दे बसंती चोला' - गीत जिसे लिखा समीर ने तथा संगीत ए. आर. रहमान का है बहुत प्रसिद्ध हुआ।

'ऐ मेरे प्यारे वतन' - ये गीत 1961 में आई बलराज साहनी की फिल्म काबुलीवाला का है प्रेम धवन ने इसकी शब्द रचना की थी गाने को संगीतबद्ध सलिल चौधरी ने किया था गाने को आवाज मन्ना डे ने दी थी ये गीत आज भी सुनते ही मन भावुक होकर देश भक्ति की भावना में डूब जाता है। बच्चों को नये भारत के सृजन की ओर आकृष्ट करता गीत **'छोड़ो कल की बातें'**- साल 1961 में आई फिल्म **'हम हिंदुस्तानी'** का है ये गाना आज भी लोगों के बीच काफी प्रसिद्ध है इस गीत को मुकेश ने अपनी आवाज दी थी तथा शब्द प्रेम धवन ने लिखे थे। इसी वर्ष में गंगा जमुना फिल्म आई जिसमें लोक संस्कृति का भरपूर दिग्दर्शन होता है इस फिल्म का एक गाना बहुत चर्चित हुआ जिसमें बच्चों को उनकी भूमिका के प्रति ध्यानकर्षण का भाव है -

इंसाफ की डगर पे बच्चों दिखाओ

चलके ये देश है तुम्हारा नेता

तुम्हीं हो कल के....

हेमंत कुमार के गाये गीत को शकील बदायूनी ने लिखा था तथा नौशाद ने संगीत बद्ध किया था। वर्ष 1961 में ही आचार्य चतुरसेन की उपन्यास पर आधारित फिल्म 'धरम पुत्र' के गीत थे **'किसका लहू है कौन मरा'** जिसके संगीतकार दत्ता नाईक थे साहिर लुधियानबी ने शब्द रचना की थी रोमांचक गीत है जो आत्मा को झकझोरता है इसी फिल्म में मोहम्मद रफ़ी तथा आशा भोसले ने मोहम्मद इकबाल के लिखे गीत **'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा'** को दत्ता नाईक के संगीत निर्देशन में अपनी आवाज दी।

1962 में आई फिल्म 'सन ऑफ इण्डिया' का एक गाना उस समय के बच्चों का प्रिय गीत बन गया था आज भी सुनकर मन मोहित हो जाता है बचपन में विद्यालय में इस गीत पर अभिनय करते हुए हम बड़े हुए **'नन्हा मुन्ना राही हूँ देश का सिपाही हूँ बोले मेरे संग जय हिंद'** - जिसे गाया था शान्ति मधुर और कोरस ने तथा संगीत दिया था नौशाद साहब ने। फिल्मों के साथ ही प्राईवेट गाने भी बहुत प्रचलित हुए। वर्ष 1963 में 6 जनवरी के दिन लता जी ने एक गाना गया -

ए मेरे वतन के लोगों तुम खूब लगाओं नारा

ये शुभ दिन है हम सबका लहराये तिरंगा प्यारा

इस गीत को कवि प्रदीप ने लिखा तथा संगीतबद्ध किया सी॰ रामचन्द्र ने जिसे गाया लता मंगेशकर ने था ये भी अपने समय का बहुत ही प्रचलित गीत रहा। 1964 में अपनी जान को हथेली पर लेकर चलने वाले स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के भावों को बड़े सुन्दर शब्दों में शकील बदांयूनी ने सजाया है -

'अपनी आजादी को हरगिज़ मिटा सकते नहीं,

सर कटा सकते हैं लेकिन सर झुका सकते नहीं'

जिसे उतने जोश से संगीतबद्ध किया है नौशाद ने तथा भावपूर्ण तरीके से गाया है मो. रफ़ी ने। **'कर चले हम फिदा-जान-ओ-तन साथियों'** ये गाना 1964 में रिलीज फिल्म **'हकीकत'** का है इस गाने को मोहम्मद रफी ने गाया था भारत-चीन युद्ध पर बनीं फिल्म का ये गीत आज भी लोगों की उस वेदना से साधारणीकृत करा देता है। जब हमारे जवान देश रक्षा के लिए प्राणों को खो रहे थे कर्तव्यनिष्ठा और परिवार को खोने का जो अर्न्तद्वन्द उनके शब्दों में, उनके चेहरे पर दिखाई दे रहा है उस वेदना को याद कर लोग आज भी भावुक हो जाते हैं। इस गीत को लिखा कैफी आज़मी ने था तथा गाया मोहम्मद रफी ने था जिसे संगीतबद्ध मोहन जी ने किया था।

वर्ष 1965 में हर युवा में जोश भरता एक गीत आया **'ए वतन ए वतन हमको तेरी कसम'**, जिसकी शब्द रचना तथा संगीत रचना प्रेम धवन जी की थी तथा उसे गाया मोहम्मद रफी ने था ये गीत अत्यन्त जोश पूर्ण है सुन्दर संगीत सभी में वीर रस का संचार कर देता है। इसी वर्ष की फिल्म **'सिकन्दर-ए-आज़म'** में अपने देश का गुणगान करते हुए एक गीत समस्त भारत वर्ष को उत्साह उमंग से भर देता है - **'जहाँ डाल डाल पर सोने की चिड़िया करती है बसेरा वो भारत देश है मेरा'** ये शब्द रचना थी। राजेन्द्र कृष्ण की तथा हंसराज बहल का संगीत व गाया मोहम्मद रफ़ी ने था।

1967 को आई फिल्म **'उपकार'** का गीत बहुत ही लोकप्रिय रहा **'मेरे देश की धरती सोना उगले-उगले हीरे मोती'** ग्राम्य संस्कृति का दिग्दर्शन कराते इस गीत को जोशीले अंदाज में गाया महेन्द्र कपूर ने तथा शब्द लिखे हैं इन्दीवर ने। ऐसी ही 1969 की लोकप्रिय फिल्म **'जिगरी दोस्त'** बनी जिसका गाना **'मेरे देश में पवन चले पुरवाई'** मुहम्मद रफी का बेहद सुरीला, खुशनुमा गीत है इसका संगीत लक्ष्मीकांत प्यारे लाल ने दिया इस गीत को लिखा आनन्द बक्शी ने था।

1970 **'हो दुल्हन चली हो पहन चली तीन रंग की चोली'** - पूरब और पश्चिम का सुमधुर गीत जिसे लिखा था इन्दीवर ने संगीतबद्ध कल्याण जी आनन्द जी ने तथा गाया महेन्द्र कपूर ने था ये गीत आज भी मन को मोह लेती है धीरे-धीरे गीत संगीत में परिवर्तन आया पाश्चात्य् संगीत, वेश विन्यास के मेल से तैयार फिल्म पूरब पश्चिम जिसका गीत- **'है प्रीत जहां की रीत सदा'** के भाव हैं दुनियाभर को हमारे देश ने क्या क्या दिया है, गीत की सुन्दर शब्द रचना इंदीवर जी ने की थी कल्याणजी-आनंदजी की जोड़ी ने इसकी धुन रची थी और महेंद्र कपूर ने अपनी सुरीली आवाज दी थी। इसी वर्ष फिल्म आई **'प्रेम पुजारी'** जिसमें मों. रफी तथा मन्ना डे का गाया गीत जोश भरता है **'ताकत वतन की हमसे है हिम्मत वतन की हमसे है'** बहुत लोकप्रिय हुआ जिसके शब्द नीरज ने लिखे तथा संगीतबद्ध एस. डी. बर्मन ने किया।

'दिल दिया है जान भी देंगे' - साल 1986 में दिलीप कुमार की फिल्म **'कर्मा'** का ये गाना अपनी शब्द रचना तथा सुन्दर संगीत रचना के कारण अत्यन्त मनमोहक है। इसे मोहम्मद अजीज और कविता कृष्णमूर्ति ने मधुरता से गाया था इस गाने को लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल ने संगीतबद्ध किया है।

अब 90 के दशक में अनेक फिल्में आईं जिनके गीत देशप्रेम को समर्पित थे, 1992 में रीलीज फिल्म रोज़ा शायद उस वर्ष की सबसे लोकप्रिय फिल्म रही। सुदृण पटकथा, उत्कृष्ट अभिनय के साथ ही ए. आर.

रहमान के संगीत निर्देशन में बंधे गीत हर उम्र वर्ग के लोगों की जुबान पर थे। सुब्रम्ण्यम् भारती की तमिल रचना का हिन्दी रूपान्तरण गीत **'भारत हमको ज़ान से प्यारा है'** आज भी सुनते ही मन भर आता है इसे गाया हरिहरन जी ने है। 1992 में फिल्म **'तहलका'** का गीत - **'ए भारत माँ तेरे चरनों में शीश चढ़ाने आए हैं'** आनन्द बक्शी ने लिखे हैं और इस गीत को आवाज दी थी मोहम्मद अजीज ने। **'कोयल कूके गीत सुनाये'** 1994 में **'दिल वाले दुल्हनियाँ ले जायेंगें'** इस फिल्म के इस गीत ने खासी प्रसिद्धी पायी इसकी शब्द रचना तथा गाया भी पामेला चोपड़ तथा मनप्रीत कौर ने, संगीतबद्ध जतिन ललित ने किया। फिल्म दिलजले वर्ष 1996 में बनी सफल फिल्मों में एक रही है। इसका गीत **'मेरा मुल्क मेरा देश'** देश भक्ति भावों से परिपूर्ण खूबसूरत गीत है जिसे गाया कुमार शानू और आदित्य नारायण ने, संगीतबद्ध अनु मलिक ने किया है और सुन्दर शब्द रचना जावेद अख्तर ने की है। **'संदेशे आते हैं'**- ये ऐसा गाना है जिसने भी 1997 बार्डर फिल्म देखी है उसने सुना उसकी आंखें नम हो गईं, इसका संगीत अनु मलिक ने दिया है गाने को सोनू निगम और रूप कुमार राठौर ने गाया है गाने के शब्द जावेद अख्तर ने लिखे हैं ये गाना हमारे जवानों के परिवार के भावों को बखूबी बयां करता है जिसे हम सुन कर, महसूस कर आज भी भावुक हो जाते हैं। इसी फिल्म का दूसरा गीत **'मेरे दुश्मन मेरे भाई'** अत्यन्त मार्मिक गीत है। इसे जावेद अख्तर ने लिखा तथा अनुमलिक ने संगीत रचना की इसे गाया हरिहरन ने है। **'मेरी जान हिन्दोस्तान'** जिसे शंकर महादेवन तथा सोनाली राठौर ने गाया था जिसके शब्द जावेद अख्तर ने लिखे तथा अनुमलिक ने संगीतबद्ध किया था। **'हिन्दुस्तान - मेरी आन, मेरी शान, मेरी जान'** गीत 1997 बार्डर फिल्म का है, अनुमलिक का संगीत है तथा शंकर महादेवन, सोनाली राठौर ने इसे गाया है। 1997 का ही एक दूसरा गाना भी सुपर हिट गया **'आय लव माय इण्डिया'** जिसे गाया शंकर महादेवन, हरिहरन, कविता कृष्णमूर्ति तथा आदित्य नारायण ने था यह गीत लोगों के मध्य अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। 1997 में बन्दे मातरम् गीत को नये आवरण में रचकर ए. आर. रहमाने लाया वो जन-जन में लोकप्रिय हुआ अनेक नवीन शब्द जोड़े तथा कम्पोजीशन भी नये कलेवर में रची-बनी थी।

यही परम्परा बड़ते हुए बीस के दशक में भी जारी रही वर्ष 2000 में रिलीज फिल्म **'फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी'** का गीत- **'हम लोगों को समझ सको तो समझो दिलवर जानी'** इसके गीतकार थे जावेद अख्तर, संगीतबद्ध किया जतिन-ललित ने तथा गाया उदित नारायण ने है। वर्ष 2002 में रीलीज फिल्म 'द लिजेन्ड ऑफ भगत सिंह' का गीत - **'देश मेरा देश मेरी जान है तू'** जिसके शब्द समीर ने लिखे तथा संगीत रचना एवं गाया ए. आर. रहमान ने है। **'मां तुझे सलाम'** - सुन्दर शब्द ओजपूर्ण गायन शैली में रचा ये अत्यन्त मनमोहक गीत जन-जन को अपने साथ गाने को प्रोत्साहित कर देता है। साल 2002 में आई सनी देओल की फिल्म **'मां तुझे सलाम'** के इस गाने का संगीत शंकर महादेवन ने दिया था साथ ही इसे गाया भी उन्होंने ही था। एक जैसी ही शब्द रचना से प्रारम्भ किया गीत आगे के पंक्तियों में जिसके शब्द बदल गये **'अब तुम्हारे हवाले वतन साथियों'** - ये गाना 2004 में आई फिल्म 'अब तुम्हारे हवाले वतन साथियों' का है गाने के शब्द समीर ने लिखे थे, इस गीत को संगीतबद्ध अनु मलिक ने किया था गाने को अलका याग्निक, कैलाश खेर, सोनू निगम और उदित नारायण ने गाया था। ये गीत आने वाली पीढ़ी को अपने दायित्व का बोध कराते हुए वीर सेनानियों की व्यथा-कथा को व्यक्त करने का भावुक प्रयास है। **'ये जो देश है मेरा'**- साल 2004 में निर्मित फिल्म **'स्वदेश'** का है जिसे सुखविंदर सिंह ने गाया है गाने के

बोल जावेद अख्तर ने लिखे हैं जो बहुत ही सुन्दर है जिसकी संगीत संरचना ए. आर. रहमान ने किया है। वर्ष 2004 देश भक्ति की भावना से ओत-प्रोत फिल्मों के लिए विशिष्ट रहा 'लक्ष्य', 'वीर जारा', 'अब तुम्हारे हवाले वतन साथियों' के गीत देश भक्ति की भावना से ओत-प्रोत रहे, लक्ष्य का गीत **'कन्धों से मिलते हैं कन्धे'** जिसे गाया शंकर, अहसान लॉय, सोनू निगम, हरिहरन, रूप कुमार राठौर ने तथा संगीतबद्ध किया था कुणालगांजी वाला ने और शब्द लिखें थे जावेद अख्तर ने। वर्ष 2004 में शाहरूख खान के द्वारा अभिनीत एक फिल्म बहुत ही लोकप्रिय रही **'वीर जारा'** इसका गीत संगीत बहुत ही समृद्ध रहा इसका एक गीत **'ऐसा देश है मेरा'** सुमधुर गीत है जिसके बोल जावेद अख्तर ने लिखा संजीव कोहली ने संगीतबद्ध किया तथा गाया लता जी, उदित नारायण, गुरूदासमान, पृथा मजुमदार ने था। 2006 में रिलीज़ **'फना'** फिल्म का गीत **'देश रंगीला'** को लिखा प्रसून जोशी तथा संगीत बद्ध जतिन ललित ने किया, बहुत ही खूबसूरत गीत को गाया महालक्ष्मी अय्यर ने है।

वर्ष 2016 की फिल्म **'चक दे इंडिया'** का टायटल सांग को आवाज सुखबिंदर सिंह ने दी तथा शब्द लिखे थे जयदीप सैनी ने तथा संगीतबद्ध सलीम-सुलेमान ने किया था। वर्ष 2018 सुप्रसिद्ध गीत रिलीज हुआ **'ये देश मेरी जान'** जिसे गाया शंकर महादेवन ने तथा शब्द रचना की आलोक श्रीवास्तव ने तथा संगीत दुश्यन्त ने दिया ये बहुत ही सुमधुरगीत था। वर्ष 2018 की फिल्म राजी में अरिजीत सिंह तथा सुनिधि चौहान का गाया गीत- **'ए वतन वतन मेरे आबाद रहे तू'** गीत गुलजार ने लिखा संगीतबद्ध शंकर अहसान लॉय ने किया इसने भी देशभक्ति की अलख जगायी। वर्ष 2019 फिल्म 'केसरी' का गीत - **'तेरी मिट्टी में मिल जावां'** जिसे मनोज मुन्तशिर ने लिखा तथा बी. प्राक ने गाया इसकी संगीत रचना अर्फो ने की। ये गीत भी पंजाब की माटी के वीर सपूतों की जिन्दा दिली को बयां करता खूबसूरत नगमा है।

वर्ष 2021 में बनी फिल्म 'शेरशाह' का एक गीत बहुचर्चित रहा **'जय हिंद जय हिंद की सेना'** - इस गीत को लिखा मनोज मुन्तशिर ने तथा संगीतबद्ध किया विक्रम मॉन्ट्रिस ने। इसी वर्ष में बनी फिल्म **'भुज'** का गीत **'देश मेरे तेरी शान पे सदके'** जिसे लिखा मनोज मुन्तशिर ने तथा अर्को ने संगीत संरचना की इस गीत को अपने मधुर कण्ठ से गाया अरिजीत सिंह ने।

जब देश भक्ति के लोकप्रिय गीतों की बात आती है तो **'हिंद देस के निवासी सभी जन एक हैं'** गीत सहसा जुबान पर आ जाता है ये किसी फिल्म विशेष से तो नहीं जुड़ा किन्तु लोकप्रिया के शिखर पर था कई वृत्तचित्रों में इसका प्रयोग हुआ है इसके शब्द रचनाकार थे बसन्त देसाई तथा संगीतबद्ध किया विनय चन्द्र मौदगल्य ने।

डॉ॰ मधु रानी शुक्ला

अनुक्रम

गान

1.	Tana Varana in Raga Balahamsa by Subbarama Dikshitar figured in Sangita Sampradaya Pradarshini	*Bindu J. R.*	3
2.	An Insight Into Nandanar Charitram of Gopalakrishna Bharati	*Dr. A.V.Sajini*	12
3.	इंदौर घराने के रूप में 'सुररंग', उस्ताद अमीर खां द्वारा एक नवीन खोज	*मनीष कुमार*	18
4.	'देवगंधर्व'- पंडित भास्कर बुवा बखले	*श्री प्रकाश पाण्डेय*	23
5.	शास्त्रीय संगीत में लोकसंगीत के तत्व	*दीपक कुमार यादव* *डॉ0 रशमिका मिश्रा*	28
6.	ठुमरी	*कविता तिवारी*	32
7.	Depiction and Celebration of Vasant Ritu in The Songs of Gurudev Rabindra Nath Tagore : An Overview	*Nibedita Shyam* *Prof. (Dr.) Sangeeta Pandit*	39
8.	Shabari – In Valmiki Ramayana and in Tyagaraja's Composition	*R. Nandhini* *Dr. V. Janaka Maya Devi*	44
9.	शास्त्रीय संगीत में बंदिशों का बदलता स्वरूप (पद्म विभूषण डॉ. प्रभा अत्रे द्वारा निर्मित तान प्रधान बंदिशों के विशेष संदर्भ में)	*डॉ. ममता रानी ठाकुर* *राम नारायण झा*	48
10.	श्रृंगार-परक बंदिशों में नायिका भेद	*कु॰ शालिनी* *प्रोफेसर रेवती साकलकर*	52
11.	मीरा बाई के पदों में संगीत	*प्रेरणा अग्रवाल*	57
12.	संगीत जगत में काशी के कतिपय युगल गायकों का योगदान	*अपर्णा पाण्डेय* *डॉ॰ श्वेता कुमारी*	62

13. उपशास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त रागों की व्यवहारिकता — *नीतू तिवारी*, *प्रो॰ शारदा वेलंकर* 67

आतोद्य

14. सितार वादन में सौन्दर्य बोध — *प्रो॰ बिरेन्द्रनाथ मिश्र* 73

15. Traditional Musical Instruments of Kashmir A Study — *Ishtaiq Ahmad Raina* 80

16. तत् वाद्यों में बेला का स्थान : एक अध्ययन — *खुश पॉल*, *डॉ. श्वेता कुमारी* 87

17. हारमोनियम की उत्पत्ति, उद्भव एवं विकास — *विक्की*, *डॉ॰ कुमार अम्बरीष चंचल* 92

नर्तन

18. The Interdependance of Dance & Architecture — *Dr. Parul Purohit Vats* 99

19. Transcendence of binary opposition between private and public sphere through feminine aesthetics in classical dance form — *Dr. Kanchana Goudar*, *Dr. Mangalagouri V. Manavade* 105

20. Impacts of Online Dance Education : Positives & Negatives. — *Dr. Charu Handa* 111

21. Dance and Gender Relations : A Study of Male and Female Interactions in Indian Classical Dance Classes — *Prof. Kusuma R.*, *Dr. Shridevi Aloor*, *Laxmi Balkrishnan* 116

22. Coins in Motion : Numismatic Representations of Dance in Religion, Commemoration & Cultural Identity — *Simer Preet Sokhi* 122

23. The Growth of Indian Classical Dance Over the Years : A Comparative Study between Bharatanâtyam and Kathak — *Prabin Villareesh*, *Dr. S. Bhuvaneswari* 130

24. Symbolism and Gestures in Bharatanâtyam : An Analysis of Mudrâs — *Prabin Villareesh*, *Dr. S. Bhuvaneswari* 135

25. ''संगीत में कथक नृत्य साधना में मन्दिरों की आवश्यकता'' — *कविता तिवारी* 140

26. साहित्य और नृत्य — *प्रेरणा अग्रवाल* 145

27. कथक नृत्य के साथ विभिन्न गायन शैलियों का प्रयोग — *डॉ॰ ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय, स्नेहा सिंह* 151

थाती

28. Culture of Punjab : Music, Dance, Fairs and Festivals — *Dr. Harjinder Kaur Sandhu* 159

29. राजस्थानी कालबेलिया और लोकनृत्य परंपरा — *डॉ॰ हर्षा त्रिवेदी* 166

30. उत्तर बंगाल के लोकनाट्यों में संगीत पूंज — *डॉ॰ जयंत कुमार बर्मन* 172

31. अवध की सोज़ख़्वानी परम्परा और संगीत — *डॉ॰ निष्ठा शर्मा* 178

32. छत्तीसगढ़ी का समृद्ध लोकसाहित्य — *डॉ॰ सरोज चक्रधर* 182

33. इक्कीसवीं सदी में भोजपुरी की गीत परंपरा : अश्लील और श्लील का परिदृश्य — *डॉ॰ धीरेंद्र प्रताप सिंह* 188

34. उत्तराखण्ड के लोकगीतों में देवलोक व जनलोक सम्बन्ध : एक अवलोकन — *डॉ॰ अर्चना डिमरी* 193

35. पूर्वांचल क्षेत्र में पत्यायुष्य अभिवर्धन निमित व्रत एवं कथाएं:एक परिचय — *विदुषी जायसवाल, डॉ॰ रंजना उपाध्याय* 198

अंकन

36. चित्रकार ए रामचंद्रन की कृतियों में महाकवि कालिदास के प्रकृति प्रेम का प्रभाव — *मिठाई लाल राज कुमार सिंह* 205

37. उत्तर प्रदेश की समसामयिक चित्रकला एक अध्ययन — *प्रियंका सिंह, डॉ॰ रवीश कुमार* 211

38. Mahavidyas : The Changing Mood in Visual Presentation — *Kartik Tripathi* 216

39. झांसी और दतिया के गोसाई सन्यासियों के मंदिरों की भित्ति चित्रकला एवं मूर्तिकला का अध्ययन — *माधवी निराला, डॉ॰ श्वेता पाण्डे* 222

40. मध्यकालीन साहित्य में चित्रात्मक रामकथा के दर्शन — *क्षमा द्विवेदी* 228

41. Socio-cultural and technical aspects of being miniature: *Prosenjit Raha*
With the reference to Kangra miniature paintings *Prof. Him Chatterjee*
Dr. Ritwij Bhawmik 232

42. दतिया की छतरियों में चित्रित राधा-कृष्ण के चित्रों का अध्ययन *बृजेश पाल*
डॉ॰ श्वेता पाण्डेय 238

सौन्दर्य

43. सौंदर्यशास्त्र की सांगीतिक संकल्पना *बबलू कुमार 'केतन'*
डॉ॰ सुरेंद्र कुमार 247

44. संगीत में सौन्दर्य *प्रियांशु घोष*
डा॰ रेवती साकलकर 254

45. नाट्य मंचन में संगीत के कलात्मक सौंदर्य का महत्व *हरकमलप्रीत सिंह*
डॉ॰ सर्वजीत कौर 257

प्रकीर्णक

46. बोध कथा *श्री शैलेन्द्र कपिल* 263

47. हिंदी कविता एवं नाटक विधा के विकास में अनुवाद की भूमिका *डॉ॰ अनुराधा पाण्डेय* 265

48. कबीर की आलोचनाओं का पुनर्पाठ *डॉ॰ मनीष कुमार मिश्रा* 270

49. संगीत का मनोवैज्ञानिक पक्ष एक अवलोकन *डॉ॰ शोभित कुमार नाहर* 275

50. संगीत एवं धर्म का अंतर्संबंध (भारतीय संगीत के सन्दर्भ में) *डॉ॰ शिल्पी नाहर* 278

51. The Role of Music in Physical & Mental Health *Manpreet Kaur* 281

52. लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत का अंतर्संबंध *हनुमान प्रसाद गुप्ता* 285

53. 'पंकिल' के काव्य में संगीत-तत्व *आमोद प्रकाश चतुर्वेदी* 290

54. विभिन्नी शास्त्राग्रंथों में वर्णित कलाकार एवं भावक : *डॉ॰ अभिनव नारायण आचार्य*
एक लाक्षणिक विश्लेषण *डॉ॰ संगीता पंडित* 297

55. Recording to Mixing : Exploring the Evolving Field *Madhavi C. Mohan*
of Music Production in the Digital Age *Dr. A.V Sajini* 304

56. कथाओं व संगीत का अंतर्संबंध : एक अध्ययन *अशेष नारायण मिश्रा* 308

57.	काशी के कतिपय प्रमुख सांगीतिक समारोह	*संदीप मुखर्जी* *डॉ॰ कुमार अम्बरीष चंचल*	311
58.	संगीत का मनोवैज्ञानिक प्रभाव : एक चिन्तन	*विनय कुमार* *डॉ॰ के॰ ए॰ चंचल*	315
59.	A Study of Devadasi System in Travancore	*K. S. AKILASHRI* *Dr. T. N. SUSEELA*	320
60.	Traversing Through The Regional Variations In The Ritualistic Performance of Kuthiyottam	*Gadha T. R.* *Rajalekshmi P.* *Dr. Krishnajamol K.*	323
61.	ग्वालियर घराने के ख्याल गायन शैली : वर्तमान समय में हुए बदलावों के परिप्रेक्ष्य में	*प्रियंका सहवाल*	334
62.	साहित्य संस्कृति व राजनीति	*डॉ॰ रूचि मिश्रा*	337
63.	महाकवि भास प्रणीत उरुभंग व्यायोग का साहित्यिक अनुशीलन	*अतुल खजूरिया*	341
64.	आत्मोत्थान में सहायक संगीत	*कृष्ण कुमार तिवारी*	349
65.	Piyali Sadhukhan's Broken Bangle Collages	*Piyali Sadhukhan* *Harshika Maan* *Anjali Duhan Gulia*	353

गान

Tana Varana in Raga Balahamsa by Subbarama Dikshitar figured in Sangita Sampradaya Pradarshini

Bindu J. R.
Assistant Professor, Department of Music,
Avinashilingam Institute for Home Science and
Higher Education for Women, Coimbatore

Abstract

Carnatic Music is rich in its Musical forms and has a highly developed zone in Sruti, Tala, Instruments, Composers etc. Musical forms, as they come under the category of Kalpita Sangita, play a vital role in developing the awareness of various ragas and talas which are the backbone of our music. Moreover these compositions also help to develop the knowledge in improvisation (manodharma), which is the cardinal part of concert music.

'Varnam' in Carnatic Music is a dominant composition set in a particular raga and tala. According to Prof. Sambamurthy, Varnam is a scholarly composition1 and hence it can only be composed by those who acquired thorough knowledge in that particular raga. SubbaramaDikshitar is such a scholar who has composed many varnas.

This article analyses a Tana varnam composed by SubbaramaDikshitar in raga Balahamsa.

Key Words

Tana varnam, Balahamsa, Svara, Sanchara, SubbaramaDikshitar, Sangita

Introduction :

The Lakshanagrandhas play a commanding role in music as the system of music in various periods is mirrored in them. SubbaramaDikshitar is a musicologist (Lakashanakara) as well as Composer (Vaggeyakara). The importance of 'Sangita Sampradaya Pradarshini' (SSP) is that it comprises both theoretical and practical aspects. It is the 'Pradarsini' (exhibitioner) of 'Sangita Samprdaya' (music tradition) which connects with the tradition.

The preliminary musical forms such as basic Svara exercises, Gitam, Jati svaram, Svarajati, Varnam etc. are helpful in developing basic knowledge in various aspects of music. The ultimate aim of learning these is to gain mastery in ragas and talas for their presentation through

concert. A vocalist gets good training in voice and an instrumentalist gets techniques for playing. Among the above said musical forms, Varnam is the major one and hence practicing varnam is a routine for both vocalists and instrumentalists.

Varnam :

Varnam in Carnatic Music is an important form that demonstrates different facets of a raga in particular tala with a meaningful sahitya. This musical form came into existence from the 17th -19th centuries. It evolved from the musical forms like Thaya, Prabandha etc. which were in vogue during the medieval period.

Varnam is a combination of Gitam, Jatisvaram and Svarajati. It contains the cream of a raga which prepares a student to learn advanced forms like kriti. The first part consists of lots of vowel extensions and the other part ettugadapallavi and svaras resembles jatisvram or svarajati. The theme of a varnam may be devotional, love or in praise of a patron.

There are two types of varnam :

1. Tanavarnam :

Tana varnam is usually sung/ performed at the beginning of a concert. It follows the tana pattern and hence the name. Since the sahitya (lyric) is more based on raga bhava, hence a lot of vowel extensions can be seen.

1.1 Structure :

A Tanavarnam has two parts (angas):

- Purvanga
- Utharanga

Pallavi, Anupallavi and Muktayisvaram are the part of purvanga, whereas Charana (ettugadapallavi) and charanasvaras are the part of Utharanga.

Sahitya is present for pallavi and Anupallavi in purvanga, and for Charana in utharanga. The Mukthayisvara and Charanasvaras have only svaras. The talas used are Adi tala, Ata tala and rarely in Jhampatala,Rupaka etc.[2]

1.2 Ganakrama (singing method) :

The pallavi, anupallavi and muktayisvara are sung continuously and the first part of pallavi repeats as conclusion of purvanga. The second part starts with ettugadapallavi and the charanasvaras render in the sequential order. After each svara, the charana repeats and concludes with itself.

1.3 Composers :

Some of the prominent composers of Tanavarnams are Pachchimiriyam Adiyappayya, Sonti Venkatsubbayya, Syama Sastri, Swati Tirunal, Patnam Subrahmanya Iyer, Ramanadapuram Srinivasa Iyengar and Mysore Vasudevachar.

2. Padavarnam :

Chaukavarnam is the other name of Pada varnam. It is in slow tempo (vilambita kala) and the whole varnam has sahitya. Most of the Padavarnas are in Adi tala. It is mainly used in dance performances.

2.1 Structure :

A Padavarnam also has two parts (angas):

- Purvanga
- Utharanga

The structure of Padavarm resembles Tanavarnam. In purvanga, the muktayisvara has sahitya. The Charanasvaras of Utharanga also have sahitya. Solkattu are also seen in this.

2.2 Ganakrama (singing method) :

In Padavarnam, the sahitya of pallavi, and anupallavi will be followed by muktayisvara continuously. The sahitya of Muktayisvara comes immediately after the Muktayisvara part. Utharanga starts with ettugadapallavi. The charanasvaras and their sahityas render in the sequential order. This concludes by repeating the ettugadapallvi.

2.3 Composers :

Govindaramayya, Ramaswami Dikshitar, Muthuswamy Dikshitar, Patnam Subramanya Iyer, Swati Tirunal, RangaswamyNattuvanar, Mysore Sada Siva Rao, Ponnaiyya Pillai and Subbarama Dikshitar are some of the popular Padavarnam composers.

Controversy of Balahamsa Tanavarna:

- In SSP, all the parts of Tanavarnas are having sahitya.
- It has been given as 'Padavarnam' by T. K Govinda Rao in his 'Varnasagarm', a work on Varnas with notations[3].
- S. R Janakiraman, Carnatic Musicologist and Performer, didn't sing sahitya for Muktayisvara and Charanasvaras. It is available on YouTube.

While listening to the rendition of S. R Janakiraman, the tempo and the pattern are in Tanavarna style only. For Padavarnam, the tempo must be in chowka kala rather than madhyama kala.

The scholar wants to include it in the category of Tanavarnam. But the analyses have been done for the sahitya part of Muktayisvara as well as Charanasvaras, due to the beauty of the sahitya. So the analyses are made wantedly as per given in SSP.

Analyses of Balahamsa Tanavarna :

Balahamsa as the name indicates, is a vibrant raga in Carnatic Music. It is closely related to Raag Champak of Hindustani Music. This raga became popular from the period of Tyagaraja. The Tanavarnam composed by Subbarama Dikshitar in this raga is in praise of the ruler of Ramanathapuram Bhaskara Sethupathi in Ata tala. It is in Sanskrit language.

To analyse the composition, the Lakshana of that raga has to be understood.

Raga lakshana of Balahamsa (as per SSP)[4]

balahamsakhyaragoyamarohe ca nivarjitah|

sagrahahsarvakalesugiyategayakottamaih||

-Venkatamakhi

Arohana : S R2 G3 M P D2 S

Avarohana : S N2 D2 P M G3 R2 S

According to the sloka, Balahamsa is a shadava, sampuma raga. Nishada is varjya in the arohana; shadja is graha; Upanga raga; It can be sung at any time.

Rishabha is both jivasvara and nyasasvara. This raga has limited scope for improvisation.

The viseshaprayogas include,

R p,m r; s r g m p m r; s n p d p m r; d s r m g r; r s n d p d s r R

Structure of BalahamsaVarnam :

The Angas of the varna:

- Pallavi,
- Anupallavi,
- Muktayisvaram with sahitya
- Charanam and
- Charanasvaras with sahitya (total – 6 nos.)

The speciality noted is that, the whole angas of the varna including Muktayisvara and charanasvaras consist of sahitya (lyrics).

Since it is an article based on analysis, it is necessary to give the varnam with notation.

Dhatu Analysis

Dhatu means thesvara part of the composition. SubbaramaDikshitar described this raga very intricately so that one can enjoy the essence of the raga. Though it is a minor raga, he portrayed beautiful phrases in such a way which reveals his deep knowledge in that raga. Even though the Arohana shows the Gandhara comes as 's r g m p d s', most of the phrases come as 's r m '. For eg:

Pallavi	P d s r m g;	s r m p d p ṡ;	r P m r
Anupallavi	S s r m g R;	d s r m g ;	ṡ ṙ ṁ ġ ġ ṙ

- Dhattusvara are used in plenty. The speciality of DhattuSvara is its jumping notes which provides an energising effect. Besides employing dhattusvaras profusely gives the feel of proud gracefulness of the king.

Pallavi	M p d p ṡ; p ṙ ṡ n p; r P m r
Anupallavi	p p s s p p m r; r g s ġ ṙ
Charana	d s r p; p d p ṡ; p d p ṙ ṡ;
Charanasvara	R Ḍ S R Ṗ ḍ s; p d p ṙ; m r s r P; P ṡ ṡ n P

- Extensive use of Janta svara patterns are seen. The speciality of Janta svara is the twin notes which gives stress on the second svara. This generous usage adds crispness to the composition and correctly suits the theme.

Anupallavi	p p s s; p p m r; p p m g
Second charanasvara	P d p p m m g g; R RP dd s
Fifth charanasvara	S s r ṙp p dd; s s r r m m g g r r; m m g g r r s r; s s s r ṁ g g
Sixth charanasvara	R rṆ ṇ Ḍ ḍ; r r m g g

- To coin any musical setting, a speciality must be shown by the composer. On the other hand, each composer tries to establish his/her abilities to portray knowledge. The uniqueness of the composer is stamped throughout this varnam, which amazes the researchers.

To cite an example for the above statement, is the third charanasvara. In this svara, each phrase ends with the Adharashadja. While rendering this third charanasvara, one can feel the ultimate sruti or nada that touches the soul. Music is the power of God. The Adharashadja that often comes gives the feeling of touching the feet of God again and again. The phrases are so beautifully crafted that, like shadja being '*avikruta'(permanent),* practicing such kinds of compositions purifies the mind and soul, that is the power of music.

Again the phrase of fourth charanasvara which is shaped with Panchamandyasancharas, is also very soothing to listen to. The sound of Panchama is connected with the sound of Cuckoo and all the phrases in this charanasvaras are made with viseshasancharas may be the reason for the soothing effect. Example is given below :

Third charanasvarasancharas	p d p m g r S; p m r s r g S; n dnp d dS; s r s p m r S;
Fourth charanasvarasancharas	p d pm r s r P; m r s r g sP; dp d s n dP; d s r g m r P;

- Fifth charanasvara is made in the Sarva laghu (without deerghasvara) pattern which gives a cheerful feeling, though it is comparatively tough.

m p d p- p m m r - s r g r - s s r r - ppd - d s s r r m m g g r r - m p d - p dp - p m m g ...

It can be analyzed that each charanasvaras are fabriated in various formats that expose the higher level of creativity. The researcher can only give very few examples which in itself are overloaded with the knowledge of the composer.

Matu Analysis :

Matu is the sahitya part. The sahitya is beautified with rhetorical features.

The lyrics of the Varna is in honour of BhaskaraSetupati, the ruler of Ramanathapuram, Tamilnadu. The commencing word itself is 'Sri Rajadhi raja sannuta Maharaja' which shows the elegance of the king. The adjectives of the king such as '*Ramanadapadambhoja, rajeswarikrupapatra, sarvabhauma*,' etc. are provided in the sahitya on one hand, whereas the adjectives *deenajanapalana, gunakara, krupalaya* etc, are used in the other. This signifies the pride, grace, compassion and diversified acceptance of the king. The king is '*Rajadhiraja'* and at the same time he is *krupalaya* also. This varied quality may be the reason to represent him as '*Sarvabhauma'*, which means '*Chakravartin'* or '*universal monarch'*. The name of the king 'Bhaskara Setupati' is encompassed in the sahitya. Since tribute to the king is the theme of the varna and Subbarama Dikshitar successfully did it by using the most suitable words/adjectives of the King.

The use of decorative angas enhance the beauty of the varna. Svarakashara with its different types, Prasa, Yati etc. are incorporated in a manner which reflects his intellect.

- **Svarakshara :**

It is a Dhatu-Matu Alankara[5]. The svara and sahiya syllables come identical or like-sounding. It may be Suddha , Suchita or Misra Svarakshara.

Svarakshara :	m g [**r**] g; ds [**r**] m; (Pallavi)
Suchita	sri - [**ra**] - - ta - [**sri**] -
Suddha	m g [**R**] m p d [**p**] M; (Anupallavi)
	sva - [**ri**] - - - kru - [**pa**] -
Misra	[**r**] - s r; m p [**d**] - p s (Charana)
	[ri] - - - nna - [di] - -
Misra	**mrS** (Muktayisvara) **marasa**

- **Yati :**

Yati is also a Dhatu-Matualankara. It is based on different pattens of svara and sahitya phrases. There are different kinds such as mrudangaYati, DamaruYati, SrotovahaYati, GopucchaYati etc. These names indicate the pattern of phrases.

Yati (Srotovaha) :	r s - p m r S - d p m g r g S - s p d n p m r g S (Thirdcharanasvara)
	P d p - m r s r P - m r s r g s P (Fourth charanasvara)

- **Prasa :**

Prasa means the rhyming word. It comes in the sahitya part only. The prasa may come in the first, second or the ending words. The name of the prasa comes accordingly like, DvitiyaksharaPrasa, AntyaPrasa and so on. When the prasa word repeats within the same line of sahitya itself, it is called as Anu prasa.

Some are illustrated here:

Aadyaprasa	**Sri raja**dhi raja
	Sri rajaraswari (prasa between pallavi and anupallavi)
	Maha**raja**
Antyaprasa	Padaam**bhoja** (pallavi)
	Sudh**indra**
	Deve**ndra** (Anupallavi)

In the third charanasvara, outstanding suddhasvaraksharaprayoga is seen. It also comes as Anuprasa, which expresses both *svaragnana* and *pada gnana* of the composer:

P d p m g r **S**	p m r s r g	**S**ndnp d d**S**	s r s p m r **S**	d p m g r g **S**
Alukavaladu**sa**majagamanaku**sa**tilatagaladu**sa**rasasarudunu**sa**hasamunasuma**as**a				

It is evident from the phrases that the composer describes all the ranjakaprayogas and viseshasancharas of Balahamsa in this varna. The essence of the raga is fully filled in it.

Gamaka Patterns :

The individuality of SSP is that SubbaramaDikshitar has given the notations with gamaka symbols. He described the Dasavidhagamakas with symbols in detail in the theory part of SSP and has applied signs at the particular place. In this varnam he displayed a few of them. Some are illustrated here as examples:

a) ***Spurita*** : It is the stress given to the second note in a jantasvara combination in arohana. The shade of the lower note below the stressed svara comes as anusvara. In pallavi:

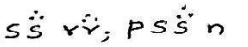

b) ***Pratyahata***: It is the spurita in the descending order. Here the higher note comes as anusvara. It is already mentioned earlier that the treatment of jantasvaras enhance the brittle and crunchy feeling for the listener. Eg:

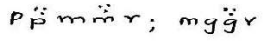

c) ***Tirupa***: One time hitting of the svara. It is also known as '*Nokku'*. It is aptly used in the places where thrust is needed. For eg: In the phrase -

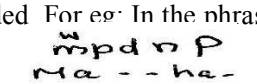

The nokkugamaka is applied for ma, where the word 'Maharaja' starts. Similarly, he very intelligently used this gamaka for giving a special 'push' to a word.

d) ***Ullasita***: It is also called '*Jaru'*. It is of two kinds, *Ekku*jaru and *Diggu*jaru.

- ***Ekkujaru*** – upward gliding of a svara. The in-between svaras will be in shade.

  Eg: - R/m g g; d s r / p; r / p m r / d p

- ***Diggujaru*** –downward gliding in avarohana

  Eg:- p m r\S; s s n\P; r g \ s; s s \ P p

This gamaka is more used than the others. In some ragas like Sahana, Kedaragaula, Begada etc. Jarugamaka is indispensable to depict its 'Svarupa' (character) and so both the variety of Jaru used lengthily in the varnam.

Musical excellence :

Even though Balahamsa is a powerful raga like kambhoji (its arohana – avarohana resembles Kambhoji and janyas of the same parent raga), it is not that much popular. SubbaramaDikshitar explained all the possible sancharas in this Varna.

The apt synchronisation of svara with sahitya can be seen in many places. Some are here:

- P d p M r

Kru - pa—; depicted the karuna here. (Anupallavi- Sri raja rajeswarikrupapatra)

- N p d s R s r /m g g r s r g s r s n p d / n p

Sri - - - bha –ska ra- se - - - - - - - - tu –pa - -ti -; here the svarasancha is appropriately placed in a higher octave where the name of the king is given in the sahitya.

- Pleasing phrases like - R m p d p S – n p d n P – m r s r S/ d d p r (second charanasvara); M g R – m g R g / S – s p s s /P p – m g r (sixth charanasvara).

It can be seen that the usage of s r m g r; s r p m r; s r m p m g r; s r g s; r g s r d s are more beautiful than s r g m; or m g r s. It seems SubbaramaDikshitar followed the path of Muthuswami Dikshitar for the sancharas which is evident from the kriti of the latter where same kind of sancharas are seen (guruguhadanyamnaja in Jhampa tala).

By analysing the varnam, the following points are noted:

- The structure of the varna is different from the normal pattern of Tanavarnam.
- Deerghasvaras are comparatively few.
- Usually in Tanavarnam, the first charanasvara is with more elongated svaras; but in this varna, it is not.
- The last charanasvara starts with a long svara in varnas, for eg: s ,;; n,; d (Ata tala Tanavarnam in Kambhoji raga). Unlike in this Varna the sixth charanasvara starts as:

  P, D p m r P m r S r g S…

- It is mentioned in the ending of the Varna that, after finishing the Svara sahitya, the pallavi should be repeated. It is not like that in the normal case, the Tanavarnam ends by the Charana itself.
- The signature (Mudra) of the composer 'guruguha' is seen in the sahitya of sixth charanasvara.
- The gamakas are used appropriately with the meaning of the words. The gamaka symbols help one to sing it easily and can recognize the way it was rendered at that time.

Conclusion :

Balahamsa , janya of Harikedaragaula of Dikshitar school is exposed in an excellent way by SubbaramaDikshitar through this Varna. Since varna is a scholarly composition, composing varna in such a raga shows that Subbarama Dikshitar is really a musical genius. There are more than 50 kritis in this raga. Though it is a catchy raga, it needs a bit of attention. The lack of deerghasvaras , increases the difficulty in rendering the composition, but the prayogas (application) of svaras projects the power of the king. The quickness in tempo signifies the energetic King and also keeps the liveliness throughout. It emphasises the fact that composing a Varnam is not a simple task and SubbaramaDikshitar proved through this Composition that he is an 'UtthamaVaggeyakara' who upholds the proud lineage of Dikshitar family. It is impossible to condense all the beauty conveyed by this composition into a single article.

References:

1. Sambamurthy P, (2001); South Indian Music Book III; Chennai, Tamilnadu; The Indian Music Publishing House; pg.126.
2. R.N.Sreelatha et.al.,(2019) Carnatic music Secondary level course; Noida, U.P; National Institute of Open Schooling; Pg. 55.
3. Govinda Rao T. K, (2006); Varnasagaram, Music series VII; Chennai, Tamilnadu; Ganamandir Publications
4. SubbaramaDikshita (2008); Sangita Sampradaya Pradarshini; English (web) version, vol II; pg.648.

An Insight Into Nandanar Charitram of Gopalakrishna Bharati

Dr. A. V. Sajini
Assistant Professor,
Department of Music,
Avinashilingam Institute of Home Science and
Higher Education for Women, Coimbatore, Tamil Nadu.

Abstract

Nandanar Charitram written by Gopalakrishna Bharati, has a very prominent role among the operas of South India. This work, aims to understand Nandanar Charitram, as an opera, and to bring few of its heart touching composition into light. Through this, we can understand Gopalakrishna Bharati's excellence as a composer. Apart from kritis, he has used different forms of compositions in this opera. His mastery over raga, tala and language can be seen here. This work also tries to reach out Nandanar Charitram among the music lovers.

Keywords

Nandanar, Gopalakrishna Bharati, Opera, Composer, Chidambaram, Tillai

Introduction :

India, rich in its tradition of art and culture, played a very important role in the lives of people in India. Indian music is a part of Indian culture. Music as all other arts, is the creation of man, which has evolved through many centuries. Around 14th century, Indian music got divided into two parts, Carnatic music, and Hindustani music. Both has undertaken many transitions with the changing times and conditions of human life. There was a time when Carnatic music was understood by the common man as rigid, fixed kind singing, using intricate gamakas and talas. Ancient music which has roots to vedas, was developed by our ancient saints with religious motifs, also to attain salvation or to unite jeevatma to paramatma. For the common man, the true purpose of music lies in its power to stir our emotions and to entertain mankind. Our ancient composers, have blessed us with a rich legacy of thousands and thousands of compositions in Tamil, Kannada, Telugu, Sanskrit, Manipravalam, Malayalam etc. But it is also a matter of regret that the modes and styles of many composers and artists, accounts of their life, many compositions in its original raga and talas used, have not been preserved in its pristine forms. Apart from these compositions, there are different types of musical forms in Folk music, Sacred

music, Dance music, Light music, Opera music, Kathakalakshepam music, Yakashgana etc. These musical forms have equal importance among rich ragas and forms of Carnatic music.

Keeping these forms aside, Operas scored a very prominent role in Carnatic music. An opera is an art form where music and sahityam played equal role. It is also called Geyanatakam or musical drama, or Isainatakam, drama to be sung. These forms usually have, songs, verses, prose and passages, both directly and indirectly. South Indian type of Opera is very different from Western Operas. South Indian Opera is not just a drama set to music. Here music plays a pivotal role and acts as a powerful weapon on several dramatic situations. Here, all types of compositions from simplest folk melodies to majestic compositions, gets a chance to shine through Opera. One can come across with slow, medium, fast tempo music and songs according to the situation and the story of the dance drama or opera demands. Sometimes it may be solo songs or group music or instrumental music suggestive of different rasas and emotions. The stage settings and dramatic presentations of geyanataka made it one of the favourite entertainments for the people.

Krishna Leela Tarangini of Narayana Thirthar in Sanskrit, Prahlada Bhakti Vijayam and Nowka Charitam of Tyagaraja in Telugu has certainly enriched Carnatic music and literature. Arunachala Kavirayar's Ramanatakam is said to be the first Tamil opera which belongs to the 16th century. Then comes Nandanar Charith Ram of Gopalakrishna Bharati. Gopalakrishna Bharati is hailed as the father of Tamil opera. This opera throws light into the underprivileged and backward castes of the society that prevailed in during Bharati's time. The Pulayars, Parayars are some of the large backward communities. These lower-class sections of people were considered as untouchables and outcaste. These people were denied all the facilities of the society which other upper-class people enjoyed. They have been subjected to all kind of exploitations by the upper-class people. For many centuries they have been kept under the very bottom of the social ladder. This must be one of the reasons that trigged Gopalakrishna Bharati to pen down this beautiful and heart touching dance drama. Barring Sekkizhar's Periyapuranam, there was no much mention of Nandanar anywhere in detail. It was Bharati who brought out the magnificent opera into light.

Insight into Nandanar Charitham :

Nandanar Charithram of Gopalakrishna Bharati, is a tamil opera composed during the 18th century. This story is about a dalit farm worker and servant, Nandanar alias Thirunalai Povar is an ardent devotee of Lord Shiva, who lived around 8th century. His only ambition in life was to enter the Shiva temple at Chidambaram and worship the Lord. Dalits were strictly denied entry into temples. Nandanar is one among the 63 Nayanmaars of Shiva.

It is said that Athanoor was the native place of Thirunalai Povar who being an outcaste, was supressed in the society. Nandanar and his caste people, lived in a colony in the outskirts of Athanoor. These group of people who belonged to this caste, did jobs dealing with the carcasses of animals, they served landlords etc. These people loved to live together in crowded colonies or slums where pigs,

puppies, dogs, poultry and children roamed together as a same homeland, loving and giving company to each other. During the evening men and women drank toddy and danced together to the beats of drums. There are beautiful references in Sekkizhar's Periya Puranam which gives a dramatic vision of the life in these slums. In between the wretched surroundings, lived a strange and different person, Nandanar. His life was only filled with extreme devotion to the feet of Lord Shiva. Though he too had to follow the same profession of dealing with carcasses of animals, he transformed his profession to the service of God by providing drums made of skins of animals, strings for the instrument, the fragment gorochana (made from the abdomen of a cow, used in temples for worshiping) and other percussion instruments used in the temples. He carried his profession with utmost sincerity and always stood outside the temple gates for having one glimpses of the Lord. He used to sing and dance with ecstasy getting a glimpse. After his temple duties, he would work under a landlord, who would never give him leave to go and visit his Lord. Throughout his life he had a great desire to worship Tillai Chidambaram temple. He would always console himself saying "Tomorrow I will go there". For that reason, he was called Thirunalai Povar. Later people even forgot his original name. There is also a story connected to Shivalokanathar temple at Thirupunkur, where Lord Shiva himself asked Nandi the Bull, to move aside as Nandi was obstructing the view of Nandanar, the staunch devotee of Lord Shiva, as he was standing outside the gate for his Lord's darshan. Nandanar travelled from shrine to shrine worshiping his Lord. One day he decided to set his journey to see the Kanaka Sabhapati of Tillai Chidambaram temple. He asked permission from his master to go to Chidambaram. As usual his master refused and told to take care of sowing the seeds and harvest related work in paddy field. It is believed that Lord Shiva's Buthaganas worked over night and made the fields ready for harvesting the very next day. Shocked by the miracle, finally believing Nandanar's bhakti towards Lord Shiva, the master gave him permission to go and visit Chidambaram. He is finally set to visit his Lord. Sekkizhar beautifully describes this incident in his work. He says, after reaching the boarder of Tillai, Nandanar saw a cloud of fire and smoke approaching him and could hear the chants of Vedas. Suddenly remembering his lower birth, he dints step ahead and decided not to move further. He realised it would be difficult for him to enter the city and made a clockwise tour of the outskirts of Tillai. Day and night passed rounding the outskirts of Tillai, in dilemma of ever being able to worship the Lord of Tillai. One night, not able to withstand the grief of not able to see his Lord who resides in Tillai Chidambaram, he went to sleep, cursing himself of his low birth that gave his so much of trouble even from entering the holy land of Tillai. It is said that Lord of Tillai Chidambaram temple came to know Nandanar's state of my mind, decided to put an end to his sufferings. Lord appeared in Nandanar's dreams and advised him to get rid of this birth by entering the fire pit arranged for him for his salvation. At the same time Lord appeared in the dreams of the Brahmans priests in the temple, The Tillai Dikshtars and ordered them to prepare a fire pit for Nandanar. Brahmans out of fear, obeyed Lord Shiva's instructions,

prepared the fire pit. After all the preparations, the Dikshtars informed Nandanar. He entered the fire pit with folded arms, praying to the Lord. It is said that the moment Nandanar entered the fire pit, he lost his present form and emerged as a great muni with the white shining thread on his body. The priest brought Nandanar, with full honor into the Kanaka Sabha, where he had the darshan of the dancing beauty. It is said that after entering the Golden Hall nobody ever saw Nandanar. It is believed that Saint Nandanar, attained Mukti at the feet of Lord at Tillai Chidambaram temple.

Nandanar Charithram, composed by Gopalakrishna Bharati, in the form of Opera consists of many compositions and several musical forms like chidambara-kummi, gnanakummi, vachakam etc. This majestic work of Bharati, portrays the urge of jeevatma to merge its identity into paramatma. He gives a massage that to reach the feet of Lord one has to be in the purest form of bhakti without kama, krodha, lobha, moha, mada and matsarya. He conveys that all are equal in the eyes of God without any discrimination of caste, color, creed and sex.

Gopalakrishna Bharati- short history, contribution, and background for writing this opera.

Gopalakrishna Bharati is a well-known composer of Tamil compositions and Tamil operas. He is regarded as the "Father of Tamil Opera." According to Sangeetha Kalanidhi Mudicondan Venkatarama Ayyer, Bharati was born in Narimanam and spent a few years in his early life in Mudicondan and afterwards in Mayavaram. He lost both of his parents when he was a child. He worked as a cook at a temple. He was a brahmachari and a bachelor. Gopalakrishna Bharati life period is generally accepted from 1811 to 1881. Bharati was Shivarama Bharati's son, Ramaswami Bharati's grandson, and Kothanda Bharati's great grandson. All were great scholars in Sanskrit and were great Veena players. Gopalakrishna Bharati, learnt kavya and natakam, under Dikshappayanthan Ayyar of Mudicondan. Learnt Tamil under Chokka Pillai of Mudicondan. Hindustani music under Thiruvidaimaruthur Rmadas. He learnt few compositions from Ghanam Krishnaiyyar. Few of his disciples were Ramaswami Ayyer, Punnuswami Dikshitar Rajaratina Dikshitar, U Ve Swaminatha Ayyer etc.

It is said that Kandappa Chettiyar of Nagapatinam requested Bharati to compose an opera.But Bharati was clueless on what to compose?Then he took an example of his own life and personal experience to write this opera.He always has soft heart for Nandanar, who was from the nearby village Athanoor.His deserted heart followed the same Golden path like Nandanar.Bharati's inspiration was Nandanar.

This gave birth to the grandiose opera on Nandanar.It is said that Bharati once met Tyagaraja. Tyagaraja, without knowing who Bharati was, asked whether he knew Gopalakrina Bharati. He was so thrilled to know that the person in front of him was none other than the genius Bharati he had heard of.At that time Tyagaraja's disciples where singing "Sri Rama Sita Alankara Swaroopa" in Abhogi raga. Hearing this composition of Tyagaraja swamigal, he composed "Sabhapathik Veru Daivam" in Abhogi raga itself. Later this opera Nandanar Charithram was performed at many

stages.The money collected after these performances were given to those who need it.Without any selfish needs, Bharati used these money for the spiritual and social upliftment of the society.

Contribution in other areas :

Gopalakrishna Bharati not only wrote this majestic opera Nadanar Charithram, he has also penned down Iyarpagai Nayanar Charitham, Karaikkal Ammaiyar Charitham and Thiruneelakanta Nayanar Charitham. He is also the author of Gnanchindu, Gnanakummi, Chidambara-kummi, Mamikummi, Unjal songs, marriage songs etc. Besides these he has also composed "Ghana raga Pancharatna Keertaniagal" in Tamil, in Ragas, Natai, Gowla, Arabhi, Varali and Sri.

Structure of Nandanar Charitram in brief through few kritis in a dance drama format.

Gopalakrishna Bharathi the author of Nandanar Charitram, is also the contemporary of Tyagaraj. It is said the Bharati was inspired by Tyagaraja's "Prahlada Bhakti Vijayam" and took it as a model to pen this opera.

The opera starts with invocating Gods Vinayaka, Sabhapathi, Goddess Sivakamavalli, Lord Subramanya and his consorts, Lord Vishnu, Saraswati, Lakshmi etc.The entire work consists of more than 45 keertanas, many folk types of songs called kannigal, tukkada, irushollankarams, dandakams, chindu, lavani etc.Talas used are Adi, Misra-eka, Chapu, Rupaka, Ara Jampa etc.The tempo of the song is set according to the story demands.This play is presented mainly through the keertanas, viruthams, vachanas, kannigal, tukkadas etc.

The original version of Nandanar Charitram, revolves around one-character Nandanar.He himself presents many keertanas.In some later versions, the entrance of the character is presented sometimes through Dwipadai, Irusholla-lanakars etc. He succeeded to establish the worldly truth that the true devotion is beyond caste, creed, color and sex.He expresses this through the kriti, "Yarukk Ponnambalam" in raga Baivari, Adi tala.In this kriti he says those who has the blessings of God are greatest of all.With the ardent desire to see Lord Shiva at Chidambaram, he starts his journey through the thick Chidambara forest. Overfilled by the emotion to see his Lord, he sings the keertana "Thandava Darisanam Tharum" in raga Reetigaula, Adi tala. In this kriti he pleads his Lord to give his bhakta darshanam without any delay. Reaching the outskirts of Tillai Chidambaram, in joy he sings the keeratana "Ithu thano Tillai sthalam" in raga Bihag, Adi tala.After reaching Chidambaram city, getting a glimpse of the Tillai temple in surprise, he sang the keertana "Ithuvo Tillai Chidambara Kshetram in Sindubairavi raga, Adi tala. He says, 'Is this the Tillai Chidambaram kshetra where the lord resides?Is this the place where the deva agamas resides and where the great sages meditate?' After this reaching Chidambaram, he was in a dilemma, as an outcaste, is he allowed to enter the temple? Why lower class are allowed to enter the temple? In this context, he wrote, "Innamum Sandehapadalamo" in raga Keeravani, Misra chapu tala. Finally, he decides to enter the temple to see the Lord. Immediately when the thought of entering the temple came to his mind, he found

several clouds of smoke and fire aroused to his feet.He knew his caste and was frightened.In deep grief standing outside the temple, sang the very famous kriti "Varughalamo Ayya" in a very touching raga Manchi, set to Misra chapu talam.Standing outside the temple, he begs the Lord asking the entry to the temple.He asks the Lord, that what sin he had done to be born as an outcaste.As the story goes, after being given permission for the entry to the temple, the kriti "Ennaramum Undan Sannidhi" in raga Devagandhari and Adi tala, is sung during his ordeal into the fire.It is said that Nandanar attained mukti at the feet of Lord Siva residing at Tillai Chidambaram temple.

Bharati's language, Mudra, musical and poetic excellence.

As every composer or vageyakara has their mudra for their kritis, Bharati also has a Mudra. In few kritis we can see Gopalakrishna as mudra and in few Balakrishna. There are few kritis where he has not used any mudra also. Few kritis without mudras are, "Varughalamo" in raga Manchi, Misra chapu tala, "Yaarukku Ponnambalam" in raga Bhairavi, Adi tala etc.

Different varieties of kritis can be seen in this opera.Usually a kriti has a Pallavi, Anupallavi and one or two Charanams.Here in this opera one can find kritis with sections pallavi and direct charanas, without anupallavi, eg: Nalai pogamal iruppeno in Manchi raga, Roopaka tala, musical form Dandakam-Ara kara vendriru, set to Adi tala.etc.

Conclusion :

Gopalakrishna Bharati is also called as the Father of Tamil Opera.This opera melts and softens, even the hard-hearted people through the kritis and musical forms drenched in pure Bhakti.Jeevetma and Paramatma relation is well portrayed here through the beautiful kritis and other musical forms.

Nandanar Charitram can attain more popularity among the people through music concerts and dance performances as these kritis are full of bhavas which can be expressed musically as well as through abhinaya.This opera also brings out the multi talents of Gopalakrishna Bharati as a vageyakara.

References :

1. Anaithandavapuram Bharati Gopalakrishna Avargal- "63 Nayanmargalil Oruvaraagiya Thirunalaipovarennum Nandanar Charitra Keerthanai", published in 1919 by Narayana Swami Pallai and Brother, at Natraizha Vilasa Press, Chennai.
2. Dr. Durga S.A.K- Vallala Rashan Isai Natakam, published in the year 1977, from ideal printers, Madras, by Dr. Raja Sir Muthiah Chettiar at tamil sangam.
3. Sambamurthy P.S. South Indian Music, Volume-IV,8th edition. Published from The Indian Music publishers' home, 1998 chennai.
4. Sekkizhar- Periya Puranam, English version by Vanmikanandan, printed at Sri Ramakrishna Math.
5. Swaminatha Iyyer U.V- Gopalakrishna Bharahiyar Keerthanaigal Udan, published in 1936 fom Kesri printers, Madras.
6. The Garland- N. Rajagopalan, printed in 1994 by Emerald Academic press, Madras.

इंदौर घराने के रूप में 'सुररंग', उस्ताद अमीर खां द्वारा एक नवीन खोज

मनीष कुमार
सहायक प्राध्यापक, संगीत (गायन)
डिपार्टमेंट ऑफ़ परफोर्मिंग एंड फाइन आर्ट्स,
रांची विश्वविद्यालय, रांची (झारखण्ड)

सारांश

भारतीय संगीत के पावनमयी धरती पर अनेक विद्वानों ने जन्म लिया, जिनमे से एक अत्यंत ही धीरमयी नाम उस्ताद आमिर खां साहब का भी आता है।

उस्ताद आमिर खां अपने युग के केवल गायक ही नहीं हुए बल्कि अनेक गायकों तथा वादको के प्रेरणा स्त्रोत एवं आदर्श भी रहे है। वर्तमान समय के अनेक कलाकार उन्ही का अनुसरण करते हुए उनके पद चिन्हों पर चलकर संगीत के उस परम शिखर को छूने का प्रयास कर रहे है। अपनी लगन प्रतिभा तथा कल्पनाशक्ति के बल पर स्वयं ही अपना मार्ग बनाया। इन्होंने समय-समय पर अपनी गायकी में नवीन खोज करते रहे तथा साथ ही साथ उसका परिमार्जन भी करते रहे।

खां साहब का मानना था कि एक ख्याल में राग तत्व की जितनी महत्व होती है। उतनी ही महत्व काव्य तत्व की भी होती है। एक अच्छा गायक या संगीत के ज्ञाता बनने के लिए कलाकार में कल्पनाशक्ति का होना अत्यंत आवश्यक है। वास्तविकता में अगर देखा जाए तो उस्ताद अमीर खां के गायन शैलीध्यायन पद्धति उनकी कड़ी और अथक परिश्रम एवं साधना का प्रतिफल था। उनके गायन में धीरता, गंभीरता, आनंद, तल्लीनता तथा तन्मयता का भाव सम्मिलित था।

मुख्य बिंदु

उस्ताद आमिर खां, गायकी, इंदौर घराना, कल्पनाशीलता, चिंतन-मनन, अध्यात्मवाद

प्रारंभिक जीवन एवं शिक्षा-दीक्षा :

संगीत के देदीप्यमान सूर्य उस्ताद अमीर खां जिनकी गायकी की तुलना बादशाह अकबर के समय के धुरंधर गायक मियां तानसेन तथा बैजु बाबरा से की जाती हैएका जन्म 15 अगस्त 1912 ई में इंदौर के जाने-माने संगीत के घराने में हुआ। इनके पिता उस्ताद शाहमीर खां भिंडी बाजार घराने के वीणा तथा सारंगी वादक थे जो इंदौर के होलकर राजघराने में सारंगी वादन किया करते थे। 9 वर्ष की उम्र में इनकी माता का देहांत हो जाने के पश्चात अमीर खां तथा भाई वशीर खां जो की बाद में ऑल इंडिया रेडियो के में संगीत की प्रारंभिक तालीम लेते हुए बड़े होने लगे।एक पिता होने के नाते उनकी (शाहमीर खां) दिली तमन्ना थी कि अमीर खां बड़े होकर सारंगी वादक बने परन्तु उस्ताद अमीर खां की रुचि सारंगी वादन की अपेक्षा गायन में अधिक थी।

भिंडी बाजार घराने के उस्ताद रजब अली खां ने उस्ताद अमीर खां को उभरते गवैया के रूप में देखते हुए उन्हें संगीत की तालीम दिलाने में विशेष दिलचस्पी दिखाई।

उन्होंने अमीर खां को ख्याल गायकी की ओर रुचि उत्पन्न करने में मदद कीउस्ताद अमीर खां अपने समय में एकलौते एक ऐसे गायक थे जिनकी शुरुआती एवं बुनियादी तालीम तो केवल एक घराने से हुए परंतु बाद में इन्होंने कई उस्तादों से संगीत की शिक्षा प्राप्त की इन्होंने किराना घराने से उस्ताद अब्दुल करीम खां और भिंडी बाज़ार घराने के उस्ताद रज़ब अली खां तथा अमान अली खां से गायकी की तालीम ली।तथा भिन्न-भिन्न घराने शैली की विविधताओं को अपनाते हुए ख्याल गायकी को एक नया आयाम दिया।

खां साहब विलंबित झूमरा लय में ख्याल गायन करना बहुत पसंद करते थे उन्हें रागों की शुद्धता में छेड़-छाड़ तनिक भी पसंद न था।गायन में लडन्त-भिडंत तथा तिहाई का प्रयोग नहीं करते थे। उन्होंने अपने कला का प्रदर्शन केवल प्रदर्शन के लिए कदापि नही किया, बल्कि राग की मूल अस्तित्व पर ही अपना केंद्रीकरण बनाए रखा।

6 फीट 2 इंच के उस्ताद अमीर खां साहब गाते समय पूर्णतः आध्यात्मिक अवस्था में प्रवेश कर जाते थे। गाते समय उनकी आंखे हमेशा बंद होती थी। उनका संगीत के प्रति धीरता गंभीरता तथा तल्लीनता उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व को प्रदर्शित करता था। वे रियाज करते समय आधा समय स्वरसाधना में तथा आधा समय उसके चिंतन में लगाते थे।

एक साक्षात्कार में गोस्वामी गोकुलोत्सव जी महाराज ने कहा 'उस्ताद अमीर खां जब सुर लगाते थे तो अगर तानपुरा बेसुरा हुआ भी है तो वह अपने आप ही सुर में मिल जाते थे'[1]

नवीन गायन शैली का इजात :

बेघरानेदार उस्ताद अमीर खां को अपनी पहचान बनाने के लिए एक लंबी समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी परंतु देर से मिली पहचान ने उन्हें गायन की एक नवीन शैली इजात करने का विशेष अवसर प्रदान किया। इनकी शैली में अब्दुल वहीद खां का विलंबित अंदाज रजब अली खां के क्लिष्ट तानों तथा अमान अली खां के मेरुखंड की झलक मिलती है इन्होंने एक नवीन गायनशैली का नीव डालकर इंदौर घराने की स्थापना की।

इंदौर घराने की इस नवीन शैली में अध्यात्मिकता ख्याल तथा ध्रुपद का मिश्रित रूप देखने को मिलता है। इंदौर, आकाशवाणी केंद्र में दिए एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा :- ''वास्तव में मै शास्त्रीय संगीत का एक ही घराना चाहता हूँ, जिसे हिन्दुस्तानी संगीत कहा जाए और उसके अलग-अलग विभाग हों यदि मुख्य बात को इसी रूप में रखा जाए तो संगीत के सम्बन्ध में हमारे आपसी आरोप-प्रत्यारोप कम हो जाएंगे। भाषओं के मामले में घराने की एक शैली से कई अलग-अलग शैलियों का निर्माण हुआ। एक भाषा से अनेक भाषाएं निकली, उसी प्रकार संगीत में शैलियों और घरानों का निर्माण हुआ। आजकल 'इंदौर घराना' के नाम से गा रहा हूँ।''[2]

इनका मानना था कि ''ख्याल में काव्य तत्व का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि राग तत्व का होना।''[3] इनके अनुसार एक अच्छे संगीतज्ञ में काव्य की कल्पनाशीलता का होना अत्यंत आवश्यक है अन्यथा गायकी में रस निष्पत्ति की कोई गुंजाइश ही नहीं बचेगी और गायकी शुष्क तथा भावहीन भी प्रतीत होगी। ''राग की बढ़त और उसके रसका अपूर्व आनंद देना अमीर खां के ही हक में है।''[4]

संगीत जगत में योगदान :

उस्ताद अमीर खां साहब का संगीत जगत में अविस्मरणीय योगदान रहा। भिन्न-भिन्न घरानों की गायकी को अपने अंदर समाहित कर उन्हें एकाकार रूप देने के लिए इन्होंने एक नए घराने की स्थापना की जो अन्य घराने की भांति किन्हीं मानक उसूलो का मोहताज नहीं है।

खां साहब वर्षो से चली आ रही निरर्थक शब्द युक्त तराने के गायन में तराने का सार्थक अर्थ निकालकर तराना का एक नया रूप दुनिया के सामने प्रस्तुत किया। उन्होंने एक लंबी अनुसंधान के पश्चात् तराने के बोलो का अर्थ ढूंढ निकालाए जिसमे तोम का अर्थ है ''मैं तेरा हूं'' नादिर का अर्थ ''तू सबसे अधिक जनता है'' तनदरदानी का अर्थ ''तन के अंदर आ'' यल ली, अलिहला आदि शब्दों का संबंध खुदा से बताया। इन्होंने तराने को मूल रूप से आध्यात्मिकता से परिपूर्ण माना।

फिल्म जगत में योगदान :

उस ज़माने में फिल्मों में गायन करने वाले गायकों को हीन दृष्टि से देखा जाता था परंतु दुनिया की इन ओछी तथा बेबुनियादी उसूलो से परे उस्ताद अमीर खां संगीत को ही अपना सर्वस्व मानते हुए संगीत जगत के हर पहलुओं में अपना भरपूर योगदान दिया।

उन्होंने फिल्म संगीत में अपना भरपूर योगदान देते हुए शबाब, बैजु बाबरा, झनक-झनक पायल बाजे, गूंज उठी शहनाई तथा रागिनी जैसी फिल्मों में अपनी आवाज देकर इनमे जीवंतता प्रदान की। बंगला फिल्म ''क्षुधित पाषाण'' में भी इन्होंने अपना स्वरदान दिया।

''इन्होंने एक नया राग चंद्रमधु का इजात किया खां साहब की गायकी में आलाप में स्वरों की एक विशिष्ट प्रकार की बढ़त थी, जिसे मेरुखंड प्रणाली कहा जाता है 5040 मेरुखंड अलंकार का अभ्यास एक साधारण संगीत साधक के लिए अत्यंत ही कष्टकारी सिद्ध होती है। अतः उन्होंने इस बात को ध्यान में रखते हुए 5040 मेरुखंड अलंकारों में से 168 ऐसे अलंकार तैयार किया जिनका निरंतर अभ्यास एक संगीत साधक को मजबूत आधार प्रदान करता है।''[5]

बादशाहो तथा राजाओं के जमाने में रागों की बंदिशों में श्रृंगारिक तत्वों का बोलबाला अधिक बढ़ गया था, जिसे गाने में खां साहब को सहजता महसूस नहीं होती थी। अतः उन्होंने अपने मानसिक सृजनशक्ति के बल पर अनेक रागों की बंदिशों की रचना की जो की बाद में हिंदुस्तान तथा पाकिस्तान दोनों ही देशों में बहुप्रचलित हुआ।

उस्ताद अमीर खां ने राग मेघ, राग मारवा, राग आभोगी और नंद रागों के लिए विस्तारित विलंबितो की रचना की जिसमे पहले छोटा ख्याल ही गया जाता है। वे अक्सर विलंबित गाने के पश्चात द्रुत ख्याल के स्थान पर उसी राग में तराना गाया करते थे।

15 साल की कच्ची उम्र में खां साहब राग मालकौंस में ''गीत लागेला मनवा'' का स्वयं इजात किया। बाद में खां साहब ने तमाम स्रोतो से रागों की बंदिशों को इकट्ठा करना शुरू कर दिया कभी-कभी अवश्यता पड़ने पर ध्यान आकर्षित करने वाली बंदिशों के बदले पैसे भी चुकाया करते थे। इस प्रकार उन्होंने बंदिशों की एक बहुत बड़ी सूची एकत्र कर ली। उनका मानना था कि बंदिशे केवल कच्चा माल होती है। उसे अंतिम उत्पादन के रूप में तैयार करने के लिए एक अपनी शैली का होना अति आवश्यक है। उस्ताद अमीर खां साहब अपने गायन में ताल झूमरा तथा ताल एकताल का इस्तेमाल किया करते थे। 'झुमरा ताल में ख्याल को अतिविलाम्बित करके गाने का प्रचलन अमीर खां से हुआ।''[6] साधारणतः वे तबले पर संगतकार को साधारण ठेका देने की मांग करते थे। उन्होंने सारंगी में प्रशिक्षण प्राप्त करने के बावजूद भी आमतौर पर छः तार वाले तानपुरा का प्रयोग संगत के लिए किया तथा कभी-कभी उन्होंने संगत में मंद हारमोनियम का भी प्रयोग किया, परंतु सारंगी का उपयोग कभी नही किया। उनके गायन में एक अद्भुत संयम, जुनून, श्रद्धा और आध्यात्मिक भाव झलकती थी जो श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती थी।

'कुमार प्रसाद मुखोपाध्याय की पुस्तक ''द लॉस्ट वर्ल्ड ऑफ़ हिंदुस्तानी म्यूजिक'' के अनुसार बड़े गुलाम अली खां का संगीत बहिर्मुखी उत्साही और भीड़ खींचने वाला था, जबकि अमीर खां का अंतर्मुखी गरिमापूर्ण दरबारशैली था।'

अन्य कलाकारों की भांति उन्होंने कभी भी लोकप्रियता हासिल करने के लिए अपनी कला का प्रदर्शन नही किया वे खुदा के लिए गाते थे। उनका वाक्य था ''रूह गाता है रूह सुनता है।''[7]

सम्मान :

अमीर खां साहब संगीत जगत के उस आभूषण के समान है जिनके होने से संगीत का सौंदर्य बढ़ गया। यूं तो अमीर खां साहब खुद ही एक ऐसे हीरे के समान है जो किसी वस्तु पर पड़ जाए तो उसकी सुन्दरता बढ़ जाए। अपने ही दुनिया में तल्लीन रहने वाले अमीर खां एक साधारण व्यक्तित्व वाले साधारण जीवन व्यतीत करने वाले और अपना संपूर्ण जीवन संगीत के लिए समर्पित करने वाले खां साहब किसी भी पुरस्कार के मोहताज नहीं क्यूंकि उनके द्वारा संगीत जगत में दी गई योगदान के प्रतिफलों का कोई मोल नहीं आंका जा सकता है फिर भी उनके उल्लेखनीय योगदान के बदौलत उन्हें 1967 में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार,1971 में पद्मभूषण तथा 1971 में ही सुरसिंगार संसद द्वारा स्वर विलास प्रदान किया गया। सार्थक अर्थ युक्त तराने के खोज के लिए उन्हें 1988 में बिहार के गवर्नर जनरल जाकिर साहब ने ''बिहार नाट्य परिषद'' का फैलो बना दिया। खां साहब पर एस॰ एन॰ एस॰ शास्त्री के निर्देशन में फिल्म्स डिविजन में एक वृत चित्र तैयार किया गया।

सिंह बंधु तथा Dr. Prerna Arora द्वारा रचित ''संगीत के देदीप्यमान सूर्य उस्ताद अमीर खां जीवन एवं रचनाए'' का प्रकाशन कनिष्क प्रकाशन से हुआ, जो आगे चलकर अत्यंत लोकप्रिय हुआ। संगीत जगत में रुचि रखने वाले या संगीत के जानकार यह समझते है कि संगीत जगत में खां साहब का जितना योगदान रहा, उसके सामने ये पुरस्कार कुछ भी नहीं है। परन्तु हां अमीर खां साहब के जीवन में ये पुरस्कार एक महत्वपूर्ण भूमिका रखते है। दुनिया के वैसे लोग, या आम जनता जिनका संगीत से कोई ताल्लुकात नहीं है उनके नज़रों में अमीर खां इन्ही पुरस्कारों के कारण जन साधारण से अलग प्रतीत होते है।

''हिंदुस्तान की जनता उस्ताद अमीर खां साहब को आज के तानसेन के नाम से संबोधित किया करते थे।''[8]

पाकिस्तान के उस्ताद सलामत अली खां साहब ने एक बार कहा था ''अमीर खां की नकल कोई नहीं कर सकता क्योंकि उन्होंने अपने ख्याल गायन के मार्फत अपने अल्लाह से रफ्ता कायम किया है।''[9]

शिष्य परंपरा :

उस्ताद अमीर खां के धीर गंभीर युक्त गायकी की परंपरा को आगे बढ़ाने में उनके शिष्य स्वर्गीय पंडित अमरनाथ, पंडित तेजपाल एवं पंडित सुरेंद्र सिंह (सिंह बंधु) प्रो॰ रवींद्र विष्ट आदि का नाम उल्लेखनीय रूप से उभरकर सामने आता है। परंतु वास्तव में सिंह बंधु के नाम से प्रख्यात युगल गायकों में से अग्रज भ्राता तेजपाल सिंह का नाम उस्ताद अमीर खां के शिष्य परंपराओं में सर्वोपरि है। पंडित तेजपाल जितने अच्छे गायक है उतने ही अच्छे गुरु भी। डॉ॰ तेजपाल सिंह द्वारा अपने गुरु खां साहब पर समर्पित पुस्तक ''संगीत के देदीप्यमान सूर्य उस्ताद अमीर खां (जीवन एवं रचनाएं) लिखा गया। खां साहब के एक और प्रिय शिष्य जिन्होंने इंदौर घराने के आगे बढ़ाने में अपना संपूर्ण योगदान दिया वो थे स्वर्गीय पंडित अमरनाथ सिंह। इनके द्वारा अपने गुरु पर समर्पित एक पुस्तक ''इंदौर का मसीहा'' नामक पुस्तक लिखा गया।

मृत्यु :

संगीत जगत के महान अवतारी पुरुष तथा कला के अप्रतिम साधक जिन्होंने अपनी कठिन तपस्या के बल पर भारत भूमि को अमर दिया एक मनुष्य रूपी साधारण देह को धारण करने वाले दिव्य आत्मा, उस्ताद अमीर खां साहब को भी संसार त्यागना पड़ा। 13 फरवरी सन् 1974 में सड़क दुर्घटना के कारण मां शारदे के इस परम प्रिय पुत्र को इस लौकिक जगत को छोड़कर नाद ब्रह्मा में विलीन होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

उस्ताद अमीर खां के गायकी का प्रभाव वर्तमान समय के अनेक गायको तथा वादकों पर स्पष्ट रूप से देखा तथा महसूस किया जा सकता है। किसी कलाकार के मृत्यु के लगभग 48 वर्ष बाद भी अगर उसकी अनुयायियों की संख्या बढ़ती जा रही है तो इससे बड़ी उपलब्धि एक कलाकार के लिए क्या हो सकती है।

खां साहब की कृतित्व, उनकी गायनशैली, संगीत में एक विशेष अनुसंधान, नवीनता तथा संगीत क्षेत्र में इनका बहुमूल्य योगदान खां साहब को चिरस्थाई रूप से प्रत्येक संगीत प्रेमियों के हृदय में सदा विराजमान रखेगी।

सन्दर्भ :

1. https://youtu.be/T4hWvdYd4uW (access on 10-01-2023)
2. https://en-m-wikipedia-org.translate.goog/wiki/Indore_gharana (access on 10-02-2023
3. Arihant Publication, 3rd edition, 2018, Page- 66.
4. Garg, Laxminarayan, Hamare Sangeet Ratna, Sangeet Karyalaya, Hathras, Page No. 89.
5. Arihant Publication, 3rd edition, 2018, Page-66.
6. Tak, Tej Singh, Net Sangeet, 2nd edition, Luminous book, year- 2018, page-248.
7. https://www.youtube.com/live/b1-uoiUZ6tw (access on 12-01-2023)
8. https://youtu.be/HatNtgCuA-o (access on 20-01-2023)
9. https://youtu.be/FiWgeZsfEqk (access on 25-01-2023)

'देवगंधर्व'- पंडित भास्कर बुवा बखले

श्री प्रकाश पाण्डेय
(असिस्टेंट प्रोफेसर) संगीत विभाग
दयानन्द वैदिक कालेज, उरई

शोधपत्र सार

भारतीय संगीत के क्षेत्र में अनेक विद्वान हुए हैं, जिन्होंने अपनी कड़ी मेहनत और तपस्या से भारतीय संगीत को और समृद्ध करने में अपना अमूल्य योगदान दिया है। इन विद्वान कलाकारों में कुछ कलाकार ऐसे हुए जिन्होंने भारतीय संगीत के घरानेंदार परम्परा के नियम कायदों को पीछे छोड़ते हुए एक से अधिक घरानें की गायिकी को सीखा और उसे उच्च स्तर पर प्रदर्शित किया। वर्षों से चली आ रही किसी परम्परा में परिवर्तन इतनी आसानी से नहीं होते है। भारतीय संगीत में यह उदाहरण पंडित भास्कर बुवा बखले ने प्रस्तुत किया और अपने संगीत से एक नई समृद्धशाली परम्परा का निर्माण किया।

कुंजी शब्द

घरानेंदार परम्परा, मराठी संगीत, संगीतकार, गायिकी।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूरे विश्व में उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत की लौ लगाने वाले हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के प्रमुख गायकों में से एक जिन्होंने सर्वप्रथम एक से अधिकघरानों के तहत प्रशिक्षण प्राप्त किया तथा उसे प्रदर्शित भी किया, शास्त्रीय संगीत के वह महान कलाकार थे पंडित भास्कर बुआ बखले। भास्कर बुवा की प्रसिद्धि 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सम्पूर्ण भारत में हुई।

हिंदुस्तानी शास्त्रीय गायक और संगीतकार भास्कर रघुनाथ बाखले (17 अक्टूबर 1869-8 अप्रैल 1922) जिन्हें भास्कर बुवा के नाम से भी जाना जाता है। बुवा हिंदुस्तानीशास्त्रीय संगीत परंपरा के एक गायक, संगीतकार थे। बुवा का जन्म 17 अक्टूबर 1869 को गुजरात के कठोड़ गाँव में एक गरीब मराठी परिवार में हुआ था। बचपन से ही बुवा की आवाज सुरीली और उन्हें संगीत में बेहद रुचि थी। उस जमाने में मराठी नाट्य संगीत के लोग अपने नाटक में पात्रों के चित्रण लिए प्रतिभावान कलाकारों की खोज में रहते थे और इस तरह भास्कर बुवा के गायन प्रतिभा से प्रभावित होकरएक थिएटर कंपनी किर्लोस्कर नाटक मंडली ने नौकरी पे रख लिया।

मराठी नाट्य संगीत में अधिकतर गाने शास्त्रीय रागों पर आधारित होते थे और उन्हें गाने के लिए गले की तैयारी और सुरीलेपन की जरूरत होती थी। नाटक मंडली के साथ शास्त्रीय मंचगीतों के प्रदर्शन के साथ बुवा की गायिकी धीरे-धीरे और विकसित होने लगी। भास्कर बुवा ने शास्त्रीय संगीत पर आधारित कई मराठी नाटकों में प्रमुख भूमिका निभाई जैसे 'रामराज्य वियोग', संगीत सौभद्र में नारद और संगीत शकुंतला में शकुंतला की भूमिका निभाई। बुवा के अभिनय और गायिकी के बारे में चर्चा करते हुए कुमार प्रसाद जी लिखते हैं कि-'रामराज्य वियोग नाटक में भास्कर ने दशरथ की युवा पत्नी कैकेयी का रोल अदा किया। अभिनय और गाना, दोनों में

उन्होंने कमाल कर दिखाया।'[1]

भास्कर बुवा मराठी भाषी आबादी के बीच अपने लोकप्रिय संगीत कार्यक्रमों,अपने मधुर भाषी व्यक्तित्व और मंचीय नाटकों के कारण अत्यंत लोकप्रिय थे। उनके नाट्यगीत इतने वर्षों बाद, आज भी आसानी से मराठी लोग गुनगुनाते हैं। नाट्य संगीत के साथ भास्कर बुवा को शास्त्रीय संगीत में अत्यंत रुचि थी। एक बार भास्कर बुवा का नाटक देखने किराना घरानें के स्तम्भ माने जाने वाले प्रसिद्ध बीनकार बंदे अली खाँ साहब गए और वहाँ बुवा का गायन सुनकर वह बेहद प्रभावित हुए। नाटक के बाद उन्होंने भास्कर बुवा को अपने घर बुलाया और बोले 'बेटा, तुमको मैं सही और सच्चा गाना सिखाना चाहता हूँ। सीखोगे?'[2] इस तरह बुवा की शास्त्रीय संगीत की शिक्षा प्रारम्भ हुई।

भास्कर बुवा को ग्वालियर, आगरा और जयपुर-अतरौली घरानें के कई अन्य संगीतकारों से भी संगीत सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बंदे अली खाँ साहब से शास्त्रीय संगीत की शिक्षा विधिवत रूप से सीखने के बाद भास्कर बुवा नाटक कम्पनी के साथ विभिन्न शहरों में मंच प्रदर्शन करते रहे परन्तु भास्कर बुवा का ये सफर आसान नहीं था।

बुवा को अपनी किशोरावस्था से युवावस्था में प्रवेश करते समय 'कंठफूटली' का सामना करना पड़ा अर्थात् उनकी आवाज बिगड़ गई और कर्कश हो गई और इस वजह से उन्हें नाटक कम्पनी से निकाल दिया गया परन्तु उन्होंने हार नहीं मानी और इन संघर्षों से जूझते हुए बुवा ने अपनी आगे की संगीत शिक्षा के लिए ग्वालियर घरानें के वरिष्ठ कलाकार फैज मोहम्मद खाँ से निवेदन किया लेकिन खाँ साहब ने बुवा को सीखाने से मना कर दिया परन्तु भास्कर बुवा के अनेक सिफारिशों की वजह से खाँ साहब को उन्हें अपना शागिर्द बनाना पड़ा।

उस जमाने में गुरुभक्ति की कठिन परीक्षा ली जाती थी। भास्कर बुवा ने अनेक कष्ट झेलते हुए अपनी संगीत शिक्षा जारी रखी और खाँ साहब से ग्वालियर घरानें की सारी विशेषताओं को सीखा जैसे स्थायी अन्तरा का भराव, बोल-बाँट और बोलतानों का स्वरूप इत्यादि। भास्कर बुवा की संगीत की शिक्षा फैज मोहम्मद खाँ साहब से 1886-1897 तक बड़ौदा में चली तथा उसके पष्चात् बुवा की तरक्की से प्रसन्न होकर खाँ साहब ने आगरा घरानें के उस्ताद नत्थन खाँ, जो मैसूर के दरबारी संगीतकार थे और उस्ताद विलायत हुसैन खाँ के पिता थे, उनसे बुवा को तालीम देनेके लिए सिफारिश की।

फैज मोहम्मद खाँ साहब की सिफारिश के बाद भी नत्थन खाँ साहब बुवा को तालीम देने के लिए राजी नहीं हुए और परन्तु बुवा के लगन को देख कर उनका भी मन द्रवित हुआ और बुवा की आगरा घरानें की तालीम शुरू हुई। भास्कर बुवा के तालीम का यह अनवरत क्रम उस्ताद नत्थन खाँ के निधन तक जारी रहा।

इतने महान गुणियों से शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी बुवा की संगीत की लालसा उन्हें अपने चौथे गुरु अर्थात् जयपुर घरानें के उस्ताद अल्लादिया खाँ साहब के पास ले गयी। इस बारे में चर्चा करते हुए कुमार प्रसाद जी लिखते हैं कि-'अल्लादिया खाँ के पास जाने के पहले भास्कर बुवा ने नत्थन खाँ के पास 'वजन' का इस्तेमाल सीखा था लेकिन अगर पैटर्न के लिहाज से देख जाए तो अल्लादिया खाँ की तानों से भरी गायकी में शायद भास्कर बुवा को तरह-तरह की और भी खूबियाँ नजर आई होंगी।'3 भास्कर बुवा काफी दिनों तक अल्लादिया खाँ की देखरेख में तालीम लेते रहे और देखते ही देखते भास्कर बुवा का नाम और उनकी शोहरत सारे हिंदुस्तान में फैल गई।

बुवा ने अपने अथक प्रयास से किराना, ग्वालियर, आगरा और जयपुर घरानें की गायन शैली में महारत हासिल की। भारतीय शास्त्रीय संगीत में एक से अधिक घरानों से पारम्परिक प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले चुनिंदा कलाकारों में भास्कर बुवा वह पहले कलाकार थे जिन्होंने इस परम्परा की शुरुवात की और अपनी मजबूत इच्छाशक्ति और मनोबल से

संगीत के क्षेत्र में एक शानदार मुकाम हासिल किया। भारतीय शास्त्रीय संगीत में एक घरानें की विशेषताओं को ग्रहण करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है तथा एक से अधिक घरानों की परम्परा को आत्मसात् करना अत्यंत कठिन और दुर्लभ कार्य हो जाता है।

आधुनिक समय में संचार माध्यम एवं संसाधन अधिक सुलभ होने के बावजूद भी यह कर पाना अत्यंत कठिन है कि किसी कलाकार द्वारा एक से अधिक घरानों से शिक्षा प्राप्त की जाए और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जब भास्कर बुवा जैसे कलाकार हुए, यह अधिक दुर्लभ था क्योंकि हर घरानें के अलग-अलग नियम कायदे होते थे और अपने घरानें की विद्या दूसरे घरानें के कलाकारों को इतनी आसानी से उपलब्ध नहीं होती थी। यह भास्कर बुवा जैसे एक महान कलाकार का भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रति लगाव को प्रदर्शित करता है कि संगीत सीखने की प्रबल इच्छाशक्ति से उन्होंने एक से अधिक घरानें की परम्परा को किस तरह सीखा और उसे सर्वश्रेष्ठ स्तर पे प्रदर्शित भी किया।

भास्कर बुवा का शास्त्रीय गायिकी के अलावा ठुमरी, भजन, टप्पा, पंजाबी लोक संगीत, लावणी, गजल, धमार पर भी असाधारण अधिकार था। अपने सुखद व्यक्तित्व, सुंदर गायन, प्रेममयी और स्नेही स्वभाव जैसे गुणों के कारण भास्कर बुवा की ख्याति पूरे भारत में फैली थी। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ विदेशों में भी भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रचार करने का अथक प्रयास किया।

भास्कर बुवा को व्यापक रूप में हिंदुस्तानी संगीत का सबसे सम्पूर्ण गायक माना जाता है इसीलिए उनका गायन किसी एक घरानें तक सीमित नहीं रहा बल्कि हिन्दूस्तान के चारों तरफ प्रसिद्ध हुआ। इतने उस्तादों की गायिकी को सीखकर जिसमें राग का विस्तार करना बन्दे अली खाँ एवं फैज मोहम्मद खाँ से, स्थायी भरने के तरीक उन्होंने नत्थन खाँ साहब से लिए तथा अल्लादियाँ खाँ साहब की विशिष्ट तानें, इन सभी को मिलाकर भास्कर बुवा नें अपनी एक अनोखी शैली तैयार की। भास्कर बुवा ने जालंधर, सियालकोट, कराची, मैसूर समेत भारत एवं विश्व के विभिन्न शहरों में संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत किए।

उस जमाने में पटियाला घरानें के आलिया-फत्तु (अलीबख्श और फतेह अली) की जोड़ी पूरे भारत में बहुत प्रसिद्ध थी। अलीबख्श खाँ और फतेह अली साहब पटियाला घरानें के संस्थापक थे एवं उस जमाने के संगीत की दुनिया के सबसे बड़े नामों में से एक। एक बार पटियाला के खास महफिल में भास्कर बुवा बखले के गायन का कार्यक्रम रखा गया। खाँ साहब जरा संशय में कार्यक्रम सुनने आए थे क्योंकि उससे पहले भास्कर बुवा का गाना नहीं सुना था। बुवा ने अपने कार्यक्रम की शुरुआत राग पूरिया से की तथा इसके बाद राग कामोद और राग दरबारी। भास्कर बुवा को सुनने के बाद खाँ साहब अवाक थे। खाँ साहब सुने हुए बुजुर्ग कलाकारों को याद कर रहे थे। बुवा का गायन खत्म होते ही वह खड़े हुए और बोले-'हुजूर, लोग कहते हैं कि अलीबख्श खाँ बड़ा ही घमंडी है। किसी की तारीफ नहीं करता। सच तो यह है कि उत्तर भारत के बहुत से उस्तादों को सुन चुका हूँ। किसी को भी सुनकर ऐसा नहीं लगा कि खयाल गायिकी हिन्दूस्तान में आज भी जिंदा है। अल्लाह की यह बहुत बड़ी मेहरबानी है जो पंडित भास्कर बुवा ने अभी तक खयाल को जिन्दा रखा है। खुदा इन्हें सौ साल की उम्र दे।'[4] खाँ साहब द्वारा बुवा के गायिकी की तारीफ सिर्फ शब्द नहीं थे बल्कि उत्तर भारतीय संगीत में भास्कर बुवा के सांगितिक कद को दर्शाता है एवं यह सिद्ध करता है कि भारतीय संगीत में भास्कर बुवा की गायिकी एवं उनकी समृद्धशाली विरासत को किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

भास्कर बुवा की शिष्य परम्परा- भास्कर बुवा नें अपनी गायिकी की तरह एक समृद्धशाली शिष्य परम्परा का भी निर्माण किया जिसमें अनेक उच्च स्तर के कलाकार एवं शिक्षक हुए। बुवा ने स्वतंत्र रूप से विद्यादान दिया। वह प्रारम्भिक दौर में किर्लोस्कर

और गंधर्व रंगमंच मंडली के संगीत गुरु थे। बखले बुवा के शिष्यों में बालगंधर्व का नाम प्रमुख रूप से आता है। कुछ अन्य शिष्यों में, जिन्होंने हिंदुस्तानी संगीत में अपना नाम अंकित किया उनमें दिलीपचन्द्र बेदी, मास्टर कृष्णराव, गोविंदराव टेम्बे, ताराबाई शिरोडकर, दत्तात्रेय बागलकोटकर, बापुराव केतकर, पाटनकर बुवा आदि जैसे अनेक प्रतिभाशाली कलाकार हुए।

इसके अलावा उन्होंने मराठी रंगमंच संगीत में भी ऐसे कई सारे बड़े कलाकार तैयार किए जिन्होंने मराठी रंगमंच संगीत में सुंदर और उच्च कोटि का प्रदर्शन किया। भास्कर बुवा के गायिकी की चर्चा करते हुए कुमार प्रसाद मुखर्जी जी लिखते हैं कि दिलीपचन्द्र बेदी जी भास्कर बुवा की मृत्यु के बाद आगरा घरानें के उस्ताद फैयाज खाँ साहब से गंडा बँधवाया तो उस्ताद ने उन्हें आदेश दिया कि- 'तुम भास्कर बुआ की गायिकी हर्गिज न छोड़ना, खासकर उनकी तानों को।'[5] बुवा मराठी रंगमंच संगीत को शास्त्रीय संगीत के स्तर तक ले गए। उन्होंने 1906 से अपनी मृत्यु तक मराठी नाटकों में हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की अमिट छाप छोड़ते हुए संगीत दिया।

बुवा को मराठी नाट्य संगीत के 'कुलस्वामी' के रूप में भी संदर्भित किया जाता है। भास्कर बुवा ने कई मराठी नाटकों के लिए संगीत तैयार किया जैसे संगीत विद्याहरण (1913) संगीत स्वयंवर (1916) और संगीत द्रौपदी (1920)। 1911में बखले बुवा ने पुणे में भारत गायन समाज, संगीत का एक संस्थान शुरू किया। यह बुवा के शिष्य एवंप्रसिद्ध हारमोनियम वादक गोविंदराव टेम्बे के सानिध्यमें फला-फूला। 1922 में बुवा की मृत्यु के बाद उनके शिष्य कृष्णराव फूलंबरीकर, जिन्हें मास्टर कृष्णराव के नाम से जाना जाता है इन्होंने भारत गायन समाज में दायित्वों का निर्वहन किया। मराठी रंगमंच के अनेक कलाकार बुवा को गुरुतुल्य मानते थे। भास्कर बुवा को 'देवगंधर्व' (आकाशीय संगीतकारों के बीच भगवान) की मानद उपाधि दी गई थी।

भास्कर बुवा के नाम पर भारत के कई सारे संगीत समारोह वर्तमान समय में आयोजित किए जाते है जिसमें पुणे का भारत गायन समाज हर साल उनके स्मृति दिवस पर एक संगीत समारोह आयोजित करता है। बुवा की स्मृति में 1926 में स्थापित मुंबई में कल्याण गायन समाज न केवल वर्ष भर विभिन्न संगीत सभाओं का आयोजन करता है बल्कि अपनी वर्षगांठ पर देवगंधर्व संगीत समारोह का भी आयोजन करता है। भारतीय संगीत, नृत्य और ललित कलाओं को बढ़ावा देने वाली संस्था प्राचीन कला केंद्र, जो चंडीगढ़ में स्थित है यह बखले बुवा की संगीत प्रतिभा को याद करने के लिए तथा इस संगीत प्रतिभा की स्मृति को बनाए रखने के लिए 1969 से हर वर्ष प्रतिष्ठित अखिल भारतीय भास्कर राव नृत्य और संगीत सम्मेलन का निर्बाध रूप से आयोजन कर रहा है। इस आयोजन में शास्त्रीय संगीत और नृत्य के क्षेत्र में लगभग सभी प्रमुख दिग्गजों को मंच प्रदान किया जाता है।

पिछले कई वर्षों से पुणे विश्वविद्यालय द्वारा संगीत में प्रथम स्थान प्राप्त करने वाले छात्र और छात्रा को पंडित भास्कर बुवा बखले पुरस्कार प्रदान किया जाता है। जिस प्रकार बुवा इतनी कठिनाइयों को पार करते हुए इतने घरानों की परम्परा को सीखा और जिन्दगी भर संगीत की सेवा में लगे रहे, यह अपने आप में एक विशेष उदाहरण है। भास्कर बुवा ने एक तपस्वी जीवन व्यतीत किया और अपनी सारी ऊर्जा और प्रयास कला और संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए समर्पित कर दिया। दुर्भाग्य से भास्कर बुवा की कोई भी आवाज ऑडियो प्रारूप में उपलब्ध नहीं है परंतु उनकी गायिकी की गूंज और शास्त्रीय संगीत की समृद्धि के लिए किए गए उनके अथक प्रयास के किस्से आज भी संगीत के बुजूर्गों से प्राप्त होते रहते हैं।

ग्वालियर घराने के संगीत पर उनके द्वारा लिखी गई एक आधी-अधूरी पुस्तक को भास्कर बुवा की भतीजी शैला दातार जी ने पूरा और प्रकाशित किया है। संगीत के विद्यार्थियों के लिए भास्कर बुवा का

जीवन एक आदर्श है। इतनी कम उम्र में भारतीय संगीत के लिए अमूल्य योगदान देने वाले संगीत के महान विद्वान भास्कर बुवा का 53 वर्ष की अल्पायु में 8 अप्रैल 1922 को निधन हो गया। हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत और मराठी नाट्य संगीत में उनके योगदान के लिए सारा संगीत जगत उनका ऋणी है और हमेशा रहेगा। देवगंधर्व पं. भास्कर बुवा बखले को बारम्बार प्रणाम।

सन्दर्भ :

1. कुमार प्रसाद मुखर्जी, कुदरत रंग बिरंगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 21
2. कुमार प्रसाद मुखर्जी, कुदरत रंग बिरंगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 21
3. कुमार प्रसाद मुखर्जी, कुदरत रंग बिरंगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 35
4. कुमार प्रसाद मुखर्जी, कुदरत रंग बिरंगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 40
5. कुमार प्रसाद मुखर्जी, कुदरत रंग बिरंगी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 18

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. 1& Some immortals of hindustani music] Susheela mishra] Harman publishing house] New delhi] 1990] page number 87
2. Between two tanpuras] Vaman Rao h-Deshpande] Papular prakashan] Bombay [1989] page number 44
3. कुदरत रंग बिरंगी, कुमार प्रसाद मुखर्जी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 पृष्ठ संख्या 17

शास्त्रीय संगीत में लोकसंगीत के तत्व

दीपक कुमार यादव
शोधार्थी, गायन विभाग
संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 रशमिका मिश्रा
शोध निर्देशिका, सहायक आचार्य,
संगीत अनुभाग, महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध सार

अनादिकाल से ही भारतीय संगीत में लोकसंगीत का विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मध्य काल से लेकर आधुनिक काल तक शास्त्री रागों में लोक का ही प्रभाव रहा है। लोकसंगीत को शास्त्रीय संगीत प्राण माना जाता है। आधुनिक काल में बहुत सी लोकधुने आज शास्त्रीय का रूप लिये हुए है। लोकसंगीत की प्रकृति जन्म से लेकर मृत्यु तक जनरूचि में समाहित रहता है। लोकसंगीत समाज की आइना है। प्रस्तुत शोध पत्र के अंतर्गत भारतीय शास्त्रीय संगीत में लोकसंगीत के तत्व का वर्णन करने का प्रयास किया गया।

सूचक शब्द

लोकसंगीत, शास्त्रीय संगीत, राग।

शोध प्रविधि :

प्रस्तुत शोध पत्र के लेखन हेतु विविध पत्रिकाओं एवं पुस्तकों से तथ्य सामग्री एकत्रित की गयी है।

शोध उद्देश्यः प्रस्तुत शोध पत्र के लेखन का मुख्य उद्देश्य भारतीय शास्त्रीय संगीत में लोकसंगीत का योगदान एवं तत्वों को जानना था।

भूमिका :

संगीत कला मानव जीवन का अभिन्न अंग है अनादिकाल से मनुष्य के हृदयगत भावों को व्यक्त करने के लिए संगीत एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रयोग होता रहा है तथा विश्व के अनेक विदानों ने भाषा से भी पहले संगीत को स्वीकारा है। अर्थात् जब मानव को भाषा का ज्ञान नहीं था तब वह अपने भावों को संगीत द्वारा व्यक्त करता था। संगीत का विकास प्रकृति के गोद में पले मनुष्य के प्रयत्नशील होने से ही पनपा है और सदा से ही मनुष्य के हृदय को झंकृत और मन को अनन्दित करता आया है। मानव के जन्म के साथ-साथ ही संगीत का भी जन्म हुआ और सभ्यता के विकास के साथ-साथ ही संगीत का भी विकास हुआ।

वैदिक काल से ही भारतीय संगीत दो धराओं में शास्त्रीय संगीत एवं लोकसंगीत के रूप में प्रवाहित होता आ रहा है। ऋग्वेद की ऋचाओं के संगीमय परायण से संगीत का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद में गीत के लिये गीर, गातु, गाथा, गायत्र गीति आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। जिसका गायन धार्मिक व लौकिक समारोह में गायकों के द्वारा किया जाता था। यजुर्वेद के अनुसार सामगान शास्त्रीय संगीत एवं गाथा नाराशंसी लोकसंगीत के रूप में प्रचलित थे। भारतीय संगीत की आरम्भिक अवस्था में साम संगीत मार्ग, संगीत था और गांधर्व संगीत, देशी संगीत था।

वैदिक काल तक ये दोनों परम्पराएं (साम तथा गांधर्व) परस्पर अलग-अलग रही। साम संगीत (मार्ग) वैदिक महर्षियों द्वारा तथा गांधर्व संगीत (देशी) व्यवसायी गांधर्व द्वारा गया-बजाया था। रामायण तथा महाभारत काल तक गांधर्वों का समावेश मार्ग संगीत में होने लगा। इस संबंध में मानवीय तथ्य यह है कि मार्ग तथा देशी यह संज्ञाए परस्पर अनुरूप हैं। दोनों मूलतः जन-संगीत पर अधारित होने के कारण देशी संगीत की ही शाखाएं हैं। शास्त्रीय संगीत (देशी संगीत) सदैव अपना जीवन रस लोकसंगीत से लेता रहा और आप को समृद्ध करता रहा है।

शोध विषयः भारतवर्ष में लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत का संबंध अत्यधिक आकर्षक एवं सौन्दर्य युक्त है। शास्त्रीय संगीत एवं लोकसंगीत एक-दूसरे के पूरक होने के साथ स्वतंत्ररूप से भी प्रवाहमान है। लोकसंगीत की परम्परा को स्वतंत्र रूप से देखे तो यह परम्परा अत्यधिक समृद्ध और विशाल है। लोकसंगीत समाज का दर्पण है। भारत अनेक प्रकार की संस्कृतियों का एक रूपी संगम है। यहां भिन्न-भिन्न प्रकार की जनजातियां है जिनका रहन-सहन, रिति-रिवाज एवं भाषा में विभिन्नता है। इन्हीं विभिन्नताओं के आधार पर अलग-अलग प्रांतो में लोकधुनों का निर्माण होता है। लोकधुनों में प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, तड़पन, कसक, मादकता, उल्लास, राग-विराग इन्ही सारे भावों के साथ-साथ इनमें करूणा, हास्य, श्रृंगार और विरता का रस समाहित रहता है।

शास्त्री संगीत और लोक संगीत एक ही वृक्ष के दो शाखाएँ है। शास्त्रीय संगीत की प्रेरणाश्रोत व्यक्ति और शास्त्र है एवं शास्त्र के नियमों में बंधा शास्त्रीय संगीत स्वतंत्रतापूर्वक विचरने का अधिकारी नहीं है, यही लोकसंगीत में अगर देखे तो इनके प्रेरणाश्रोत जन-मानस है इसका विकास व संचरण क्षेत्र अधिक विकसित है। शास्त्रीय संगीत के प्रयोग एवं जानकारी के लिए शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता होती है और विशिष्ट अभ्यास क्रम से गुजरना पड़ता है। वही लोकसंगीत में प्रयोग एवं परिक्षण के लिए किसी भी शास्त्रवत ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है और लोकसंगीत सामुदायिक भावना का शास्त्रीय संगीत में शास्त्र के नियमों का पालन करना पड़ता है पर लोकसंगीत में जनमानस की भावना समुदाय की धरोहर मानी जाती है। इसका विकास क्षेत्र अधिक विकासशील तथा व्यापक है। संगीत में अनेक शास्त्रकारों और विद्वानों के अनुसार लोकसंगीत शास्त्रीय संगीत का बीज रूप है। शास्त्रीय संगीत ने लोकसंगीत से अनेको धुने लेकर अपने-आप को समृद्ध किया है जो कल्पना से परे है। लोकसंगीत को ही शास्त्रीय संगीत के मूल्य रागों का जन्मदाता माना गया है।

जैसेः- राजस्थान का माँड, उत्तर प्रदेश की कजरी, ब्रज की होरी, महाराष्ट्र की लावणी, पंजाब का माहिया, टप्पा, हीर इत्यादि जो हमारे भारतवर्ष के अलग-अलग प्रांतो के लोकधुन जो कि हमारे शास्त्रीय संगीत के अधिकांशतः काफी, खमाज, भैरव, बिलावल आदि थाटों के अंतर्गत आती है।

पंजाब की हीर लोकसंगीत में शास्त्रीय संगीत की राग भैरवी से मेल खाता है। हरियाणा का झूला लोकसंगीत जो कि सावन मास में गाया जाता है इसके स्वर राग आभोगी से मिलता-जुलता है। राजस्थान के लोकगीतों में हरजस, झूमर, जागड़ा आदि धुने है जो राग भूपाली के स्वरों से मिलता है। यहाँ की प्रचलित मॉड गान शैली है जो खमाज थाट की पुरी छाया देखने को मिलती है पहाड़ी लोकधुन पहाड़ी राग से मिलता-जुलता है। पंजाब की हीर लोकधुन राग भैरवी से मेल खाता है।

अगर हम शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत के पारस्परिक संबंधों पर दृष्टिपात करें तो यह पाया जाता है कि लोकसंगीत जब समृद्धि की पराकाष्ठा तक पहुंचा जाता है तब उसमें से कुछ सामान्य नियमों को एकत्र कर के उस संगीत के शास्त्र का निर्माण किया जाता है और तब लोकसंगीत ही शास्त्र की उँगली पकड़कर शास्त्रीय संगीत का रूप ले लेता है।

विद्वानों के मतानुसार :

13वीं सदी में पं0 शारंगदेव ने अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर में लोकसंगीत को देवी संगीत के रूप में परिभाषित करते हुए कहा है कि ''जो संगीत भिन्न-भिन्न राज्यों व प्रांतो के लोगों की रूचि के अनुरूप विकसित होता है कठोर नियमों से मुक्त व जनसाधारण को मनोरंजित करता है देशी संगीत कहलाता है। गुरूदेव रविन्द्रनाथ टैगोर संगीत को संस्कृति का सुखद संदेश देने वाली कला है लोक संगीत''[5]

पं0 ओमकारनाथ ठाकुर जी के कथनानुसार ''देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोकसंगीत है।''[4]

कुमार गंधर्व जी के अनुसार हम लोकधुनों में रागों को छिपा पाते है अगर उन्हें पकड़कर हम सामने प्रस्तुत कर देते हैं तो उनका शास्त्रीय पक्ष सामने आ जाता है।

जर्मन विद्वान भ्नतकम- ''ऐसा संगीत जो अज्ञात रचनाकार द्वारा रचित हो तथा विशेष रूप से किसी सम्प्रदायों में चली आ रही विशेषताओं का वर्णन करता है तथा विदित रचनाकारों द्वारा रचित संगीतज्ञों कि किसी देश या राज्य की लोक परम्परा का अंग बन गया हो लोकसंगीत कलहाता है।''

पं0 जवाहर लाल नेहरू ''लोक कला में हमको अपने उस सांस्कृति वैभव को देखन का अवसर मिलता है जिसने हमारे देश को एकता के सूत्र में बांधा है।''

लोकगीतों के स्वरों के अध्ययन करने से पता चलता है कि आधुनिक शुद्ध थाट के स्वर उनके सार्वभौंम है और उनकी स्वरावलियों में भूपाली, दुर्गा, सारंग, पहाड़ी आदि औऽव राग-रागनियों की स्पष्ट झलक मिलती है यानि हम अनुमान लगा सकते है कि इन्हीं स्वरावलियों के आधार पर शास्त्र ने उक्त रागों का निर्माण कर डाला तथा शास्त्रीय संगीत का रूप बन डाला।

लोकगीतों में अधिकतम रागों के अर्धसप्तमक तक ही प्रयुक्त होते है जैसे सा से म था सा से पंचम तक। शास्त्रकारों या ग्रंथकारों ने इन्हीं चतुष्कों को जोड़ कर राग का सम्पूर्ण एक सप्तमक बना दिया और उसे राग का नाम दे दिया। शास्त्रीय संगीत में कला पक्ष तथा लोकसंगीत में भावात्मक पक्ष की प्रधानता पायी जाती है इसलिए लोकसंगीत के अधिक से अधिक लोकप्रिय होने का सम्भवतः यही मुख्य कारण हो सकता है। शास्त्रीय संगीत सर्वगेय नहीं है क्योंकि नियमों में परिधि में बंधकर रंजकता प्रदान करने की सामर्थ्य कठोर और कड़ी साधना के पश्चात् ही गायक को प्राप्त होती है। लोकसंगीत का हृदय इतना विशाल है कि वह किसी भी सरल व सुमधुर ध्वनि को आत्मसात करने से पीछे नहीं हटता किन्तु शास्त्रीय संगीत के कलाकारों में अधिकांश परम्परावादी, तो कहीं-कहीं पर रूढ़िवादी भी है जो किसी प्रकार के परिवर्तन को उचित नहीं समझते।

अतः स्पष्ट रूप से कह सकते है कि शास्त्रीय संगीत व लोकसंगीत दो पृथक धाराएँ होते हुए भी एक दूसरे से सदैव प्रेरणा लेते रहे है। ये सर्वविदित है कि शास्त्रीय संगीत का आधार लोकसंगीत है अर्थात् लोकसंगीत से ही शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति मानी गई है। लोकसंगीत की लोकप्रियता का मुख्य कारण उसमें लोकजीवन की संपूर्ण संवेदना तथा निष्कपट अनुभूतियों की सरल व स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। दूसरी तरफ शास्त्रीय संगीत विद्वान मुनीषियों के द्वारा परिष्कृत, परिमार्जित, शास्त्राधारित, शास्त्रों के नियमों के अनुकूल विशेष नियमों में बंधा है यह एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् ये कहना उचित होगा कि लोकसंगीत ही शास्त्रीय संगीत का प्राण है।

निष्कर्ष :

आधुनिक समय में जो शास्त्रीय संगीत प्रचलित है यह मार्गी नही देशी संगीत का परिवर्तन किया गया रूप है और नियमबद्ध है। सभी तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रीय संगीत लोकसंगीत का ही

परिवर्तित रूप है। यदि यू कहा जाए कि लोकसंगीत सीधी सादी निष्कपट जननी है और शास्त्रीय संगीत इसकी सुशिक्षित, सुसंस्कृत सन्तान है तो कोई संदेह नहीं है।

वास्तव में प्रकृति प्रदत्त लोकसंगीत का विकसित और व्यवस्थित रूप ही शास्त्रीय संगीत कहलाता है। लोकसंगीत यदि प्राण है तो शास्त्रीय संगीत को उसका शरीर कह सकते है। शास्त्रीय राग गायन में अनेक राग लोकधुनों से लिए गए तथा अर्धशास्त्रीय संगीत की विभिन्न शैलियों जैसे- ठुमरी, टप्पा, होरी, चैती आदि भी लोकसंगीत की ऋणी है।

शोध ग्रंथ सूची

1. लोक और लोकसंगीत, पं0 ओमकारनाथ ठाकुर, पृ0 36
2. हिन्दुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास, सुनंदा पाठक, पृ0 57, 1755 संगीत, लोकसंगीत अंक जनवरी, 1966 श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग
3. संगीत कला विहार, मार्च 2008, मार्च 2007, दिसम्बर 2006
4. भारतीय संगीत का इतिहास, डा0 ठाकुर जयदेव सिंह, शरदचन्द्र, श्रीधर पराजपे, पृ0 60, 63, 243
5. छायानट पत्रिका, अंक 78, पृ0 18
6. राजस्थानी लोकगीतों की शास्त्रीयता, डा0 लवली शर्मा, डा0 ईश्वर सिंह खींची, पृ0 28, 248, 249
7. बंगाल का संगीत गुरू रविन्द्रनाथ टैगोर, पृ0 108
8. उदघृत ब्रज लोकसंगीत- जर्मन विद्वान हर्डर, पृ0 41
9. भारतीय लोकसंगीत संरक्षण, संवर्धन एवं सम्भावनाएं, वीणा श्रीवास्तव
10. संगीत विशारद- बसंत
11. निबंद्ध संगीत, संकलनकर्ता- लक्ष्मीनारायण गर्ग।

ठुमरी

कविता तिवारी
शोधार्थी

नटन क्रिया के भेदों में नृत्य को भावाश्रित कहा गया है। अतः नृत्य का प्रमुख कार्य भावों का गीत के शब्दों के अनुसार प्रदर्शन हैं- नंदिकेश्वरजी ने लिखा हैं -

''नृत्यं गीताभिनय भावलालयुतं भवेत्
आस्येनालम्बयेद्गीतं हस्तेनार्थ प्रदर्शयेत्
चतुभ्यां दर्शयेद् भावं पादभ्याम् तालमाचरेत''

अतः गीत का अभिनय भाव और ताल से करते हुए स्वयं गाते हुए हाथों की मुद्राओं से गीत के शब्दों के अर्थ दिखाना चाहिए और आंखों से भाव व पैरों से ताल देना चाहिए। गीत के अर्थों को ही अंग, प्रत्यंग व उपांगों द्वारा प्रदर्शन ही नृत्य हैं। 1 (दाधीच पुरू) 111

हमारे यहां प्राचीन काल से स्त्रोतों पदों, अष्टपदियों, प्रबंधों, ध्रुपद, होरी, कजरी, धमार, कवित्त, सवैया आदि अवधी व ब्रज भाषा आदि में गीतों पर नृत्य करने का प्रचलन हैं किन्तु विगत 200 से 300 वर्ष पूर्व से ठुमरी गायन व नर्तन का प्रचलन काफी फलीफूल हैं। यह मुख्यतः श्रृंगार प्रधान व नायिका भेदों के आधार के साथ हृदय को छू लेने वाली भक्ति परक रचनाएं बनाई गई है, जो भैरवी, पीलू देश तिलक, कामोद, भैरवी, मन्च, तिलांग, जोगिया, रागों में गाई जाती है। स्थाई और अंतरा दो भागों में इन्हें गाया जाता है।

ठुमरी श्रृंगार रस से ओत-प्रोत हिन्दुस्तानी संगीत की आधुनिक शैली मानी जाती है। प्रियतम के प्रति नारी प्रेम यही ठुमरी गायन का मुख्यतः विषय होता हैं। ध्रुपद गायन में नारी का प्रेम कम, ख्याल में अधिक और ठुमरी शैली में अत्याधिक दिखाया जाता हैं, साथ ही कोमल भावनाओं की अधिकता होती है, यदि इसे स्त्रीशैली कहा जाए तो अतिश्योक्ति व अनुपयुक्त भी नहीं होगा। 22 (कारबल लीला) 15

ठुमरी का शाब्दिक अर्थ :

ठुमरी की गीत शैली में अधिक चंचलता के विशेष परिप्रेच्छ में ठुमक-ठुमक ठुमरी का विधान बताया गया है। प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में छलिका नाम की गायन शैली थी जिसमें अभिनय गान का प्रचलन था यह कृष्ण के काव्यों में छलिका को देखने को मिलता है और जब यह परिवर्तित रूप में धुनों पर आया तभी यह छलिका से छलिया हो गया। और इसका अंतिम भाग छल भाव दिखाए जाने से छालिका हो गई। छल भाव इसलिए कहते है, इसमें कुछ होता नहीं है, लेकिन मन छलिया है, अच्छे से छलो का भाव बताया जाता है। अतः इसका जो अभिनय करता है, उसे छलिया कहते है। कृष्णा को इसलिए छलिया कहा जाता है, क्योंकि वह अपनी मनोभाव को व्यक्त करने का हर संभव सात्विक प्रयास करते है। कालीदास के मालविका नाटक द्वारा प्रस्तुति में प्राकृत भाषा छलिक का सुन्दर वर्णन है ''छालिका'' यह गंधर्व शैली थी।

संस्कृत में छालिका, हिन्दी में चंचलता के कारण इस गीत का चंचल गुण होता है। यदि शरीर अंग से देखे तो ठुमक से ठुमका बना, ठाह शब्दों की भावनात्मक अभिव्यक्ति के लिए चंचलात्मक स्वरूप को लागू कर

स्वरों के माध्यम से ठुमकर का निर्माण एक-एक बार से जब ज्यादा जब प्रयोग होता है। तब ठुमक शब्द का भेद सामने निकलकर आता है।

दूसरी ओर से ठुमरी, तोमरी तोम से ते भैरवी राग। तोमरी भाषा से ध्रुपदांगी नियम की कोमलता दिखती है। मानसिंह तोमर स्वयं ध्रुपदगायक थे। भैरवी राग का स्वर बड़ा मनोहर था, जो विवादी था। इस नए स्वरूप का नाम तोम से तोमरी पड़ा। 3 (कारवल) 15

ठुमरी शब्द से देखें तो गीत का चंचल गुण गीत का हिन्दी पक्ष। हिंदवी शिक्षा में ख्याल की क्षुद्रता का गुण का प्रयोग होता है। नृत्य पक्ष से ठुमरी में बोल बाट आता है, और जब गीत का बोल बाट करते है तो यह ध्रुपदांग ठुमरी कहलाता है। बोल बांट की ठुमरी में चंचलता का गुण होता है। वंदिश तथा बोलबांट शैली में कोठीवाल भोलानाथ पारंगत थे।

ठुमरी का पहला शब्द ठु (ठुमक) चाल लय और ताल में चलते हुए कल्पना की गहराई में नृत्य करना (म) मन और ह्दय को शब्दों द्वारा रिझाना जिसका अर्थ :

1. मीड के साथ गेमक लेकर स्वरों को बोलना
2. मीड के साथ खटके को जोड़ना
3. मीड के साथ मुर्की को जोड़ना

आऽऽऽऽ नऽऽऽऽ ऊपर से नीचे सुर

इस प्रकार ठुमक भावना की अभिव्यक्ति का ठुमक-ठुमक शब्द का प्रयोग करते है। इस प्रकार इस शैली को ठुमरी कहते है। 4 (कारवल) 16

गायकी का ठुमका :

ठुमरी का जन्म (पूरब) बनारस घराने में हुआ ना कि पंजाब प्रांत में। जैसा की प्रचलन में कहा जाता है। ठुमरी गायन के लिए तबला की अच्छी शिक्षा की आवश्यकता होती है क्योंकि पद विक्षेपन में लग्गी/कौन सी लगेगी। यह गत में कैसे जाएगी, इसकी समझ आवश्यक है। यही पूर्व की ठुमरी जब पंजाब में जाती है तो दाना स्वरों को श्रुतियों से तोड़कर लगाने की परंपरा होती है। इसमें आयता/कुमद्रता/मंदा आदि श्रुतियां जिनके अलग-अलग नाम, जातियां व भेद हैं। इन्हीं भेदों में गुणात्मक रसाभिव्यक्ति बताने का विधान है। इसी से ठुमरी में शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थो में प्रयोग करने का अभिनयात्मक माध्यम है।यही आधार हमारे ठुमरी गायन के अभिनय पक्ष का आधार बनाता है। जिसे लखनवी अंदाज में उर्दू में अदा कहते है। जैसे - ''अल्लाऽऽऽऽ ये अदा'' लखनवी व बनारसी ठुमरी में अन्तर कैसे समझें -

1. लखनवी - ठुमरी की अदाकारी में 'शेर' का प्रयोग किया जाता है, तभी उसमें लखनवी का रूप निखरता है, इसका परिधान भी ठुमरी की प्रस्तुति में चार चांद लगा देता है।
2. बनारसी ठुमरी - इसे भाव प्रधान और धार्मिक पक्ष के साथ प्रस्तुत करते है। लास्य नृत्य का प्रभाव ज्यादा रहता है। कहरवा ताल में चाल करते हुए दोहा पढे जाते है। पुरूषों व स्त्री अंगहारो में भी बहुत अन्तर होता है। 5 (श्रीवास्तव) 43
3. पंजाबी अंग ठुमरी - पंजाबी अंग ठुमरी, भावना की अभिव्यक्ति व गुरूमति सिख पंथ से इसका संगीत प्रभावित है। ठुमरी की चपलता व रसीले स्थान पर भक्ति प्रधान हो जाती है। यहा कीर्तन की सवद की पीढ़ी चलती है। कवित्त सवैये पंजाबी होते हैं, पंजाबी अंग की गायकी में इन्द्रप्रस्थ मत काफी आधारभूत हैं। इसमें जितना ध्रुपद प्रभावी था उतना ही ख्याल भी प्रभावी था।

गायकी के अंग में इन्द्रप्रश्थ मत को संगीत का योगदान था। ख्याल, तराना, कौल, कलवाना, कव्वाली, इन्द्रप्रस्त संगीत के बेसिक आधार थे। अलाउद्दीन के समय में इन्द्रप्रस्त मत की अधिष्टाता गोपाल नायक ने संगीत पक्ष को समृद्ध बनाया। नायक गीत में महारथ (एक्सपर्ट) थे। इन्हें दक्षिण भारत में नायक की उपाधि मिली थी।

वही उ.प्र. के संगीत सहयोगी अमीर खुसरो थे। वे 8 से 9 ईरानी राग को ही सूफी में प्रयोग कर शेरो शायरी में प्रयोग करते थे। इसी का मिला-जुला (खिचड़ी) स्वरूप पेश करते थे। इसी संगीत का प्रभाव ठुमरी गायन व गायकी में पड़ा जो कि वर्तमान संगीत का आधार है, और प्राचीन संगीत से अलग होने का बहुत बड़ा कारण भी है।

हिन्दुस्तानी संगीत का आधार : 3 ग्राम 49 कूट तान तकनीकी भेद है। षड़ंज, रिषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत्, निषाद, देवलोक की श्रुति कल्पना ठुमरी गायन व वादन मध्यम् ग्राम में आधारित होता था। जिसे भैरवी, पीलू, खमाज, काफी आदि रागों में गाया जाता था। हिन्दुस्तानी संगीत (खण्डित करना या तोड़ना) 49 कूट तान का विधान (कैसे बना) 7 स्वर - स, रे, ग, म, प, ध, नी हर प्रत्येक स्वर को 7 प्रकार से घुमाते हुए विस्तार करते है जिसके संज्ञा, क्रिया, विशेषण, इसके गुणात्मक पक्ष है।

सरेग रेगम गमप मपध पधनी धनीस.....

सरे रेग गम मप पध धनी नीसा.....

सरेगम रेगमप.....

सरेगमप रेगमपध गम पधनी.....

सरेगमपध रेगमपधनी.....

2. ठुमरी का भाषा पक्ष :

1) बोल बनाव के भेद (भाषिक, शाब्दिक, स्वरात्मक, कलात्मक)

2) बोला बनाव का आकार पक्ष - भाव पक्ष, कलात्मक पक्ष, स्वर पक्ष

3) ठुमरी का कलात्मक पक्ष

भाव पक्ष व स्वर पक्ष के कलात्मक पक्ष का प्रयोग जिस तरीके से करते है, अभिव्यक्ति को भी उतने ही प्रकार से व्यक्त कर पाते है। यही ठुमरी का आधार बनता है। जिसके लिए ताल और तबले की समझ आवश्यक है।

राग का चुनाव :

1. बोल बनाव
2. बोल भाव
3. तंत्रीबोल

बोलबनाव के भेद :

1. भाषिक पक्ष :

भाषा की दृष्टि से दिमाग से निकलने वाले भाव अलग तरह के होंगे। मन की दशा में चित्त बदलता है, दुख की दशा में भाव परिवर्तित होंगे। कोमल भाव में मन की स्थिति के अनुरूप भाव परिवर्तित होंगे।

1. भाषा बोल - संस्कृत, हिन्दी, उर्दू
2. छंद भेद :
   1) मात्रिक छंद-तलात्मक छन्दात्मक
   2) वार्णिक छंद -सार्थक, निरर्थक
3. पटाक्षरी बोल - लहरे व तबले के बोल
4. तंत्री बोल - तराने के बोल
5. नृत्यांगी बोल - तबले के बोल, ततकार स्वरूप, नृत्यांगी बोल, गतभाव के हिसाब से तबला व लहरा

2. शाब्दिक पक्ष :

कलात्मक पक्ष : आंखों को नाक से (गति देना), आंखों को भौह से (नैनन कमान, जुगुप्सा), आंखों को भाल से (चिंता), प्रत्यंग उपांगों द्वारा ठोड़ी (चिढ़ाना) और कान से (नैन मटक्का) दुसरे के हाँव-भाव, बात सुनने के लिए कान लगाना) जोड़ने की कला आना अतिआवश्यक है।

बोलबनाव का आकार पक्ष :

1) स्वर पक्ष

2) भाषा पक्ष,

3) कलात्मक पक्ष, बोल बनाव के अंतर्गत आते है।

इनके सम्मिलित प्रयोग से अभिव्यक्ति की व्यन्जनात्मक और लक्षणात्मक शब्द शक्ति की आधार शिला बन ठुमरी का रूप निखरता है, जो ठुमरी को व्यक्त करने सशक्त माध्यम है। अर्थात् एक ही शब्द की भाव अभिव्यक्ति में क्रमशः लक्षणा, व्यंजन की गहराई में जाने का प्रयास है। ताल व तबले की समझ अति आवश्यक हैं।

स्वरों का पक्ष :

1. गुलाम अली खां की शैली
2. कव्वाल बच्चों के घराने की शैली
3. ख्याल गायकों की ठुमरी गायन शैली
4. ध्रुपद गायकों की ठुमरी गायन शैली
5. नर्तकों की गायकी की ठुमरी गायन शैली

भाषा बोल - संस्कृत, हिन्दी, उर्द :

1. **भाषा बोल (संस्कृत) -** कथक नृत्य पर भाषा का प्रभाव गायन शैली के अनुरूप पद, ठुमरी, ख्याल, ध्रुपद, प्रबंध यह बोल का भाषिक पक्ष है। संस्कृत के प्रबंधकाव्य, गीतगोविंद, राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती पर आधारित विषयों को, नृत्य के आधार रूप में, प्रस्तुतिकरण का आधार बनाया।
2. **हिन्दी -** क्षेत्रिय भाषा के साथ-साथ हिन्दी साहित्य के कवित्त, सवैयों में नायिका भेदों का रोचकपूर्ण अभिनय होता है।
3. **उर्दू -** मुगलों के दरबार में कथक पर उर्दू साहित्य का प्रभाव आज तक देखने को मिलता है। लखनवी ठुमरी, गजल, शेर, और शायरी भी कथक में भावों को दिखाने का माध्यम है। शब्द भाषा में होता है, भाषा को बोल से अलग करने पर भी उसमें भावों द्वारा भाषित होता है।

भाव में पटाक्षरी बोल :

1. लहरे का बोल
2. तबले का बोल
3. तंत्री बोल - मुंह से बोले जाने वाले को तंत्री बोल कहते हैं।

नृत्यांगी बोल - ततकार स्वर नृत्यांगी बोल है। इसमें गतभाव गतनिकास प्रमुखता से करते हैं। ताथेईथईतत लयभेद कलात्मकता, पैर के कायदे, पलटा, लट, उलट, पलट के बाद तिहाई करते है। (श्रीधर रामचन्द्र) लट - लय बांट, पेशकश, लयकारी, 1/2, 3/4, 1 1/2, 1 1/4, 3,4 गत आधार है - बोलताल नृत्य पक्ष है। उलट - ताली खाली का भेद है। इसी प्रकार उलट होती हैं। पलट - 2, 4, 8 गुना होती है। विभिन्न पलटे तिहाई के साथ करते हैं। सुलट - लग्गी, लड़ी, बांट क्रम से तिहाई, दमदार, एक तिहाई को हर मात्रा में फिट करना यह पारंपरिक शिक्षा का अप्रचलित आधार है। किदवंती- भवन आक्रमण 9 मन जनेउ उतरवाने के कारण यह शिक्षा की प्रथा समाप्त हो गई है। 6 (महाडिक प्रकाश) 57

''ठुमक-ठुमक ठुमका, ठुमरी लियो गाय, भेदन के भेद को नायिका बताए। मुंह बोल छोड़ मुखन में आवत है, मुख चलन के चाल ठुमरी कहावत है। चारो पट की गायकी हर घराने का, तबला भाषा का बोल गाने में प्रयोग।'' अतः ठुमरी, ठुमकने शब्द से ही जन्मी है। अर्थात् यह गायन शैली नृत्य के लिए ही बनाई गई है। महाराजा बिंदादीन महाराज ने 1500 से अधिक ठुमरियों की रचना की। उन्हीं की ठुमरियां आज नृत्य में भाव बताने का आधार और पर्याय हैं। वे एक-एक शब्दों पर 100-100 नजाकत संकेत से भावों को दिखाने में माहिर थे। श्रृंगार, भक्ति काव्य, रति काव्य का मिला-जुला स्वरूप उनकी रचनाओं में दिखता है।

लखनऊ घराने में भावों को व्यक्त करने लिए विचारों के साथ संकेतों के माध्यम की अभिव्यक्ति के साधन के लिए प्रयोग करना शुरू हुआ। जैसे - त्रिगन की चपलता को दिखावत हैं एसो, भेद भेद भाव भेद डारत है एसो। कभी नयन अंग देख, ललचत सुकुमार सो नयन भेद देखन दिखावत है एसो।

अर्थात् गाने की व्याख्या ही नृत्य कहलाने लगा। धीरे-धीरे भाव प्रदर्शन इन्हीं तरीकों से विकसित होते हुए कथक शैली में भावों का प्रदर्शन इन 7 विधियों द्वारा किया जाने लगा। नयन भाव, बोल भाव, अर्थ भाव, सभा भाव, नृत्य भाव, गतअर्थ भाव, अंग भाव आदि।

1. नयन भाव :

अभिनय दृष्टि से भाव व अभिनय दिखाना अभिनय भाव से नयन भाव का भेद है अपने चितवत नैनो के द्वारा अपनी बात को समझाने की कला है। नैत्र की पुतलियों के संकेत से सामने वाला बात समझता है।

''नैनन कमान वान गारत हैं एसो, गौरी देख-देख ललचत है एसो नैनन की नीक-नीक नैन एसो राजत हैं, राधा संग श्याम जू मधु हाथ में विराजत है।''

मध्यकाल की उर्द नयन भाव में नजर झुकी तो अदा होती है, नजर उठी तो कज़ा होती है। नजर घूमी रक्ष्क होता है, इसलिए पर्दानशीन बानो 'दिलदारी' बईमान से ईमानदार बनाती है।

नाक भौं सिकोड़ना वाचिक लय गत भाव हैं यहां यह ध्यान रखना है कि, नृत्य बैठकर या खड़े होकर ही करना है। किसी भी प्रकार के पैरों चलन क्रिया वर्जित है। आंखों से कटाक्ष या भाव दिखाते हुए गाल में गड्ढा होने चाहिए जैसे - औठ काटना, औठो को हिलाते हुए भाव बताना, बात नहीं करने का भाव, जाओ हठो, बताने का भाव आदि नयनों द्वारा सुख-दुख शान्त, शयन (आराम) नयन (उठना) के भाव बताना।

नयन के वर्णन में नायिका कहती हैंः-

''नयन सलोने सुकुमार अधिक, मृग नयन देख डरत हैं अधिक'' मृगनयन देख डरत हैं बहुत, राजन के नैन हरत हैं बहुत इस प्रकार नयन द्वरा भाव दिखाया जाता हैं।

2. बोल भाव :

अपने नैनो के बाणों द्वारा दर्शकों का हृदय अपनी ओर बांध लेने के पश्चात, ठुमरी के शब्दों को, भावों के अनुसार, उतार चढ़ाव को मुद्राओं द्वारा, भाव भंगिमा से व्यक्त कर, एक ही बोल को, अनेक, प्रकार से, व्यक्त कर, नर्तक परिपक्वता व कल्पनाशीलता का परिचय देता है।

अर्थभाव - एक-एक शब्द को बोल भाव द्वारा शब्द रचना से परिचित कराने के बाद, नर्तक उनके अर्थों की गहराई तक जाने का प्रयास मुद्राओं द्वारा ही नही, वरन् स्वयं ही विषय का स्वरूप बन, दर्शकों को भावों की चरमसीमा तक ले जाकर रसों से सरोवार कर, रस प्लावित कर देता है।

''हो गई अराध्य मैं, अराध्य करते-करते (महादेवी वर्मा)''

व्याकरण की दृष्टि से विशेष, विशेषण विशेष्य क्रिया के भाव भेद से गाने की क्रिया में बदलने का क्रियात्मक पक्ष प्रचलन में है।

''नींद न आवे सांवरियां''

नैनन नैऽऽऽऽनन, नीर न आवे सावरियां नीर न आवे सावरिया''

बोल का भिन्न तरीके से अर्थ के भाव को व्यक्त करने की तीन परिस्थितियां है।

किसका अर्थ - शब्द बोल का

योग - विशेष तरीके से आता है। लिखा नही जाता अर्थ भाव का विशेष है।

नैंनन नींद न आए सावरियां (वियोग है)

ये दिख नही रहा किंतु जो अर्थ दिखाना चाह रहे है, उसकी अभिव्यक्ति विशेष है।

विशेषण - विशेषण की विशेष जगह में ही वियोग अभिव्यक्ति का माध्यम रहता है।

विशेषण - नैनो का स्थान **''विशेष''** दिन, रैन, नैन बरसत है।

सभा भाव - सभा का शाब्दिक अर्थ बैठक, मण्डली, महफिल, जमाव, सदन व सभा है, सभा कई शब्दों में अभिव्यक्त है।

दरबार - गोष्ठी

दर्शक - आधुनिक (वर्तमान मंच)

खुला मंच - प्राचीन रूप (गोविंद गढ़ फोटो)

चौगान - आधुनिक पक्ष

दर्शक व कलाकार के मध्य सीधे संवाद स्थापित होता है। तब दर्शक स्वयं को उस अभिव्यक्ति अथवा उस वातावरण का पात्र समझने लगता है। उनके बीच का द्वेत, भाव समाप्त हो, दोनोंएक ही भावास्था में आनंदित होने लगते है। 7 (दाधीच) 113

5 सभाभाव में संबंध (नर्तक और दर्शक) :

दर्शक कलाकार का प्रोग्राम देखता है, सुनता है। अतः दरबार में साधना का प्रदर्शन हो रहा है। पैर में 500 घुंघरू (क्षमतानुसार) बांधे जाते है, 1, 2 या 3 घुंघरू ही बजेगा, में निपुणता, उसकी साधना के साथ छंद के बोल पर लय की साधना के प्रत्यक्ष दर्शन देख, दर्शक भी मंत्रमुग्ध होकर, उस वातावरण के भीतर, स्वयं का अनुभव करने लगता है।

नृत्य भाव :

नटन भेद - नट, नाट्य, नृत्य नृत्त (वर्तमान परिप्रेच्छ में नृत्यपक्ष)

नट का अर्थ भाव - अंगों द्वारा नृत्य भाव आंगिक अभिनय है। आंगिक अभिनय की अभिव्यक्ति का माध्यम।

जाति - नट शब्द जाति क्रिया कथा से जुड़ती है। नटन के रूप में नट-नटनी, नायक-नायिका - राधाकृष्ण (आत्मा आत्मियता का बोध)

नृत्य - भावों का अभिनय होता है नट व्यक्ति नटन की क्रिया बताता है, तथा नटनी शब्द से भी संबोधित करते है, यह भी गुणवत्ता के रूप में है। नृत्य एक नटन शब्द का भैद हैं अतः नृत्य में 'य' प्रत्यय लगता है तब नृत्य बनता है।

'ह' प्रत्याहार, नियम में 'ट' तीसरी वर्ग हैं, त व्यंजन है। अतः नट का ही परिवर्तित रूप नृत है।

गतअर्थ भाव - गति का ही अपभ्रंश गत है। गत का ही शाब्दिक अर्थ गति है। गतनिकास में गायकी की ओर, और गायकी में गत की ओर जाते है। इसमें किसी नृत्य के बोल के हिसाब से गतभाव या गतनिकास पकड़ते है जिसमें लड़ियों के हिसाब से कथा दिखाते है। जो दर्शकों को आनंद की ऊंचाई तक ले जाती है। जहां विलंबित लय में भाव दिखाते हुए, कहरवा में दोगुनी लय में पहुंचते हुए लग्गी लड़ी का चमत्कार दिखाते हैं। नर्तक पल्टा लेते हुए गत निकास या गतभाव के माध्यम से राधा कृष्ण के प्रेम, श्रृंगार, विरहावस्था आदि की कथा चरित्रों को दिखाता है।

अंगभाव - आंगिक अभिनय का ठुमरी के अभिनय के अनुरूप शब्द के भिन्न-भिन्न संयोग से नए-नए भाव को अंगों द्वारा बताया जाना ठुमरी के विशेष परिप्रेच्छ में किया जाता है। अंगभाव ठुमरी में होठो द्वारा गीत के बोल, हाथों की मुद्राओं द्वारा गीत के अर्थ, पैरों द्वारा ताल दिखाते हुए नयनों से भावो की क्रिया एक साथ चलती है। दर्शक रस के सागर में डूबकर आनंदमय हो जाता है। इस प्रकार नृत्य की समाप्ति होती है। (दाधीच) 113

इस प्रकार ठुमरी में नारी अपने प्रियतम के प्रति आशा, भय, इच्छा, हर्ष तथा उससे मिलने की इच्छा का वर्णन तथा सब भावनाओं को प्रकट करने के लिए गति के शब्दों पर निर्भर होती है- प्रशिक्षित ठुमरी गायिक के गायन से शास्त्रीयता का अंश समा जाता है। ताल, अलाप, बोल बनाव, से विस्तार किया जाता है, जिसका प्रभाव लय पर आधारित होता है। नृत्याभिनय के अनेक माध्यम है (जैस कजरी, होरी, चैती, दादरा, गतभाव, निजार, गतनिकास, स्त्रोत, भजन इत्यादि) जो कथक में अभिनय का माध्यम बनाते है।

भाव प्रदर्शन की इन 7 विधियों का अनुपात अलग-अलग दिखता है। अभिनय करने में भी अलग विभिन्नताए है। अतः अलग से आवश्यकता है, कि किस प्रकार स्रोत में मुद्रा, अंग, प्रत्यंग, अभिनय के तरीके के अनुरूप भाव दिखाते है। दूसरी ओर गतभाव मूक अभिनय होता है, लय-ताल होता है, गीत नही होता है, अलग-अलग माध्यम है। अभिनय का अलग-अलग अनुपात होना चाहिए। अतः अध्ययन की अधिक आवश्यकता है।

कथक के अभिनय पक्ष के जो माध्यम है कजरी, होरी, चैती, गतभाव, गत निकास, स्तोत्र, भजन, ध्रुपद अष्टपदी, प्रबंध अनेक माध्यम है जिनकी अभिव्यक्ति अलग-अलग होती है। इस समय इसका विस्तारपूर्वक अध्ययन की आवश्यकता हैं कि इसके भेद, प्रभेद को सामने लाया जाये।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. दाधीच पुरू, कथक नृत्य, इन्दौर, बिन्दु प्रकाशन, 2014, हिन्दी
2. कारबल लीला, ठुमरी परिचय इलाहाबाद संगीत सदन प्रकाशन, 2011, हिन्दी
3. कारवल लीला, ठुमरी परिचय, इलाहाबाद, संगीत सदन प्रकाशन, 2011, हिन्दी
4. कारवल लीला, ठुमरी परिचय, इलाहाबाद, संगीत सदन प्रकाशन, 2011, हिन्दी
5. श्रीवास्तव हरिशचंद्र, कथक नृत्य परिचय, इलाहाबाद, संगीत सदन प्रकाशन, 2010, हिन्दी
6. डॉ महाडिक प्रकाश, तंत्री वाद्य की वाद्य कला, मुंबई, केन्द्र हिन्दी निर्देशालय मानव संसाधन विकास मंत्रालय नई दिल्ली, 2001
7. दाधीच पुरू, कथक नृत्य, इन्दौर, बिन्दु प्रकाशन, 2014, हिन्दी

Depiction and Celebration of Vasant Ritu in The Songs of Gurudev Rabindra Nath Tagore : An Overview

Nibedita Shyam
Research Scholar
Department of Vocal music
Faculty of Performing Arts
Banaras Hindu University

Prof. (Dr.) Sangeeta Pandit
Dept. of Vocal Music
Faculty of Performing Art
Banaras Hindu University

Abstract

One among the six seasons of nature, spring is a representation of the arrival of the new, rebirth, joy and love. The most symbolic representation of spring is the appearance of buds, young leaves, clear blue skies which indicates a symbol of life. In any art form, the season spring has always got a different place. The depiction of spring has been represented differently by different forms of art. In this paper, the focus will be on art form of the renowned poet and musician, Gurudeva Rabindranath Tagore to whom spring was so different that even he celebrated the arrival of spring as a big festival. The depiction of spring in his songs and the celebration of the spring is mainly focused upon.

Keywords

Spring, Love, Art, Tagore, Life.

Introduction :

"There, the blue horizon has caught fire with the color of the flowers

In this spring, the flame of the fragrance has awakened

The Sky is bewildered with abundant of colors, thinking, "has the

Sunlight got bound on Earth?"

Translated from one of thesongs of Rabindranath Tagore "Neel digante oi phuleragunlaglo, boshontesourabher shikha jaglo".The arrival of the Vasanta Ritu (Spring Season) was always festive to Rabindranath Tagore. One of the greatest Artist of all times Rabindranath Tagore, widely known as "Vishwakavi" (World poet) was a Bengali poet, writer, painter, composer and became one of the voice of the world. He was the first non-European to be awarded the Nobel Prize in literature in 1913 for his book Gitanjali: Song Offerings. Tagore was born in Jorasakothakurbari of Calcutta (now known as Kolkata) and belonged to a family of musicians and scholars. He was

a polymath. His works consists of not only songs but poetries, novels, drama, and paintings too. He primarily worked with two subjects- Human beings and Nature. Human beings-the being and the becoming of human beings and Nature with all its beauty, and the relationship of nature with human beings.

Tagore's songsis popularly known by the name "Rabindra Sangeet". With around 2,230 songs to his credit, his songs cover the topic of every aspect of the human life including, Romance, love, Humanism, Structuralism, Divinity, Modernism, Introspection. All his songs are compiled in the books named "Gita Bitan." Tagore's songs are very versatile in nature as it consists of amalgamation of every musical genre in the world starting from the west to the east. During his travel of all over the world, he met the musical narratives of the west, of South India, and all these are reflected in his songs. It is often quite difficult to extract the meaning of the texts of Rabindranath Tagore but what peoples find truly great is that his songs are identifiable with everymood, every possible situation that a person encounters in his personal, cultural, social life. His writings were mainly influenced from the Upanishads. His songs are classified into six different categories. These are – Puja (worship), Prem (Love), Prakriti (nature), Anushthanik (occasion- specific), Swadesh (Patriotic), Bichitro (miscellaneous) . These categories are known are "Parjay". Under the category of nature of, he has written different songs for seasons where Vasant (spring) is one of the most attractive of all as it indicates love, romance, beginning of the new. Spring in his songs has got a different picture altogether where we get to see the description of the scenic beauty of the nature, the impact of the season on human beings, and how the behaviour, expression, emotions of humans are intimately related to nature. His celebrations of Vasanta (spring) through the songs depicts his love for nature, humanity, and art. Vasanta ritu to him was always festive and joyful.

Rabindra Sangeet and The Celebration of Vasant Ritu :

Since childhood, Tagore was inclined towards nature. In his early years of education, he avoided learning in classroom the same philosophy of education which is followed in his institution where classrooms are taken in natural environment under trees. He believed that Nature is the greatest of all teachers. The wide-open skies, spaciousness and the tranquility of the nature has been an inspiration for his artworks. Tagore has composed a total of ninety sixsongs on the season of Vasant Ritu (Spring season). The thematic descriptions of the songs include love, romanticism, mind filled with happiness with the advent of the new, the blossoming of the flowers, the chirping of the birds, the joyfulness of the nature etc. Some of the following are the list of his songs from the subcategory of "Vasanta" and the English translation :

1. Ore grihobashikholdwarkhollaglo je dol
2. Ore bhai Phagunlegeche bon e bon e.
3. PhagunHawayHawaykorechi je dan
4. EktukuChoalageektuku kotha shuni
5. Jodi Tare naichini go seki
6. Nil digante oi phuleragunlaglo
7. Labonyepurnoprano

All these are the scenic descriptions of the nature with the arrival of the spring. The first song "ore grihobashikhol-darkhol" is one of his most famous songs. The song goes like this :

"Ore grihobashikholdarkhollaglo je dol

Stholejole bono tole laglo je dol

Ranga hashirashirashiashokepolashe

Ranga neshamegh e meshaprovat o akash e

Nobinpatailagerangahillol

Dar kholdarkhol"

It says, "the home dwellers to step out of their doors as the season of colors as arrived. Everywhere there is the season of colors, the land, the waters, the forest floor. Loads of crimsons blossoms of Ashok and Palash flowers. It seems that they all are smiling. (Ashok and Palash are name of flowers in Bengali which occurs particularly during the season of spring. Pictures are represented in Fig 1& Fig 2.). "Grihobashi" represents the home-dwellers. "Dar khol Dar khol" means to step out of the doors of home. This song represents the welcome song for the spring in which addresses the home dwellers to step out of the doors (which deeply means, to step out of the everyday routine life and start afresh with the arrival of the spring season which starts anew).

Fig. 1. Palash flower

Fig. 2. Ashok flower

(https://commons.wikimedia.org/wiki/File:STS_001_Butea_monosperma.jpg#/media/File:STS_001_Butea_monosperma.jpg)

One of the songs named "ektukuchoyalage" describes about how spring in his mind has been filled with the touch of spring and how hears the words of nature and how in the corners of his mind the spring draws its picture. The song "ekilabonyepurnoprano" he says, how wonderfully is the creation filled with full of beauty, with the onset of the spring. These are several descriptions of his songs with shows his inclination and love towards the nature and the beautiful portrayal in the form of art. In most of his songs he has described the beauty, that arises in the nature with the arrival of the spring season. Not only that, his songs expresses that the spring season along with its beauty also fill the minds of peoples with colors which should be seen and appreciated.

Also, Tagore was very much influenced by Hindustani Classical music. Some of his songs of Vasanta Ritu are also based on ragas of spring season. For ex-one of his songs named "Aji eigondhobidhurosomirone, karshon-dhanefiri bone bone" which says, whom do I look for in the forest, in which spring

has arrived with all its essence is based on Raag Basant and Paraj. Along with the season, he has also used ragas of the season in the application of melodies.

Celebration of Vasant Utsav in Santiniketan : The Cultural Expression of Bengal :

The place Santiniketan is situated in Birbhum district, West Bengal. This town is the home to the university, Visva Bharti, which was created by Rabindranath Tagore.It is generally called by the mass peoples Santiniketan- abode of Peace. The origin of the university dates back to 1853 when Tagore's father was given a tract of land at Raipur, Birbhum, West Bengal and he set up an Ashram there. The ashram was first called Brahmacharya Ashram with only five students andlater on came to be known as Brahmacharaya Vidyalaya. In the later period the university was developed in 1921. Santiniketan is different in many ways from any other universities because of the rural trappings which Tagore had always dreamt of. The classes are still held in open air under the natural shade of the trees so that students from childhood can develop a relation with nature.It celebrates various festivals among which Vasanta utsavis one of its famous. The festival of Holi, is celebrated as 'Vasanta utsav'. This festival was introduced by him in 1920s, which shows his love for the season of the spring. Spring in this festival is celebrated as the season of colours. In the university, programs are organized for this festival which starts early in the morning. the celebration starts with a long procession across the university with the musical dance followed by his songs (image shown in Fig 3.). As the colour of spring is generally considered yellow, students participating in this festival wears yellow outfits. It starts with the famous song "ore grihobashikholdarkhol" and ends with the song "Rangiyediyejaojaojaogo" (paint my soul with colours before you go). Most of his composed songs for the season of spring are sung. This festival is celebrated as a form of welcoming spring (vasanta) with a great fervor. Tagore philosophy of education was harmony with nature. His educational philosophy consists of developing an individual in a holistic way which should be so such that one is able to develop oneself harmoniously with nature. Vasanta utsav in Santiniketan is celebrated so that students studying in his institution knows to appreciate the various colours of nature. Being an artist from the core of his being, Tagore celebrated spring in the form of Vasanta Utsav which became one of the biggest cultural expressions of Bengal. Not only in songs, he celebrated spring in his poetries, paintings, novels, dance-dramas too.

Fig.3. (Cultural procession of Vasant utsav at Santiniketan)

(https://www.google.comurl?sa=i&url =https%3A%2F%2Fwww.telegraphindia.com %2Fwest-bengal%2Fbasanta-utsav-venue-shifted-not-date%2Fcid%2F1744443&p sig=AOvVaw3j55tirCRqED4czBWYT_LY& ust=1672462668526000&s ource=images &cd=vfe&ved =0CBAQjRxqFwoTCKDdz YzHoPwCFQA AAAAdAAAAABAE)

Conclusion :

In conclusion, the season of spring was festive to him in a way which he can celebrate it with different art forms. The depiction of spring in his songs indicates how much he was deeply in love with nature and the celebration of 'Vasanta Utsav' in his university with the grandeur depicts how he wanted people to learn the festivity of nature and celebrate nature. As spring comes with a new vibrant look, a fresh energy, clear blue skies with a sense of festivity and romanticism with it so also people should bring such joys in their life and fill their lives with colors of the spring. Tagore in his art works comprehends that the spiritual being's power and grace can only be felt when one is in communion with nature. Not only for the season of spring, but he has written songs for each and every season of the nature. The beauty of every season can be found in his songs, poetries, dance-drama. Even human behaviour along with the change of the seasons has also been described by Tagore in his art works. However, the description of spring season in Rabindra sangeet is yet another different viewpoint that can be found in this genre of art which can mesmerize people in a whole new different way

References :

1. Dyson, K.K. (2001), "Rabindranath Tagore and His World of Colours", Parabaas.
2. Bandhyapadhyay, C. (1993). Rabindra Prasanga: Anandabazarpatrika 13th March 1992- 21st March 1932 (4 vols.). Kolkata: Ananda Publisher's Private limited.
3. Bishi, P. (1944). Rabindranath o Santiniketan. Kolkata: Visva-Bharati Granthana Vibhaga.
4. Biswas, Apurba. (1996). Ritusangeete Rabindra-kabimanas. Kolkata: dey's publishing.
5. Roy, S. (1997). Prakritirgaane Rabindranath. Kolkata: Anima prakashani.
6. Bishi, P. (1944). Rabindranath o Santiniketan. Kolkata: Visva-Bharati Granthan
7. (https://www.google.com/url?sa=i&url=https%3A%2F%2Fwww.telegraphindia.com%2Fwest-bengal%2Fbasanta-utsav-venue-shifted-not-date%2Fcid%2F1744443&psig=AOvVaw3j55tirCRqED4czBWYT_LY&ust=1672462668526000&source=images&cd=vfe&ved=0CBAQjRxqFwo TCKDdzYzHoPwCFQAAAAAdAAAAABAE)

Shabari – In Valmiki Ramayana and in Tyagaraja's Composition

R. Nandhini
Ph.D. Scholar
Research advisor, Department of Music
Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women, Coimbatore (Tamilnadu.)

Dr. V. Janaka Maya Devi
Professor and Head,
Research advisor, Department of Music
Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women, Coimbatore (Tamilnadu.)

Abstract

Shabari an elderly woman ascetic was an ardent devotee of Rama (Vishnu Incarnation), the hero of the epic Ramayana. Asa result of her devotion towards Rama, he blessed her by appearing toShabari's hermitage and blessed her with salvation. Despite the hurdles she faced, she was awaited for Rama's arrival. She was portrayed for her bhakthi on Rama.

Valmiki composed the well-known epic Ramayana in Sanskrit. The third kanda (Aranya Kanda) of that epic contains the Story of Shabari. In a couple of songs,Tyagaraja—one of the Trinities of Carnatic Music and an ardent Rama devotee—honouredShabari'sbhakthi.This article is going to discuss about Shabari'sbhakthi in the following aspects

- *Story of Shabari in Valmiki Ramayana*
- *Shabari in Tyagaraja'skriti*
- *Word by word meaning of the kriti*
- *Song tatparya*
- *Scholar's perspective*

Keywords

Shabari, Rama, Ramayana, Valmiki, Tyagaraja, Bhakthi

Introduction :

The Ramayana was written between the 7th and 4th centuries BCE. All of the characters in the Ramayana are unique individuals. Sita, Lakshmana, Hanuman, and Shabari were all different in the ways they showed love and devotion to Rama. Shabari stood unique among the other characters as being an ardent devotee. Her Guru Rishi Matanga instructed her to wait for Rama's arrival. As per her Guru's advice, she resided in a forest. She patiently waited for countlessyears till Rama's arrival. Finally she received

Rama's dharshan and she acquired freedom from the cycle of birth and death and attained mukthi.

Story of Shabari in Valmiki Ramayana :

Chapter 74 in the Aranyakanda of Valmiki Ramayana have a detail description about Shabari and her bhakthi. Valmiki wrote this chapter with 35 verses. Sita, the wife of Rama, waskidnapped by Ravana in Ramayana, Rama and his brother Lakshmana searched for Sita in the Dandakaranya forest. At that time, they eliminate Kabanda, a demon with lengthy arms. After the elimination, the demon Kabanda resolved to his original form of divine deva. He tells Rama that a Rishi cursed him as punishment for his wrong doings and transformed him into a demon. He then advised Rama to go south direction to find Sita. He also mentioned that, there is a hermit woman named Shabari whom Rama ought to visit.

They arrive at the foot of the Rishya-Mukhaparvat hills. They saw Matanga's ashram there. They are tenderly approached when they get closer by an elderly woman who was a disciple of the late Rishi Matanga. Rama and Lakshmana were both welcomed by Shabari into the ashram. They were given a seat and water.

Shabari, while she was a young woman and lived in the ashram of Rishi Matanga, she was the disciple of Rishi Matanga. Once it was time for the Rishi to complete his life, he informed Shabari that in the future, Maha Vishnu in the human form would come to his ashram. Shabari must greet him and provide for his needs by offering hospitality, food, water, and other amenities.

Rama and Lakshmana were brought along, and Shabari showed them Matanga's lovely hermitage and described its splendours. Rama was over-whelmed by Shabari'sbhakthi. She was told to wait for Rama by Matanga muni when she was a young woman. Rama, however, arrived after she had grown extremely old. She lived with the sole purpose of waiting for Rama. She waited for a several years. She picks the fruits and veggies from the jungle and cleans the hut every day. Rama was very enthused by Shabari's adoration for him. Shabari requested a death which gives salvation for her soul to be where her masters are. Rama granted her request as a boon for her bhakthi. Thus she attained Mukthi.

Shabari in TyagarajaKritis

The kritiEntani ne Varnintunu song which was set in Mukhari raga, is an example taken by the scholar to highlight how Shabari was portrayed by Tyagaraja for her bhakthi.

Ragam: Mukhari (22th Mela janyam)

Aro: S R2 M1 P N2 D2 S

Ava: S N2 D1 P M1 G2 R2 S

Talam: Rupakam

Pallavi :

Entani Ne Varnintunu Shabari Bhaagyam

Anupallavi :

Daantula Vara Kaantalu Jagamanta NindiUndaga-

Charanam :

Kanulaara Sevinchi Kammani Phalamula Nosagi Tanuvu Pulakarincha

Paadayugamulaku Mrokka Ina Kulapati Samukhambuna Punaraavritti

Rahita Padamunu Bondina Tyaaga-raajanuturaali Punyambuna

Word by word meaning :

entani - how much

ne - shall i

varnintunu- describe

bhagyamu- the blessedness of shabari

dantula - of ascetics

vara - a while blessed

kantalu - wives

jagamanta–throughout the earth

nindiundaga -abound

how much shall I describe the blessedness of Shabari

kanulara – content

sevinci - beholding literally worship

kammani - him the sweetest

phalamulanuphalamulanosagi–fruits and osagi – offering

tanuvupulakarinca - such that she had horripilation

pada yugamulaku - his feet

mrokki- worshipping

ina - of solar

kula - dynasty

pati - of srirama – the chief

samukhambuna -in the very presence

punar-avrttirahita - of non-return

padamunu - the state

pondina - attained

Tyagarajanuturali -praised by this tyagaraja who

punyambunu - the merit

Song Tatparya :

Tyagaraja states in this kriti that he lacks the words to adequately convey the virtue that Shabari possessed. She literally had Rama's dharshan through her eyes. That is the priceless treasure that only one in a million people would acquire. She also had the chance to offer Rama with the fruits. Who will ever experience such good fortune? She also bowed down before Rama's holy feet. Rama granted her salvation as a reward for her dedication. Tyagaraja praises Shabari.

Scholar's Perspective :

- **Obedience** - The most important thing to take away from Shabari is to follow strongly to the instructions of the Guru.
- **Waiting, regardless of time** - Rama arrived when Shabari was old, although she had been waiting since she was a young woman.
- **Patience during waiting** - She lived her entire life waiting for Rama as her Guru had instructed her to do. Everyone admired her for her patience as she waited for Rama.
- **Cleanliness** -She clean the hermitage every day and she used to gather delicious fruits and vegetables from the jungle, as she expected Rama's arrival everyday.
- **Belief in Guru's word** - Regardless of whether Rama arrived or not, she performed the same duty every day like routine task. Even though it took her time to wait for Rama's arrival, she had a strong belief in her Guru's word.
- **Creditable credit** - It is a great honour for Shabari to get salvation from Rama.
- **Horripilation** - It is a horripilation moment when thinking about such incidents.

- **Goal and determination** –Shabari's story makes it quite evident how important it is to be determined to achieve one's goals. Here, Shabari's determination resulted to accomplish her goal.

Conclusion :

Rama is the main subject of Valmiki's Ramayana and Tyagaraja. Even though Shabari is a regular laywoman, she has high goals. Both the renowned scholar Valmiki and the greatest Carnatic composer Tyagaraja praised Shabari's Dasyabhakthi. Tyagaraja also wondered Shabari's excellent deeds for obtaining the opportunity to see Rama.

Shabari picked the fruits and cleaned the area every day without any reluctance. The goal of obtaining salvation has finally been accomplished by Shabari. She had a pure and good heart.

This story helps us understand how much patience and determination needed to accomplish a goal.

References :

1. Dr.A.A.Manavalan- Ramkata and Ramayanas- Institute of South Indian Studies, Chennai- first edition, December-2005. P – 4
2. T.K Govinda Rao- Compositions of Tyagaraja- Ganamandir Publications, Chennai second edition 1999.
3. https://www.karnatik.com/c2304.shtml
4. Adi TyagarajaHrithayam – Sangita SahithyaVidwan K.V. Srinivasa Iyangar-Adi&Co, 1st edition, 1 January 1985

शास्त्रीय संगीत में बंदिशों का बदलता स्वरूप

(पद्म विभूषण डॉ. प्रभा अत्रे द्वारा निर्मित तान प्रधान बंदिशों के विशेष संदर्भ में)

डॉ. ममता रानी ठाकुर
निर्देशिका
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)

राम नारायण झा
शोधार्थी
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)

भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रबंधों या गीत-शैलियों के विभिन्न प्रकार पूर्व से ही प्रचलित रहे हैं।

वैदिक काल में ऋक्, पाणिका और गाथा जैसे गीतों के बाद 7 गीतों का प्रचलन भरत-पूर्व काल में हो चुका था। मंतग के समय तक देशी संगीत में विभिन्न प्रबंधों का जैसे कन्द, आर्या, गाथा, द्विपदी, त्रिपदी, चतुरंग इत्यादि का निर्माण हो चुका था।

भरतमुनि ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में कहा है-

गांधर्व मिति तज्ज्ञेयं स्वर ताल पदात्मक्म

अर्थात् गांधर्व को स्वर, ताल और पद का संग्रह कहा है।

यह स्वर, ताल पद आज के बंदिश रचना के आधार स्तंभ है। हमारे यहाँ गान के दो भेद माने जाते है निबद्ध व अनिबद्ध गान। शास्त्रीय संगीत में सौंदर्य को विविध रूपों में प्रदर्शित करने के लिए 'बंदिश' या 'चीज़' का विधान किया गया है जिसे निबद्ध गान के अंतर्गत माना जाता है। बंदिश शब्द का व्यवहार ख्याल शैली की रचनाओं के लिए प्रारंभ हुआ।

वर्तमान समय में बंदिशों का महत्व संगीत में दिनोदिन बढ़ रहा है एवं अनेक कलात्मक बंदिशें विभिन्न कलाकारों द्वारा सुनने को मिलती है।

शास्त्रीय संगीत में लगभग सभी घरानों द्वारा अपनी शैली के अनुरूप कईं बंदिशों की रचना की गई जिससे शास्त्रीय संगीत की राग परम्परा को तो संरक्षण मिला ही साथ ही भिन्न शैलियों में रचनाओं का निर्माण कार्य भी हुआ। ये रचनाएँ ही संबंधित घरानों का प्रतिनिधित्व कर रही है।

संगीत के क्षेत्र में गायक-वादक कलाकारों की तुलना में बंदिशों की रचनाकारों की संख्या कम है फिर भी समय-समय पर विभिन्न संगीतज्ञ अनेक बंदिशों की रचना करते रहे। जिसके फलस्वरूप बंदिशें अगली पीढ़ी तक हस्तांतरित होता रहा है। बंदिश एक ऐसा माध्यम है जिससे राग परम्परा का संरक्षण संभव है। ख्याल की बंदिशों की रचना एवं प्रचलन का श्रेय सदारंग को दिया जाता है। आज प्रायः हर घरानों में इनकी बंदिश गाई जाती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक घराने की अपनी बंदिशें भी है। परंतु किराना घराने में अधिकतर पारम्परिक बंदिश ही गायी जाती रही हैं।

आज के समय में वरिष्ठ गायिकाओं में किराना घराने की प्रतिनिधि पद्म विभूषण डॉ. प्रभा अत्रे का विशेष स्थान है। डॉ. प्रभा अत्रे अपनी सहज एवं कलात्मक बंदिशों के कारण कला मर्मज्ञों के साथ-साथ सर्व साधारण श्रोताओं को भी सम्मोहित करती रही है। सौंदर्यवादी दृष्टिकोण, शब्दों का कर्णप्रिय स्वरूप, एक ही राग में विलंबित एवं द्रुत बंदिशों में एक ही विषय पूरक भाव, राग के समय को ध्यान में

रखकर किया गया शब्द संयोजन, ताल को ध्यान में रखते हुए लय के साथ अठखेलियाँ, छोटी एवं बड़ी तानों का प्रयोग करते हुए अनेकों बंदिशों की रचना की। जैसे भैरव राग में झपताल की ओम नमो शिवाय, नट भैरव में तीनताल की बाजे डमरू, बसंत मुखारी में आज घर आये मोहन श्याम, वृन्दावनी सारंग में साँवरिया अब तो आजा, राग कल्याण में जय जय श्री गणेश, मधुकौंस में आज मंगल दिन, राग चंपाकली में साँवरिया घर नही आया, राग शंकरा में शिव हर हर महादेव शंकर, राग दुर्गा में माता भवानी काली, देस राग में कारे बदरा आरे राग केदार में परम सुख पायो मनवा, राग चंद्रकौंस में जा जा री जा बलमा, राग कौशिक रंजनी में मंदिर ना आए श्याम सलोने इत्यादि। बंदिशों में प्रभा जी ने विविध तानों का प्रयोग कर बंदिश को अत्यंत प्रभावशाली बना दिया, जिस कारण बंदिशों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी की इन बंदिशों को उनके अतिरिक्त अन्य गायक-गायिकाएँ भी अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते है उदाहरणार्थ-

राग भैरव, झपताल

स्थाई- ओम् नमो शिवाय, ओम् नमो शिवाय।

अंतरा - ओम् नमो शिवाय, ओम् नमो शिवाय।

स्थाई

ध	–ध	प	–	प	गप	मम	पप	मग	रेसा
ओ	ऽम	न	–	मो	ढिा–	ऽऽ	वा–	ऽऽ	यऽ
×		2			0		3		
सा	–सा	ध	–	ध	धरें	सांसां	सांनि	धप	मम
ओ	ऽम	न	–	मो	ढिाऽ	ऽऽ	वाऽ	ऽऽ	यऽ
×		2			0		3		

अंतरा

म	–म	ध	–	ध	सां	सां	रें	–	सां
ओ	ऽम	न	ऽ	मो	ढिा	–	वा	ऽ	य
×		2			0		3		
सारें	गंमं	मंग	रेंसां	सांसां	धरें	सांनि	धप	मग	रेसा
ओऽ	ऽम	नऽ	ऽऽ	मोऽ	ढिाऽ	ऽऽ	वाऽ	ऽऽ	यऽ
×		2			0		3		

इस बंदिश में एक मंत्र (ओम् नमो शिवाय) को स्थाई अंतरा दोनों प्रयोग कर राग भैरव, जो भगवान शंकर का रूप है, की आराधना की गई है। स्थाई को भैरव राग के वादी स्वर धैवत से शुरू किया गया है। पहली पंक्ति में ही एक सुन्दर तान दुगुन लय में

गप	मम	पप	मग	रेसा
शिऽ	ऽऽ	वाऽ	ऽऽ	यऽ

लिया गया है। दूसरी पंक्ति सा से शुरू कर फिर छठी मात्रा से

धरें	सांसां	सांनि	धप	मम
शिऽ	ऽऽ	वा	ऽऽ	यऽ

अवरोही तान का प्रयोग किया गया है।

अंतरे में पहली पंक्ति को सीधा रखते हुए दूसरी पंक्ति में तार सां से शुरू करके एक आरोही अवरोही तान इस प्रकार ली गई है-

सारें	गंमं	मंग	रेंसां	सांसां	धरें	सांनि	धप	मग	रेसा
ओऽ	ऽम	नऽ	ऽऽ	मोऽ	शिऽ	ऽऽ	वाऽ	ऽऽ	यऽ

जिससे द्रुत झपताल की बंदिश अत्यंत मनोहारी एवं प्रभावशाली बनी।

राग नट भैरव :

स्थाई- बाजे डमरू डम शिव नाचे रे
संग नाचे सुत गणेश पारवती अरधंग।

अंतरा - सुर नर मुनि जन सब मिल नाचत
मन तन्मय हो पावत।

इस बंदिश में स्थाई की पहली पंक्ति में रेंरें सांनि धप म मप मम की तान लेकर गरे पर सम दिखाया है दूसरी पंक्ति में भी छोटी तान लिया गया और अंतिम पंक्ति में गरे सा गरे गरे गम पध नि सां रेंरें सांनि धनि धप मप मम तानों का प्रयोग किया गया, जिससे राग की चपलता कायम रहे।

अंतरा का उठान सीधा तार सप्तक में एक छोटी तान सारें सांनि से किया गया फिर छोटी-छोटी तानों का प्रयोग करते हुए अंतिम पंक्ति फिर से वक्र तान मप मम गरे गम से प्रारंभ हुआ है और अंत में फिर एक लम्बी तान जो तार सप्तक के गंधार को छुते हुए

सारें	गंरे	सारें	सांनि	धनि	धप	मप	मम
पाऽ	ऽऽ	वऽ	ऽऽ	तऽ	ऽऽ	शिऽ	वऽ

ली गई है।

राग बसंत मुखारी :

स्थाई- आज घर आए मोरे श्याम
सुझत ना मोहे अब कछु काम।

अंतरा - साँवरी सूरत मोहनी मूरत
जित देखु उत श्याम।

इस बंदिश के स्थाई की पहली पंक्ति में एक छोटी तान-

सांनि	धनि	सारें	सांनि
आऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ

का प्रयोग किया गया। दूसरी पंक्ति को साधारण ही रखा गया है। अंतरे के पहले पंक्ति को सीधा रखते हुए अंतिम पंक्ति में एक अलंकारिक तान का सुंदर प्रयोग इस प्रकार किया गया है-

सांनि	धप	निध	पम	धप	मग	रेसा
श्याऽ	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ	मऽ	ऽऽ	ऽऽ

राग वृन्दावनी सारंग :

स्थाई- साँवरिया अब तो आजा
तरप तरप मोरी बीती रैना।

अंतरा - कासे कहु मैं दुःख के बैना
चैन न आवत मोहे बरसत नैना।

इस बंदिश के स्थाई की पहली पंक्ति ही एक सुंदर अवरोही तान

सांनि	सारे	सांनि	पनि	पम
साँ	वऽ	रिऽ	याऽ	ऽऽ

का प्रयोग करते हुए कोमल नि पर सम रखा गया है। दूसरी पंक्ति में छोटी तान का प्रयोग एवं रिषभ पर बंदिश का रूकाव और फिर तार सां से बंदिश का उठना अत्यंत आनंददायक है। अंतरे को सीधा रखते हुए अंतिम पंक्ति छोटी तान

निसा	-नि	सारें	रें
नैऽ	ऽऽ	नाऽ	ऽ

का प्रयोग कर फिर स्थाई का उठान बहुत ही आकर्षक रूप से रची गई है।

राग कल्याण :

स्थाई- जय जय श्री गणेश जय जय
मंगल मूरत मंगल नाम।

अंतरा - हे सुख करता हे दुख हरता
गजानना विद्या गुण दाता।

इस बंदिश का उठान राग कल्याण के चलन को दर्शाते हुए पहली पंक्ति में

गम'	धनि	रेंसां	निध	पप	पम'	गम'	गरे
जय	ऽऽ	ऽऽ	जय	ऽऽ	श्रीऽ	ऽऽ	गऽ

आरोही तान का प्रयोग करते हुए गंधार पर सम रखी गई है। दूसरी पंक्ति को सीधा रखते हुए अंतिम पंक्ति में तार सप्तक के गंधार से

गरें	सांनि	रेग	मंध	सांनि	धप	मंग	रेसा
मंऽ	ऽऽ	गऽ	लऽ	नाऽ	ऽऽ	मऽ	ऽऽ

छुट एवं अवरोही तान का प्रयोग किया गया है।

अंतरे में शुरूआत राग वाचक प सां से साधारण शुरूआत करते हुए अंतिम भाग में

निरें	सांसां	निध	पप
हऽ	रऽ	नऽ	ऽऽ

तान प्रयोग करे दूसरे पंक्ति को तार सां से उठाते हुए एक वक्र तान का सुंदर प्रयोग इस प्रकार की गई है-

सां	निध	पप	गम	गरे	–	पम	गरे	सानि	धप	गरें	सांसां	निध	पम	गरे	सासा
ग	गा–	ऽऽ	नऽ	नाऽ	ऽ	किऽ	ऽऽ	धाऽ	ऽऽ	गुऽ	नऽ	दाऽ	ऽऽ	ताऽ	ऽऽ

राग दुर्गा :

स्थाई- माता भवानी काली, दुर्गा गौरी
विघन हारिणी भव तारिणी।

अंतरा - जगत जननी लछुमी ग्यान देवी सरस्वती
मधुर भाषिणी सुख दायिनी।

स्थाई

														सांसां		धप	मम	रेसा	रे
														माऽ		ऽऽ	ताऽ	ऽऽ	भ
																3			
प	–	–	–	धप	मम	मप	धप	ध	–	–,	प					म	–	मप	धर
धा	ऽ	ऽ	ऽ	नीऽ	ऽऽ	गाऽ	ऽऽ	ली	ऽ	ऽ,	ऽ					ऽ	ऽ	दुऽ	ऽऽ
×				2				0								3			
म	–	–	–	रे	–	सा	धृ	सा	–	सा	ध					म	प	–	ध
गां	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	गौ	ऽ	री	ऽ	वि	घ					न	छा	ऽ	रि
×				2				0								3			
सां	–	धरें	सांसां	धप	मप	धरें	सांसां	धप	मम	रेसा									
णी	ऽ	भरू	ढर	तारू	रऽ	रऽ	रिऽ	णीऽ	रऽ	रऽ									
^				2				0											

अंतरा

														सांसां		धप	मम	प	प
														जाऽ		गऽ	तऽ	ज	न
																3			
सां	–	–	–	ध	–	सां	रें	सां	–	–,	ध					सां	सां	सां	रेंमं
नी	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ल	छु	मी	ऽ	ऽ,	ग्या					ऽ	न	दें	ऽऽ
×				2				0								3			
रेंसां	सांध	–	धसां	धप	मम	रे	रे	प	–	स	ध					म	प	–	ध
वीऽ	ऽऽ	ऽ	सऽ	रु	ऽऽ	ऽ	स्व	ती	–	म	धु					र	भा	ऽ	सि
×				2				0								3			
सां	–	धरें	सांसां	धप	मप	धरें	सांसां	धप	मम	रेसा									
णी	ऽ	सुऽ	खऽ	दाऽ	ऽऽ	ऽऽ	यिऽ	नीऽ	ऽऽ	ऽऽ									
×				2				0											

इस बंदिश में का उठान अवरोहात्मक तान से की गई 13वीं मात्रा से सांसां धप मम रेसा रे लेते हुए पंचम पर सम रखा गया है एवं फिर से धप मम मप धप की तान प्रयोग किया गया है। ऐसा कहा जा सकता है कि बंदिश की पहली पंक्ति तान में ही बंधी हुई है। दूसरी पंक्ति को साधारण रखते हुए अंतिम पंक्ति में एक उठान की तान धरें सांसां धप मप धरें सांसां धप मम रेसा का प्रयोग बंदिश में अत्यंत मनोहारी रूप से की गई है।

अंतरे का उठान भी तान से की गई है परंतु इसमें सांसा धप मम पप लेते हुए सम तार सां पर रखी गई है, दूसरे पंक्ति में भी एक सुंदर अवरोही की तान रेंसां सांध ध-धसां धप मम का प्रयोग और अंत में फिर स्थाई की भांति एक बड़ी अवरोही उड़ान तान का प्रयोग धरें सांसां धप मप धरें सांसां धप मम रेसा किया गया है। बंदिश इतनी अच्छी है कि प्रभा जी के अलावा किराने घराने की मुर्धन्य कलाकार पद्म श्री वेंकटेश कुमार जी से भी इस बंदिश को गाई है।

उपर्युक्त बंदिशों के अतिरिक्त डॉ. प्रभा अत्रे जी की अनेक ऐसी रचनाएँ विद्यमान है। जो तान प्रधान होने के साथ-साथ आकर्षक एवं प्रभावशाली है। जिसे इन बंदिशों को आत्मसात कर गायकी को सुंदर बनाया जा सकता है।

संदर्भ :

1. आचार्य बृहस्पति, नाट्यशास्त्र, 28वां अध्याय, पृ.सं.-11
2. प्रभा अत्रे, स्वरागिनी शब्द स्वर, बी.आर. रिद्म, पृ.-36, 44, 51, 85, 118, 188, 196, 210, 222
3. डॉ. प्रभा अत्रे जी की ऑडियो रिकार्डिंग
4. youtube
   https://youtu.be/EyN-0M93_ck-"kadjk भांकरा
   https://youtu.be/b3yK-h2dHgE-nqxkZ दुर्गा
   https://youtu.be/rjDDImt_hw-uV HkSjo नट भैरव
   https://youtu.be/BruPsaONTq-nqxkZ दुर्गा
5. डॉ. प्रभा अत्रे, स्वरंजनी, द्वितीय संस्करण, बी.आर. रिद्म, पृ.-209, 122
6. ए.एन. क्लासिकल औडियो कैसेट, डॉ. प्रभा अत्रे क्लासिकल व्होकल राग, भैरव, यमन, चंद्रकौंस

श्रृंगार-परक बंदिशों में नायिका भेद

कु0 शालिनी
शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रोफेसर रेवती साकलकर
शोध निर्देशिका, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सार संक्षेप

संगीत में 'गीत' या 'बंदिश' में वर्णित विभिन्न रसों से सम्बद्ध वर्ण्य विषयों में 'श्रृंगार' को रस राज्स्व प्राप्त है तथा श्रृंगार रस में आलम्बन विभाव के रूप में नायक-नायिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। श्रृंगार परक बंदिशों में वर्णित नायिका के विविध अवस्थाओं को नायिका भेद के रूप में में वर्गीकृत किया गया है। श्रृंगारिक बंदिशों के काव्य में चित्रित नायिका के विविध भेदोपभेद, राग रूप में निहित विशिष्ट रसभाव को उद्दीप्त करते हैं तथा मानव चित्त को रससिक्त करने में सहायक हैं।

नायिका भेद जैसे महत्वपूर्ण विषय के सन्दर्भ में विद्वानों के विविध मतों में नायिका की आयु, नायक से सम्बन्ध, सामाजिक प्रतिष्ठा व उसकी विभिन्न अवस्थाओं आदि पर आधारित वर्गीकरण को देखने से ज्ञात होता है कि हमारे आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्मता से इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं साथ ही हमारे वाग्गेयकारों ने नायिका के प्रत्येक भेद के मर्म को समझते हुए बंदिशों में नायिका के विविध अवस्थाओं को चित्रित किया है, जो बन्दिशों की रचना में रचनाकार के विधिनिष्ठ दृष्टिकोण को दर्शाते हैं।

मुख्य शब्द

बंदिश, रस, श्रृंगार रस, नायक-नायिका, नायिका भेद

स्वर संगीत का प्राणतत्व है वहीं शब्द साहित्य की आत्मा है। दोनों के माध्यम में अन्तर है, परन्तु उद्देश्य की एकरूपता से प्रभावित होकर मनुष्य के कलात्मक हृदय ने स्वर तथा काव्य का सुयोग कर संगीत में बंदिशों की रचना की। बंदिश संगीत तथा साहित्य के संयोग का सुन्दरतम परिणाम है जो स्वरों के माध्यम से साहित्य के अन्तर भावों के रसास्वादन में सहायक है। भारतीय संगीत में प्रचलित विविध गायन, वादन शैलियों में बन्दिशों का विशिष्ट स्थान है। ये स्वर, पद तथा ताल के समावेश से सृजित राग रूप का दर्पण होती है। श्री लक्ष्मण कृष्णराव पण्डित के अनुसार 'बंदिश राग का परिधान है, अगर बिना परिधान के राग को प्रस्तुत किया जावेगा तो वह महत्वहीन हो जाएगा, अतः राग-विस्तार असंभव हो जाएगा और जहाँ तक बंदिश की महत्ता का प्रश्न है बंदिशों में राग छिपे होते हैं। एक राग में जितनी बंदिशें सीखी जायेंगी उतने ही प्रकार से राग को प्रस्तुत करने का तरीका मालूम होगा और उसके मुख्य घटक, स्थल तथा अवयवों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी'[1] बंदिश रागरूप के विस्तार का प्रमुख स्रोत है। अतः राग की बंदिश की काव्य रचना भी उसके स्वरों के अनुकूल ही होती है। राग के स्वरों में स्वतः ही कोई न कोई विशेष भाव छुपे होते हैं तथा उन भावों के अनुरूप काव्य रचना श्रोता के चित्त में उद्दिप्त हो रहे किसी विशिष्ट भाव रूपी पुष्प को पल्लवित करने में सहायक सिद्ध होती है जिससे

मानव हृदय उस भाव के विशिष्ट रस का आस्वादन करता है।

बंदिशों में रस का महत्व :

संगीत तथा काव्य का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीत के स्वर तथा काव्य के संयोग से विरचित बंदिशों के श्रवण से सहृदयी व्यक्ति जिस विशिष्ट भाव का अनुभव करता है, वही रस है। साहित्य तथा कला के सन्दर्भ में रस को एक विशिष्ट प्रकार की अलौकिक आनंदानुभूति के रूप में स्वीकारा गया है। ''रस अनुभवगम्य होता है। आचार्यों ने इस दिव्य 'रस' को ही 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है।'[2] रस एक अनिवार्य आनन्द है जिसका अनुभव तो किया जा सकता है परन्तु इसका वर्णन-विवेचन एक अत्यंत दुष्कर कार्य है। फिर भी समय-समय पर इसका आचार्यों ने 'रस' के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने 'रस' का विवेचन प्रस्तुत किया। भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभिन्न आचार्यों व उनके मतों के अनुसार 'रस' की विविध परिभाषाएँ मिलती हैं परन्तु सभी ने इसे एक विशिष्ट अनुभूति के रूप में मान्यता दी है। काव्य रचनाओं में वर्णित विविध विषय किसी न किसी रस पर आधारित होते हैं जिसके पाठन या श्रवण से उस विशिष्ट भाव या रस की अनुभूति होती है जैसे किसी रचना में दो पात्रों के प्रेम का वर्णन हो तो श्रृंगार, तो कहीं किसी प्रतापी राजा के साहस का चित्रण किया हो तो वहां वीर आदि रस का भाव देखने को मिलता है। बंदिशों के काव्य में भी ऐसे ही सुन्दर तथा मोहक विषयों का वर्णन प्राप्त होता है जो उस काव्य रचना के रसानुकूल राग में निबद्ध होती है। हमारे शास्त्रों में तो स्वर विशेष से सम्बन्धित रसों का उल्लेख भी प्राप्त होता है, इन्हीं स्वर गुच्छों से निर्मित रागों में रस भाव का होना स्वाभाविक है। ''प्रत्येक राग के स्वर-विशेष, उनका स्थान (मध्य-तार), उनका गाव, उनकी गति (द्रुत-मध्य-विलम्बित), उनके प्रस्तुतिकरण की शैली का प्रयोक्ता एवं भोक्ता के समक्ष 'राग' की एक निश्चित छवि स्थापित करते हैं और यह छवि किसी 'रस' विशेष से अपना सम्बन्ध जोड़कर राग का 'रस' स्थिर कर देती है। हम मात्र 'राग' के स्वर गाते-बजाते नहीं हैं। 'राग' के भाव का निरूपण भी अभिप्रेत है। 'राग' मात्र गले का व्यायाम नहीं अपितु 'भाव'- 'रस' का वाहक माध्यम है।'[3] उदाहरण स्वरूप शास्त्रों में राग नट को उद्भट योद्धा के रूप में अर्थात् वीर रस के अनुकूल राग के रूप में चित्रित किया गया है वहीं सर्वसम्मति से राग तोड़ी को करूण बताया गया है। रागों की ऐसी ही भाव प्रधानता को आधार मानकर उनकी अधिकतर बंदिशों की काव्य रचना में भी उस विशिष्ट रस की छवि दृष्टिगोचर होती है। वैसे तो एक राग में भिन्न-भिन्न रसों से सम्बन्धित बंदिश रचनाएँ भी प्राप्त होती है परन्तु राग और काव्य में रस-साम्य रखने वाली बंदिशें साधक तथा श्रोता, दोनों के ही चित्रण को रस विशेष के रंग में रंग लेती है ऐसी बंदिशें अधिक प्रभावशाली तथा रस प्रबल होती है।

सांगीतिक रचनाओं में श्रृंगार रस का स्थान :

'रस' मानव हृदय में जागृत विविध भावों का समग्र रूप है। भरत मुनि के अनुसार रसों की संख्या 8 है तथा इन्हीं आठ रसों में एक और रस का योग कर आचार्य अभिनव गुप्त ने रसों की संख्या 9 मानी है। प्रत्येक रस किसी न किसी भाव विशेष से सम्बन्धित है उदाहरणार्थ रति भाव से श्रृंगार रस, हास से हास्य रस, शोक से करूण रस आदि। सांगीतिक रचनाओं अर्थात् बंदिशों के साहित्य का क्षेत्र भी अत्यधिक विस्तृत रहा है। बंदिशों के काव्य में विभिन्न विषयों का वर्णन दृष्टिगत होता है तथा भिन्न-भिन्न विषयवस्तु से सम्बन्धित बंदिशों का सम्बन्ध स्वतः ही विविध रसों के साथ जुड़ जाता है। वैसे तो सांगीतिक रचनाओं में वीर रस, करूण रस आदि का प्रयोग भी विपुल संख्या में देखने को मिलता है परन्तु काव्य-साहित्य के समान ही संगीत में भी श्रृंगार रस की प्रधानता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'रति' श्रृंगार का स्थायी भाव है। सामान्य अर्थ में समझे तो रति से

आशय 'प्रेम' से है। श्रृंगार रस के मूल में प्रेम की भावना निहित है। सम्भवतः इसी कारण श्रृंगार को सभी रसों में प्रधान रस का स्थान प्राप्त है। बंदिशों के वर्ण्य विषयों में ऋतु श्रृंगार, नायक-नायिका का मिलान तथा बिछोह या अलौकिक पात्रों जैसे कृष्ण लीला, राम-सिया आदि से सम्बन्धित बंदिशों का प्रमुख आधार प्रेम ही है जो इन विषयों से सम्बन्धित सांगीतिक रचनाओं का सीधा सम्बन्ध श्रृंगार रस से जोड़ता है। रस की निष्पत्ति में स्थायी भाव (श्रृंगार का स्थायी भाव रति) का स्थान सबसे महत्वपूर्ण होता है तथा ये ''स्थायी भाव विभाव'' के द्वारा जागृत होते हैं। विभाव दो प्रकार के हैं -

1. आलम्बन
2. उद्दीपन

नायक-नायिका आलम्बन विभाव होता है। जब बाह्य परिस्थितियाँ यथा प्राकृतिक सौन्दर्य आदि स्थायी भाव रति को उद्दीप्त करती हैए तो वह उद्दीपन विभाव होता है। श्रृंगार रस के दो भेद माने जाते हैं - संयोग श्रृंगार तथा वियोग श्रृंगार। संयोग श्रृंगार से आशय नायक-नायिका के परस्पर मिलन से है तथा संयोग श्रृंगार के ही विपरीत वियोग या विप्रलम्भ श्रृंगार से आशय प्रिया-प्रियतम् के बिछोह से है। राग हंस ध्वनि में विरचित बंदिश रचना ''आये सजन मोरे मंदिरवा'' संयोग श्रृंगार के उत्कृष्ट उदाहरण स्वरूप उपलब्ध है वहीं राग यमन की अत्यंत प्रचलित बंदिश 'सखि एरि आली पिया बिन' वियोग श्रृंगार को दर्शाती है। भारतीय संगीत में विरचित विविध श्रृंगार-परक रचनाओं में श्रृंगार रस के दोनों ही भेदों (संयोग तथा वियोग) से सम्बद्ध बंदिशें विपुल संख्या में प्राप्त होती है।

नायक-नायिका के विविध भेद :

नायक-नायिका भेद साहित्य तथा संगीत दोनों ही क्षेत्रों में अत्यधिक महत्वपूर्ण विषय रहा है। साहित्य के क्षेत्र में इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ हिन्दी तथा संस्कृत दोनों ही भाषाओं में प्राप्त होते हैं। नायक-नायिका का श्रृंगार रस से स्पष्ट सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। श्रृंगार-परक बंदिशों के काव्य में नायक-नायिका की विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म चित्रण देखने को मिलता है।

सर्वप्रथम भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के 24वें अध्याय में नायिका का निरूपण किया, ''श्रृंगार रस के संयोग तथा वियोग दोनों ही पक्षों का निरूपण इसमें होता है संयोग के अन्तर्गत नायक-नायिका, सखी, दूती का वर्णन किया गया है, जिसमें नायक-नायिका आलम्बन है, सखी, दूती, ऋतु आदि उद्दीपन है।''[4] श्रृंगार-परक बंदिशों में वर्णित कथाएँ लौकिक हों या अलौकिक, उनमें सदैव नायक-नायिका का स्थान विशिष्ट रहा है। लौकिक पात्रों में साधारण स्त्री-पुरुष नायक-नायिका के रूप में दिखाई देते हैं वहीं अलौकिक पात्रों से सम्बन्धित प्रसंगों में नायक-नायिका के रूप में श्रीकृष्ण व राधिका अथवा उनकी गोपियाँ देखने को मिलती हैं। नायक-नायिका किसी भी प्रसंग के प्रमुख पात्र होते हैं जिनकी अवस्थाओं पर सम्पूर्ण प्रसंग का मूल अर्थ तथा रस भाव आश्रित होता है। भरत मुनि ने नायक को नाटका का प्रधान पात्र कहा है क्योंकि सम्पूर्ण रस की निष्पत्ति प्रधान पात्र द्वारा ही होती है। भरत मुनि ने नायिका का सीधा सम्बन्ध श्रृंगार रस से जोड़ते हुए स्त्री को सुख का मूल, काम भाव का आलम्बन मानकर सूक्ष्मता से नायिका के विविध भेदोपभेदों का वर्णन किया है। विभिन्न ग्रन्थों में नायक तथा नायिका के भिन्न-भिन्न भेद वर्णित किये गऐ हैं, जिनके अनुसार नायक के प्रमुख चार भेद माने गए हैं - धीर ललित, धीर प्रशान्त, धीरोदात्त एवं धीरोद्धत। पं0 दामोदर ने श्रृंगार रस के अंतर्गत नायक के चार भेद बताए हैं- अनुकूल, शठ, धृष्ट एवं दक्षिण।

नायक के समान ही विभिन्न ग्रन्थों में नायिका के विविध भेद वर्णित हैं। नायिका वह है जो रूप, गुण, यौवन, प्रेम, शील, वैभव तथा भूषण से सम्पन्न हो। रस दृष्टि से दम्पत्ति में नायिका प्रमुख है। नाट्यशास्त्र में संयोग और वियोग की अवस्थाओं के आधार पर अष्टनायिकाओं का वर्णन प्राप्त होता है। नायक के

साथ नायिका के सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर नायिका के निम्न भेद मिलते हैं- स्वकीया, पर कीया।

स्वकीया नायिका के भी भेद प्राप्त होते हैं मुग्धाए मध्या एवं प्रगल्भा। उपरोक्त कथित नायिका भेद नायिका के आयु पर आधारित है।

श्रृंगारिक बंदिशों में नायिका भेद का स्वरूप :

भिन्न-भिन्न कालों में उपलब्ध साहित्य तथा संगीत के विभिन्न ग्रन्थों में नायिका की सामाजिक प्रतिष्ठा, कहीं नायक से उसके सम्बन्ध, कहीं नायिका की आयु, कहीं रूप तो कहीं उसके गुणों के आधार पर नायिका के विविध भेदोपभेद प्रस्तुत किए गए हैं परन्तु संगीत में नायिका के जिन भेदों का वर्णन देखने को मिलता है वह नायिका की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्धित हैं। नायिका की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएं संगीत काव्य में संयोग तथा वियोग रस की सृष्टि करते हैं। नायिका की अवस्थाओं पर आधारित विविध भेद श्रृंगार-परक बंदिशों के काव्य में देखने को मिलते हैं। श्रृंगारिक बंदिशों में वर्णित नायिका के कुछ प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं -

खण्डिता नायिका - खण्डिता नायिका वह है जिसका प्रियतम अन्योपभोग कर घर आए, जिसका पति परस्त्री से आसक्त हो वह ईर्ष्या भव से कलुषित स्त्री खण्डिता नायिका कहलाती है। संगीत में विभिन्न श्रृंगार-परक बंदिशों में नायिका का मार्मिक वर्णन देखने को मिलता है। राग सोहनी में रचित, यह प्राचीन रचना खण्डिता नायिका की स्पष्ट उदाहरण है -

स्थायी - काहे अब तुम आए हो मेरे द्वारे
सौतन घर जागेए रस पागे अनुरागे जागे।

अन्तरा - झूठी-झूठी बतियाँ करो न मनरंग अब
वही जावों जिन जुबती संग अनुरागे जागे?

वासकसज्जा नायिका - वासकसज्जा नायिका वह स्त्री है जिसका प्रियतम उसके पास आने वाला है और वह पूर्ण वस्त्रालंकारों से सुसज्जित हो रही है और निःशंक भाव से प्रिय समागम की प्रतीक्षा कर रही है। वासकसज्जा नायिका की मनोदशा का मार्मिक चित्रण सदारंग की राग केदार की निम्नलिखित बंदिश में चित्रित है -

'स्थायी - सेज निस नींद न नैनन भावे,
मैका पिया बिन नेक ना सुहावे।

अन्तरा - जैसी फैल रही चाँदनी, तैसो ही आभूषण बनत
बना आसा मेरी महुमदशा
सदारंगीले को देव भेव सेज निस।'[5]

पोषितपतिका नायिका :

पोषितपतिका नायिका के अन्तर्गत उस स्त्री का वर्णन मिलता है जो अपने प्रियतम के परदेस चले जाने के कारण विरहदग्ध हो तथा प्रकृति, ऋतु आदि उसके कष्ट को बढ़ाती है। पोषित पतिका नायिका का स्पष्ट वर्णन सदांरग की निम्नलिखित बंदिश में दृष्टिगोचर होता है -

स्थायी - गरज घटा घन कारे री कारे पावस ऋतु आई
दुलहन मन भाए

अन्तरा - रैन अँधेरीए बिजरी डरावे सदारंगीले ममदसा।
पिया घरे नाहिं।

अभिसारिका नायिका :

अभिसारिका नायिका वह है जो स्वयं अपने पिया से मिलने जाने की चेष्टा करती है। परन्तु मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं। राग जौनपुरी मे विरचित निम्न रचना में अभिसारिका नायिका के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

'स्थायी - पायल की झनकार बैरनियाए झन झन बाजे कैसे मोरे
पिया से मिलन को जाऊँ अब मैं।

अन्तरा - बिरहा से तन ताप तपत हैं अंग.अंग सब लाग रहीला
सदारंग उठत जिया हूक।'[6]

निष्कर्ष :

नायिका भेद जैसे मार्मिक विषय के योग से श्रृंगार-परक बंदिशों के साहित्य में वर्णित नायिका की विविध अवस्थाओं में उसके भावों के माध्यम से राग में निहित रस भाव और भी सजीव हो उठता है। उपरोक्त कथित भेदों के अतिरिक्त भी नायिका के विभिन्न भेद जैसे- आगमपतिका, विरहोत्कण्ठिता, कलहांतरिता आदि विविध बंदिशों में देखने को मिलते हैं। विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित नायिका के इन विविध भेदों पर आधारित बंदिश रचना की असीम सम्भावनाएँ हैं जो राग रूप के रस विशिष्ट की सौन्दर्यवृद्धि के साथ ही श्रृंगार-परक बंदिश की काव्य रचना को भी उत्कृष्टता प्रदान करने में सहायक है।

उपसंहार :

भारतीय संगीत में बंदिशों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि हमारे संगीत मनीषियों ने नायक-नायिका भेद पर गहनतापूर्वक विचार करते हुए बंदिशों में इसका निरूपण किया है। जो हमारे संगीत को उत्कृष्टता प्रदान करता है। जो भारतीय संगीत परम्परा में गहन विचारशीलता का द्योतक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. गोस्वामी, डॉ0 शैलेन्द्र कुमार, हिन्दुस्तानी संगीत के महान रचनाकार सदारंग-अदारंग, पृ0-85
2. दीक्षित, डॉ0 प्रदीप कुमार, सरस संगीत, पृ0-10
3. वही, पृ0-86
4. सहाय, डॉ0 रीना, राग-तरंगिणी, रागों एवं रसों का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ0-188
5. गोस्वामी, डॉ0 शैलेंद्र कुमार, हिन्दुस्तानी संगीत के महान रचनाकार सदारंग-अदारंग, पृ0-70
6. भातखण्डे, पं0 विष्णु नारायण, क्रमिक पुस्तक मालिका-3, पृ0-663

मीरा बाई के पदों में संगीत

प्रेरणा अग्रवाल
रिसर्च स्कॉलर (कथक)
(श्री श्री यूनिवर्सिटी, कटक)

सार

कृष्ण भक्ति परंपरा में राजस्थान की भक्त मीराबाई का विशेष स्थान है। मीरा प्रेम और भक्ति की साक्षात प्रतिमा है। मीरा भक्ति की वह भावना है, जिसमें अपने आराध्य कृष्ण के प्रति प्रेम और श्रद्धा दोनों भागों का समन्वय है। राजस्थान की भक्त परंपरा में मीरा उस सर्वोच्च आसन पर विराजित हैं, जिन्होंने अपने मधुर गीतों में अपनी प्रेम क्रीड़ा का मधुर रस घोल दिया। भक्ति भाव के उल्लास में रस की धारा बिखेरने वाली श्रीकृष्ण की अनन्य पुजारिन मीरा एक कवित्री गायिका थीं। वह भगवान कृष्ण की आराधना में बेसुध होकर ताल और लय में नाचा-गाया करती थीं। भक्त मीरा के पदों में भजन-संगीत की एक सुदीर्घ परंपरा दृष्टिगोचर होती है।

संकेत-शब्द

मीरा, कृष्ण-भक्ति, काव्य, पद, गीतिकाव्य, संगीत, राग-रागिनी, लय-ताल, नृत्य।

अध्ययन पद्धति :

द्वितीयक स्त्रोतों में पुस्तकों, शोध ग्रंथ, शोध पत्रों, पत्रिकाओं इत्यादि का अध्ययन किया गया है। वर्णनात्मक पद्धति का चयन किया गया है।

ऑनलाइन कार्यक्रमों को देखकर, ऑनलाइन साइट्स पर अध्ययन कर एवं विषय विशेषज्ञों से चर्चा के पश्चात, संबंधित विषय का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है।

अध्ययन का उद्देश्य :

- मीरा की भक्ति में समन्वित संगीत पक्ष को समाज के सामने सम्मुख लाना।
- प्राचीन प्राचीन युग से ही ईश्वर भक्ति में संगीत का उच्चतम स्थान रहा है इस पक्ष को उजागर करना।
- थोड़ा या बहुत पर मीराबाई को संगीत का ज्ञान अवश्य था, इस पक्ष को उजागर करना।

नृत्यत नूपुर बांध के गावत, ले करताल :

विमल हियो भक्तिनि मिली, तृणसन गन्यो संसार

ऊपर लिखित पंक्तियां ध्रुवदास ने अपनी 'भक्ति-बावली' में मीरा के संगीत को विशेष महत्व देते हुए लिखी हैं। इस पद की प्रथम पंक्ति से ही स्पष्ट हो जाता है कि मीरा संगीत एवं नृत्य कुशल थीं। वे पैरों में नूपुर बांध, हाथों में करताल ले नृत्य करते हुए अपने पदों को कृष्ण के सम्मुख गाती थीं।

जिस समय मीरा का जन्म हुआ था, उस समय राजकुल में राजकुमारियों को संगीत की शिक्षा दी जाती थी तथा नृत्य एवम् संगीत का ज्ञान आवश्यक माना जाता था। अतः राजकुल में जन्मी, कृष्ण प्रेम में पगी मीरा, संगीत के प्रभाव से कैसे अछूती रह सकती थीं।

मीरा के कृष्ण भक्ति में रचे गए पद ज्यों-ज्यों लोक संगीत की पावन धारा में बहते गए, त्यों-त्यों

गायकों ने, भजन-कीर्तन कारों ने, उन्हें विभिन्न राग-रागिनियों में आबद्ध करना प्रारंभ कर दिया।

उदाहरण स्वरूप हस्तलिखित लिपि में लिखित ग्रंथों में मीरा के जो पद मिलते हैं, उनमें अनेकों पदों में विभिन्न राग रागिनियों के नाम होते हैं मुख्य राग-रागिनियो के नाम इस प्रकार हैं-

ललित, हमीर, कान्हरा, तिलंग, गुजरी, त्रिवेनी, नीलांबरी, मुल्तानी, मालकौंस, कामोद, सोरठ, पटमंजरी, मल्हार, जोगिया, होली, श्याम कल्याण, नट, बिलावल, तिलक कामोद, खमाज, धनाश्री, शुद्ध सारंग, होरी सिंदूरा, पूरिया, पीलू, बरवा, पहाड़ी, मारू, दरबारी कानहड़ा, सूरदास मल्हार, देस, मारवा, भीमपलासी, बागेश्वरी, आसावरी, मिश्र काफ़ी,आनंद भैरव, कजरी, हंस नारायणी।

मीरा के पदों में गीतितत्व :

गीतिकाव्य का प्रथम तत्व है- आत्मभिव्यांजन तथा दूसरा तत्व है- संगीत। संगीत, गीत का प्राण है यह कहना कदाचित भी अनुचित नहीं, यदि गीति शब्द की रचना के लिए भाव अनिवार्य हैं, तो उसे प्रभावोत्पादक बनाने के लिए संगीत भी उतना ही आवश्यक है।

संगीतात्मकता, गीतिकाव्य की अन्यतम कसौटी है। मीरा के गीतों में संगीतात्मकता पूर्ण रूप से समाविष्ट है, उसमें भावों के अनुरूप ही संगीत की योजना है। मीरा का युग गीतिकाव्य की धारा से परिपूर्ण था, उस समय लोक गीत और लोक संगीत की परंपरा भी विद्यमान थी। मीरा की संगीतात्मकता भी इसी व्यापक संगीत धारा की स्वतंत्र लहरी थी। मीरा के काव्य का संगीत हृदय की गहराई से प्रवाहित हुआ है।

मैं सांवरे रंग राची, साज सिंगार बांध पग घुंघरू लोक लाज तज गाई

उनके काव्य का संगीत आत्मध्वनि का द्योतक है। मीरा के पद गेय और कीर्तन प्रधान हैं अतः उनमें स्वर, ताल, लय, गति राग रागिनी आदि संगीतात्मक उपादानो की सिद्धि पाई जाती हैए साथ ही उनमें छंद विधान की तुलना में राग विधान प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार मीरा के पद, भक्तों की पुकार तो हैं ही, वे संगीतज्ञों के लिए विविध रागों की पावन धरोहर भी हैं -

मैं गिरधर आगां नाच्या री
गाय गाय म्हा रसिक रिझावा प्रीत पुरातन जांच्या री

मीरा के पद संगीतज्ञों की वाणी का श्रृंगार और जन जन का प्रिय काव्य हैं।

मीरा के पदों में गीतिकाव्य के लिए उपयुक्त सभी तत्व विद्यमान हैं। उनका सारा काव्य प्रेम पीर की मार्मिक अभिव्यक्ति है, उनके गीत की प्रत्येक पंक्ति संगीत के उतार-चढ़ाव पर खरी उतरती है। अनुभूति और भाव प्रवणता में प्रत्येक पद स्वयं में पूर्ण अर्थ रखता है।

गीतिकाव्य में अनुभूति की पूर्णता :

गीतिकाव्य मैं अनुभूति घनीभूत होकर झलकती है, मीरा का काव्य अनुभूति से सराबोर है। वह कृष्ण के लिए अपना जीवन न्योछावर कर चुकी थीं। भावावेश में उनके पदों की प्रत्येक पंक्ति रससिक्त हो उठती है-

जोगी मत जा मत जा
पांइ परू मैं तेरी चेरी हूं

मीरा के पदों में आध्यात्मिकता, विचार, अनुभूति, तीव्र अभिव्यंजना, संगीतात्मकता आदि सभी कुछ है, उनके पदों में काव्य और संगीत एक दूसरे में समाहित होकर चरमोत्कर्ष पर पहुंच गए हैं, मीरा का काव्य गेय होने के कारण ही उसकी गणना गीतिकाव्य में की जाती है।

मीरा के पदों में संगीत :

संगीत में नृत्य, वाद्य और गीत इन तीनों का समावेश होता है और मीरा का भक्ति संगीत इस दृष्टि से परिपूर्ण है।

मीरा ने स्वयं स्वीकार किया है -
'पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे'

अतः इनके पदों में नृत्य है, वाद्य हैं। मजीरे और तंबूरा मीरा के प्रमुख वाद्य हैं। इसके अतिरिक्त चंग जैसे लोक वाद्यों का भी उन्होंने अपने पदों में उल्लेख किया है घुंघरू की झंकार तो उनके पदों में सर्वत्र झंकृत होती है।

संगीत का तीसरा तत्व है गीत। अतः मीरा के समस्त पद गीत के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। गीतिकाव्य का प्रमुख तत्व संगीत है, मीरा के पदों का, नृत्य का, गीत का एकमात्र लक्ष्य था - श्रीकृष्ण की भक्ति करना। कृष्ण उनके प्रियतम थे, उनकी साधना का उद्देश्य थे, लक्ष्य थे। मीरा ने अपने हृदय की भावनाओं को गीत का सहारा लेते हुए श्री कृष्ण के श्री चरणों में समर्पित किया था। वह पहले एक भक्त थी, तत्पश्चात गायिका या कवियित्री। मीरा ने गायन के साथ-साथ नृत्य को अपने पदों का आधार बनाकर कृष्ण काव्य को अपने समकालीन कवियों की तुलना में अधिक भाव प्रवण बनाया था। नृत्य कला के लालित्यपूर्ण चित्रण मीरा के पदों की विशेषता रही है। मीरा के प्रत्येक पद में भाव है, रस है और संगीत बिना रस के संभव नहीं। जैसा कि स्वर्गीय पंडित ओमकारनाथ जी ने व्यक्त किया है 'सर्वव्यापी एवं सहज स्वर के बिना साहित्य का श्रेष्ठतम अंग काव्य कैसे उत्कर्ष पा सकता है, काव्य को स्वर काएताल का और संगीत का संबंध चाहिए ही।'

मीरा भक्ति संगीत की अमर गायिका थी। भक्ति काल में संगीत की जो आध्यात्मिक उन्नति हुई उसमें मीरा के काव्य का अभूतपूर्व योगदान है। मीरा ने साहित्य में संगीत व नृत्य रूपी कला से एक नया रंग भर दिया।

मीरा के पदों में संगीत की राग-रागिनियां :

मीरा ने अपने पदों की रचना अनेक राग रागिनियों में की है। उनके गीत रागों में बंधे हुए हैं, भावों के अनुसार ही उनके पदों की संगीत योजना की गई है-

- **राग ललित :**

''म्हारो प्रणाम बांके बिहारी जी,
मोर मुकुट माध्य तिलक लगाऊं,
कुंडल अलका कारी जी,
अधर मधुर धर बंसी बजावा,
रीझ रिझावा ब्रज नारी जी''

- **राग हमीर**

''बस्या म्हारे नैनन मां नंदलाल,
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल,
अरूपा तिलक सोहा भाल''

- **राग मल्हार**

''झुक आई बदरिया सावन की,
सावन की मन भावन की,
सावन में उमग्यो मेरो मनवा,
झनक सुनी हरि आवन की।''

- **राग तिलंग**

''मन थे परस हरि रे चरण,
सुभग सीतल कंवल कोमल,
जगत ज्वाला हरण।''

- **राग कान्हडा**

''तनक हरि चितवौ जी मोरी ओर
हम चितवत तुम चितवत नाहीं
मन के बड़े कठोर।
मेरे आसा चितनि तुम्हरी
और न दूजी ठौर।''
म्हारो गोकुल रो ब्रजवासी ।।
ब्रजलीला लख जण सुख पावाँ, ब्रजवणताँ सुखरासी।
णाच्याँ गावाँ ताल बजावाँ, पावाँ आणंद हाँसी।
णन्द जसोदा पुत्र री, प्रगटयाँ प्रभु अविनासी।
पीताम्बर कट उर बैजणता, कर सोहाँ री बाँसी।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, दरसण दीज्यो दासी''

- **राग त्रिवेनी**

नैना निपट बंकट छबि अटके।
देखत रूप मदनमोहन को, पियत पियूख न मटके।
बारिज भवाँ अलक टेढी मनौ, अति सुगंध रस अटके?

टेढी कटि, टेढी कर मुरलीए टेढी पाग लट लटके।

मीरा प्रभु के रूप लुभानीए गिरिधर नागर नट के।

- **राग कल्याण (यमन)**

पायो जी म्हें तो राम रतन धन पायो।

वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरू, किरपा कर अपनायो?

जनम-जनम की पूँजी पाई, जग में सभी खोवायो।

खरच न खूटै चोर न लूटैए दिन-दिन बढ़त सवायो?

सत की नाँव खेवटिया सतगुरू, भवसागर तर आयो।

'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागरए हरख-हरख जस पायो?

- **राग तोड़ी**

'हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।

सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिध सोना होय।

गगन मंडल पर सेज पिया की, किस बिध मिलना होय?

घायल की गति घायल जानै, कि जिन लागी होय।

जौहरी की गति जौहरी जाने, कि जिन लागी होय?

दरद की मारी बन बन डोलूँ वैद मिल्यो नहीं कोय।

मीरां की प्रभु पीर मिटै जब वैद सांवलया होय?

- **राग पीलू**

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची, रे ।

मैं तो मेरे नारायण की, आपहि होगइ दासी, रे।

लोग कहें मीरा भई बावरी, न्यात कहैं कुल नासी, रे

बिष का प्याला राणाजी भेज्या, पीवत मीरा हांसी, रे

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिले अविनासी, रे

- **राग भैरवी**

आली री मेरे नैणाँ बाण पड़ी। चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी। कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी? कैसे प्राण पिया बिन राखूँ जीवन मूर जड़ी। मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहें बिगड़ी?

- **राग काफ़ी**

अब नाँ रहूँगी श्याम अटकी, म्हारो मन लाग्यो गिरधर से ।

म्हाँने गुर मिलिया अविनासी, दई ग्यान की गुटकी।

लगी चोट निज नाँव धणी की, म्हारै हिवड़ै खटकी।।

- **राग सारंग**

आवो आवो जी रँगभीना म्हारै म्हैल,

प्यालो तो लियाँ हाजर खड़ी।

सतजुग में सूती रही, त्रेता लई जगाय।

द्वापर में समझी नहीं, कलयुग पोंहच्यो आय।

- **राग आसावारी**

कोई कहियौ रे प्रभु आवन की, आवन की मन भावन की।

आप न आवै लिख नहिं भेजै, बाँण पड़ी ललचावन की।

ए दोई नैण कह्यो नहिं मानैं, नदियाँ बहै जैसे सावन की।

- **राग कालिंगड़ा**

तुम बिन स्याम सुने (गो) कौ (न) मेरी।

ठाढ़ी खेवटणी अरज करत है, मलवा ने नाव पछिम को फेरी।

यह तो एक बानगी मात्र है किंतु इसके आधार पर हम यह अवश्य कह सकते हैं कि मीरा ने गीतात्मक शैली का अनुसरण करके पदों की रचना की है। उनके पदों में गेयता, संगीतात्मकता और अनुभूति की तीव्रता विद्यमान है। इनकी शैली को गीतिकाव्य की भावपूर्ण शैली कहा जा सकता है एवं अवश्य ही मीरा इस शैली की जन्म दात्री तथा पोषिका हैं।

मीरा के काव्य में लय और ताल का समन्वय :

लय संगीत का प्राण है। भाव और लय का अन्योन्याश्रित संबंध है। लय की गति में परिवर्तन, भाव की गति को परिवर्तित कर देता है। प्रत्येक लय का अपना अलग भाव होता है। कुशल संगीतकार

भावानुसार लय का प्रयोग कर भावों की गति को और अधिक बोधगम्य बना देता है। विलंबित लय में गंभीर और वैराग्यपूर्ण भावों का प्रदर्शन उत्तम है, वहीं कोमल और आल्हाद के समय मध्य तथा गतिपूर्ण संयोग के समय द्रुत लय उपयुक्त समझी गई है।

मीरा के काव्य में सर्वत्र भावानुकूल योजना के दर्शन होते हैं। वैसे तो मीरा के पदों में विरह की प्रचुरता होने के कारण मध्य एवं विलंबित लय की योजना दृष्टिगोचर होती है, वही संयोग के क्षणों में जहां कृष्ण के प्रेम अनुराग में पगी मीरा अपनी उमंग और उल्लास अभिव्यक्त करती है, उन पदों को द्रुत लय में बांधा जा सकता है, जैसे- ए री मैं तो प्रेम दीवानी, मेरो दर्द ना जाने कोई।

मीरा के आधे से अधिक पदों में मध्य लय का प्रयोग होता है।

विलंबित लय का प्रयोग वेदना प्रवण स्थानों पर दिखाई देता है, जैसे -

''कोई कुछ कहे मन लागा,
ऐसी प्रीत लगी मनमोहन,
न्यू सोने में सुहागा''

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मीरा के काव्य में लय योजना का सौंदर्यपूर्ण भावानुकूल आयोजन किया गया है। मीरा ने अपने पदों में रागों के साथ-साथ 24 मुख्य तालों का भी उल्लेख किया है, जिनमें सर्वाधिक त्रिताल, कहरवा, दादरा, रूपक ताल आदि प्रयुक्त हुई हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मीरा के काव्य का संगीत हृदय की गहराई से प्रवाहित हुआ है।

अतः उनका संगीत आत्मध्वनि का द्योतक है। मीरा के पद गेय और कीर्तन प्रधान हैं, अतः उनमें स्वर, ताल, लय, गति तथा अनेक राग रागिनियों आदि संगीतात्मक उपादानो की सिद्धि पाई जाती है।

मीरा पदावली का संगीत तत्व ही उसकी जीवनी शक्ति और सामर्थ्य का परिचायक है। आत्मा का संगीत और बाह्य संगीत दोनों स्वरूप मीरा के पदों में देखे जा सकते हैं। मीरा के गीतों ने अपनी आंतरिक वेदना की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को माध्यम चुना। जब आत्मा के गीत उमड़ने लगे तब उन्हें संगीत का सहारा मिला।

मीरा के काव्य में हमें संगीत तत्व का गंभीर स्वरूप मिलता है मीरा को संगीत शास्त्र का अद्भुत ज्ञान था। वह भक्त और कवि होने के साथ-साथ कीर्तनकार भी थी। उन्होंने संगीत कला को भक्ति के आध्यात्मिक लोक में प्रवेश कराया। उन्होंने कीर्तन के अंतर्गत भगवान के गुण लीला तथा नाम का कथन अनियमित स्वर से नहीं किया, वरन् उसे शास्त्रीय संगीत का रूप दिया।

संदर्भ ग्रंथ :

1. भक्त नामावली।
2. मीरा की पदावली आचार्य परशुराम चतुर्वेदी।
3. कृष्ण भक्त मीरा और उनका काव्य डॉ॰ आर॰ पी॰ वर्मा।
4. हिंदी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचंद्र शुक्ल।
5. भक्तिकालीन संत साहित्य प्रोफेसर वीरेंद्र नारायण यादव।
6. मीराबाई की संपूर्ण पदावली संपादक रामकिशोर शर्मा।
7. आधुनिक हिंदी गीत काव्य में संगीत तत्व डॉ॰ मीना अग्रवाल।
8. हिंदी के कृष्ण भक्ति कालीन साहित्य में संगीत उषा गुप्ता।
9. मीरा माधव (राग संबंधित पद) संपादक नंदकिशोर आचार्य।
10. मीरा पदावली भाग-1
11. संत मीराबाई और उनकी पदावली संपादक बादल देव वंशी।
12. मीरा का काव्य - विश्वनाथ त्रिपाठी।
13. मीराबाई की जीवनी एवं भजन - विक्रम सिंह राठौड़।
14. मीराबाई और उनकी उपासना - महंत मुरली मनोहर शास्त्री।
15. स्त्री चेतना और मीरा का काव्य - पूनम कुमारी।

संगीत जगत में काशी के कतिपय युगल गायकों का योगदान

अपर्णा पाण्डेय
शोध छात्रा, गायन विभाग
संगीत एवं मंच कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ॰ श्वेता कुमारी
शोध निर्देशिका, सहायक आचार्या,
गायन अनुभाग, महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सारांश

काशी उत्तर भारत का एक प्राचीन तथा प्रसिद्ध शहर है, यह शहर अन्य कई महत्वपूर्ण चीजों के साथ-साथ संगीत के लिये सर्वाधिक प्रसिद्ध है। संगीत काशी का जीवत्व है क्योंकि इस शहर ने संगीत की तीनों विधाओं यथा-गायन, वादन, नृत्य ने जन्म लिया है इसलिये संगीत को काशी का जीवत्व कहना अतिशयोक्ति नही होगी; संगीत के इसी कड़ी में शोधार्थिनी ने 'काशी के कतिपय युगल गायकों' पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

सूचक शब्द

संगीत, काशी, संस्कृति, कलाकार, गायन

विषय प्रवेश :

''बनारस की ज़मीं नाज़ा है जिसकी पाय बोसी पर अदब से जिसके आगे चरर्व ने गर्दन झुकाई हैं।।''[1]

हमारे भारत देश की सांस्कृतिक राजधानी काशी की संगीत पंरम्परा अत्यन्त समृद्ध रही है। राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अर्न्तराष्ट्रिय संगीत-क्षितिज्ञ पर भी काशी के स्वनामधन्य संगीतकारों ने अपनी विशिष्ट एवं ऐतिहासिक पहचान बनायी और काशी की संगीत परम्परा को नवीन आयाम दिया। कला के मानस पटल पर मानो शीर्षस्थ रूप से आच्छादन रहा है। संगीत जगत में काशी के संगीत परम्परा का असाधारण समावेश सदैव रहा है। संगीत जगत में जिस प्रकार काशी के एकल गायन का वर्चस्व रहा तो वही युगल गायन की परम्परा भी उसी के साथ-साथ चली और संगीत जगत में युगल गायक अपना अभूतपूर्व योगादान देते आ रहे है। उत्तर वाहिनी, पुण्य सलिला गंगा के पश्चिम तट पर बसी काशी जिसे बनारस, के नाम से भी जाना जाता है, एक ऐसा नगर है जिसने साधू संतो को, साहित्यकारों को, कलाकारों को मौज मस्ती से लेकर फक्कड़पन तक को अपने में समेटा है इसलिये तो यह शहर बनारस है। इस शहर ने अनेकों विधायें जन्म ली है जिसमें से शोधार्थीनी संगीत विधा पर प्रकाश डालना चाह रही हैं यहाँ के कलाकारों ने अपनी कला के माध्यम से पूरे विश्व में छाप छोड़ी है, बनारस संगीत का एक प्रसिद्ध घराना भी रहा है यहाँ गायन, वादन, नृत्य तीनों का समावेश है। युगल गायन की परम्परा कई वर्षों से चली आ रही है अनेक जोड़ियों ने विश्व स्तर पर प्रसिद्धि हासिल की है, बनारस की संगीत परम्परा यहाँ के इतिहास जैसी प्राचीन है। संगीतमय वातावरण की

सरसता से काशी नगरी का प्रत्येक कण सराबोर हो उठता है शायद इसलिये इसका नाम ही रसवर्षिणी अर्थात् बनारस है, शास्त्रीय संगीत समाज ही नंही बनारस का लोक जीवन, ग्रामीण अंचल भी संगीत से ओत-प्रोत है। यहाँ की संगीत पंरम्परा बहुमुखी है, ध्रुपद, धमार, ठुमरी, टप्पा ख्याल में बनारसी गायकी का एक अपना ही रंग है।

वाराणसी में ऐसे प्रतिभा सम्पन्न कलाकार हुये है जो गायन व सभी विद्याओं में पारंगत एवं मान्य विद्वान थे। बनारस के धरानेदार संगीतज्ञों के अतिरिक्त संगीतज्ञो की एक समानान्तर श्रृंखला थी, बनारस में एकल गायन के साथ ही युगल गायन की परम्परा भी काफी समय से चली आ रही है। जिनमें प्रसिद्ध-मनोहर जी की जोड़ी अमरनाथ-पशुपति नाथ मिश्र जी की जोड़ी, राजन साजन मिश्र जी की जोड़ी रितेश- रजनीश मिश्र जी की जोड़ी इत्यादि लोगो ने लोकजन में काफी अभूपूर्व योगदान दिये।

प्रसिद्ध मनोहर मिश्र :

गायकी के क्षेत्र मे प्रसिद्ध मनोहर मिश्र जी की जोड़ी ने अत्यधिक यश और ख्याति प्राप्त की। प्रसिद्धु जी का जन्म सन् 1802 ई0 में हुआ था एवं श्री मनोहर जी का जन्म 1797 ई0 में हुआ था। ईश्वर द्वारा दिया हुआ संगीत प्रतिभा, पिता द्वारा प्रदान की गई संगीत की शिक्षा, नियमितता के साथ किया गया संगीत की कठिन साधना ने आप भाइयों को संगीत जगत में प्रसिद्धि प्रदान की। जिसके परिणाम स्वरुप मुगल सम्राट बहादुर शाह जफर ने पूर्ण सम्मान के साथ आप दोनो लोगो को अपने शाही दरबार का विशिष्ट कलावन्त नियुक्त किया एवं स्वयं उन्होंने आपसे शिक्षा ग्रहण की। आप दोनो भाइयों को मुगल दरबार की ओर से विशिष्टम सम्मान, सम्पत्ति, बनारस, जौनपुर जिले में तीन गाँव-शिवपुर, जुड़पुर, परमपुर आपको प्राप्त हुये। हर दिशा में सुगन्ध की भॉति आपकी प्रसिद्धि फैली।

प्रसिद्ध मनोहर जी लखनऊ के नवाब के दरबार में भी समाद्धत रहे। वहीं अमोलक शहा भी अपने शिष्य सादेखाँ के साथ दरबार की शोभा बढ़ा रहे थे इनका सही नाम सदाशिव मिश्र था। हो सकता है नवाबी शहर में इनका नाम सादेखाँ हो गया हो। आप दोनो के ही स्नेहपूर्ण निमंत्रण (आमंत्रण) पर गुरु शिष्य दोनों बनारस आ गये अमोलक शहा तो कुछ दिनों के पश्चात् दिल्ली, पंजाब की तरफ वापस चले गये और सादेखाँ यही बनारस में रह गये। बनारस में सादेखाँ रमता जोगी की तरह रहते थे। जैसा की स्वं पं॰ हरिशंकर मिश्र जी ने बतलाया था, उनके अनुसार श्रीयुत् प्रसिद्ध मनोहर जी सादेखाँ के साथ परछाई की तरह रहते थे इस सेवा का फल भी उन्हें अद्वितीय मिला कि सादेखाँ के टप्पा का पूरा खजाना पियरी घराने में आ गया। इसी पियरी घराने से ही तत्कालीन गाइकाओं ने (जिसमें प्रमुख है चित्रा और इमामबांदी) टप्पा गायकी प्राप्त की। इमामबांदी के पुत्र रमजान खाँ एवं नगेन्द्र नाथ भट्टाचार्या ने इसी परम्परा से टप्पा सीखा और उसे बंगाल तक लोकप्रिय बनाया।

एक बार पटियाला नरेश महाराजा महेन्द्र प्रताप सिंह ने 40 दिन तक चलने वाला विशाल संगीत समारोह आयोजित किया जिसमें भारत के 1400 कलाकारों ने शिरकत की इस समारोह में प्रसिद्ध, मनोहर जी सर्वश्रेष्ठ गायक घोषित हुये। बनारस के पियरी घराने के दोनों भाई प्रसिद्ध-मनोहर जी की जोड़ी उस काल में बनारस से बंगाल और पंजाब तक चमक चुकी थी। जब इनकी कला अपने चरम सीमा को स्पर्श कर रही थी तब आप दोनों नेपाल जाकर रहने लगे और वही दरबारी गायक बने रहे। श्री मनोहर मिश्र सन् 1846 ई0 में व श्री प्रसिद्ध मिश्र जी सन् 1868 में बनारस में दिवंगत हुये।[2]

श्री अमरनाथ मिश्र एवं श्री पशुपति नाथ मिश्र :

श्री अमरनाथ मिश्र का जन्म सन् 1938-39 ई॰ एवं पशुपति नाम जी का जन्म सन् 1940-41 ई॰ के आसपास बनारस के रामापुरा मुहल्ले में एक

संगीतज्ञ परिवार में हुआ।[3] आपके पिता श्री बद्री प्रसाद मिश्र विख्यात गायक महादेव मिश्र के बड़े भाई थे। बचपन से ही आप दोनों के संगीत की शिक्षा चाचा महादेव प्रसाद मिश्र की देखरेख में प्रारम्भ हुई। दोनों भाई के कठिन परिश्रम व अभ्यास ने आपको जल्द ही बनारस में विशिष्ट गायक के रूप में स्थान दिला दिया। मात्र 14 वर्ष की कम आयु में कार्यक्रम करने का गौरव प्राप्त हुआ। धीरे-धीरे आप दोनों की जोड़ी की ख्याति फैलती गई व अनेक शहरों से कार्यक्रम के प्रस्ताव आने लगे। जम्मू, जालन्धर, अमृतसर, बम्बई, पूना, ग्वालियर, हैदराबाद, मद्रास, गया, पटना, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, कलकत्ता, समस्तीपुर, छपरा आदि के संगीत समारोहों में अपने गायन से प्रसिद्धि हासिल की।

आप दोनों भाईयों ने गायन के आचार्य पं॰ बडे. रामदास मिश्र जी के शिष्य बने और ख्याल गायकी की शिक्षा ली तत्पश्चात अपने गायन से संगीत प्रेमियों को विभोर किया। देश में और भी युगल गायकों की जोड़ी थी जिनमें एक प्रमुख तो एक सहायक रहा परन्तु आप दोनों भाइयों की जोड़ी में दोनो ही कुशल गायक रहे आपकी युगल जोड़ी ने अपने जीवन काल में संगीत की अनवरत साधना की और जनमानस को आनन्द की अनुभूति कराकर सदैव मन्त्रमुग्ध किया।

आपकी संगीत परम्परा केवल आप तक ही सीमित नहीं रही आपके पुत्रों ने संगीत परम्परा को आगे बढ़ाया श्री अमरनाथ के पुत्र बटुकनाथ मिश्र (सितार वादक) एवं पशुपतिनाथ मिश्र के पुत्र कुबेर नाथ मिश्र (तबला वादक) संगीत के सेवा में अनवरत लगे है।[4]

पं0 राजन-साजन मिश्र :

बनारस के ख्याति प्राप्त सारंगी वादक श्री हनुमान प्रसाद मिश्र के बड़े-पुत्र राजन मिश्र जी का जन्म बनारस में सन् 1951 में हुआ व छोटे पुत्र साजन मिश्र जी का जन्म सन् 1956 ई0 में हुआ।[5] आप दोनों की संगीत शिक्षा आपके पिता श्री हनुमान प्रसाद मिश्र व चाचा पं0 गोपाल मिश्र से हुई। कुछ समय के बाद आप दोनों ने अपनी संगीत शिक्षा गायन आचार्य पं0 बड़े रामदास मिश्र जी से ली और आप युगल जोड़ी ने रामदास जी का शिष्यत्व ग्रहण किया। बचपन से ही आप दोनों की संगीत शिक्षा कुशलता के साथ प्रारम्भ हुई। आपके घर का परिवेश भी संगीतमय रहा, उसके साथ विद्यालय का प्रशिक्षण तथा ख्याल व टप्पा अंग की गायकी की नियमित शिक्षा ने आप दोनों को निखारा व संगीत के मार्ग पर आगे बढ़ाया, आप दोनों भाई बनारस में जनमानस के बीच प्रसिद्ध हो गये। आगे चल कर आप दोनों भाई अपने चाचा श्री गोपाल मिश्र की इच्छा पर दिल्ली चले गये। दिल्ली में आप दोनों भाई की युगल जोड़ी ने आपके कठोर संगीत प्राशीक्षण के कारण प्रसिद्धि हासिल की जिससे आप दोनों की जोड़ी देश के नामचीन व प्रतिष्ठित गायकों की सूची में आ गये।

आगे चलकर आपने सिनेमा जगत में भी अपना योगदान दिया दक्षिण भारतीय पिक्चर शंकराभरणम् को जब हिन्दी भाषा में 'सुर संगम' के नाम से बनाने का निश्चय किया गया तो आप दोनों की जोड़ी का ही चयन किया गया इस सिनेमा के गायक से अपनी सुमधुर आवाज दूर-दूर तक पहुची व देश के हर कोने से आपकी प्रशंसा हुई।

पं0 राजन जी का विवाह पं दामोदर मिश्र की पुत्री बीना जी से हुआ एवं पं0 साजन जी का विवाह पं0 बिरजू महाराज की पुत्री कविता जी से हुआ। किशोरावस्था में सन् 1978 में राजन साजन जी की जोड़ी ने श्री लंका में अपना पहला विदेशी कार्यक्रम किया। अपनी गायकी से विदेशी जनमानस को मन्त्रमुग्ध किया श्री लंका, अमेरिका, रूस, इग्लैण्ड, नेपाल आदि गायकी प्रस्तुत की।

400 साल की पारिवारिक परंपरा को आगे ले जाते हुये आप दोनों भाइयों ने संगीत जगत में बहुत सम्मान कमाया। आपके अतुलनीय गायन के लिये आप दोनों भाई को भारत के कई बड़े सम्मान से

सम्मानित किया गया जिनमें अनेक महत्वपूर्ण अवार्ड है -

- सन् 1971 ई0 में प्रधानमंत्री द्वारा संस्कृत अवार्ड से सम्मानित किया गया।
- सन् 1994-95 में गंधर्व सम्मान से सम्मानित किया गया।
- सन् 1998 में संगीत नाटक अकादमी सम्मान से सम्मानित किया गया।
- सन् 2007, में पद्म भूषण सम्मान से सम्मानित किया गया।
- सन् 2012 में राष्ट्रीय तानसेन सम्मान आदि प्राप्त हुये।

आपके 20 से अधिक एल्बम संगीत प्रेमियों के लिये उपलब्ध है।

संगीत जगत में आप दोनों की जोड़ी ने एक अलग ही छाप छोड़ी जो अनुकरणीय है, अनवरत संगीत की सेवा करते हुये कोरोना के कारण 24 अप्रैल 2021 को पं0 राजन मिश्र जी का निधन हो गया आपने 70 वर्ष की आयु में अन्तिम सास ली।

पं0 राजन मिश्र जी के पुत्र रितेश रजनीश मिश्र एक सफल गायक के रूप में अपनी पहचान बना चुके है व साजन जी के पुत्र स्वराशं मिश्र भी संगीत साधना में लगे है।

रितेश-रजनीश मिश्र :

पीढ़ियों से संगीत को समर्पित एक ऐसा घराना जो संगीत की सेवा कर रहा है, राजन साजन मिश्र जी के अथक मेहनत और शिक्षा ने 2 उत्कृष्ट कलाकार रितेश मिश्रा एवं रजनीश मिश्रा। आप दोनों अपने संगीतमय परिवार के छठीं पीढ़ि के कलाकार है, आपके पिता पं0 राजन मिश्र जी थे एवं चाचा पं0 साजन मिश्र जी थे। आप दोनों ने अपने संगीतमय जीवन का सफर बनारस से ही प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में रितेश मिश्रा जी ने तबला वादन की शिक्षा पं0 किशन महाराज जी से गंडा बंधन कराकर ली लेकिन आगे चलकर पिता व पितामह की इच्छा से आप दोनों ने युगल गायकी को चुनी। वर्तमान में आप दोनों भाई बनारस धराने के ख्याल गायकी के प्रति-निधि कलाकार के रूप में प्रसिद्ध है।

आप दोनों के संगीत जीवन का सफल बनारस से ही प्रारम्भ हुआ आपने अपने सांगितिक जीवन का पहला कार्यक्रम काशी के संकट मोचन संगीत समारोह में दिया। आपने मंच प्रदर्शन के साथ ही कई एल्बम में अपने सुमधुर आवाज दी है, आपने रविशंकर जी की पुत्री अनुष्का शंकर जी के साथ 'राइज़' नामक एल्बम में अपनी आवाज दी है जो कि सम्मनित ग्रेमी अवार्ड के लिये नामित किया गया था।

आप दोनों की युगल जोड़ी ने मन्त्रमुग्ध कर देने वाली गायकी से कई सम्मान एवं पुरस्कार से भी सम्मानित हुये है -

आपको 1999 में युवा रत्न अवार्ड से सम्मानित किया गया।

आपको 2007 में भविष्य ज्योति अवार्ड से सम्मानित किया गया।

आपको 2008 में संगीत नाटक अकादमी सम्मान प्राप्त हुआ।[6]

आपको 2010 में संगीत समृद्धि अवार्ड से सम्मानित किया गया और अन्य ऐसे कई सम्मान प्राप्त हुये वर्तमान समय में आप दोनों भ्राटा संगीत की सेवा में अनवरत लगे है।

निष्कर्ष :

वस्तुतः बनारस जिसे हम वाराणसी एवं काशी के नाम से भी जानते है; आध्यात्म और संगीत के पवित्र संगम का तीर्थस्थल है यहाँ आध्यात्म ही संगीत और संगीत ही आध्यात्म है। यहाँ धर्म के साथ गायन, वादन, नृत्य, की संगीत त्रयी हर ओर दिखाई देती है। गायन के क्रम में उपरोक्त शीर्षक युगल गायन के विषय पर है, वाराणसी में युगल गायन की परम्परा में अनेक मूर्धन्य कलाकार हुये है और वर्तमान समय में काशी में कुछ कलाकार इस परम्परा को

संरक्षित कर आगे लेकर चल रहे है और विश्वपटल पर अपनी छाप छोड़े है, युगल गायन केवल काशी की ही परम्परा नहीं है काशी से इतर इसके बाहर भी कई विलक्षण कलाकार है जो जनमानस को अपने युगल गायन से विभोर कर रहे है;

अतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार युगल गायन से श्रोतागण आत्म विभोर होते आ रहे है भविष्य में भी यह परम्परा जनमानस को मन्त्रमुग्ध करती रहेगी।

सन्दर्भ :

1. डॉ0 जौहरी रेनू, भारतीय संगीतिक जगत में वाराणसी का योगदान, प्रथम पृष्ठ
2. पं0 मिश्र कामेश्वर नाथ, काशी की संगीत परम्परा एवं संगीत जगत को काशी का योगदान, पृ0-79
3. जौहरी रेनू, भारतीय संगीतिक जगत में वाराणसी का योगदान, पृ0-67
4. वही, पृ0-67
5. पं0 मिश्र कामेश्वर नाथ, काशी की संगीत परम्परा एवं संगीत जगत को काशी का योगदान, पृ0-128
6. www.chhandayan.org http://chhandayan.org/ calendar/2017/5/21/ vocal-duet-pt-ritesh-mishra-and-pt-rajnish mishra

उपशास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त रागों की व्यवहारिकता

नीतू तिवारी
शोध छात्रा, गायन विभाग
संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रो॰ शारदा वेलंकर
शोध निर्देशिका (प्रोफेसर) गायन विभाग
संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सारांश

उत्तर भारतीय संगीत के उपादानों में शास्त्रीय और उपशास्त्रीय दो रूपों में उच्चारित हैं। शास्त्रीय संगीत में जहां राग नियम कठोरपरक व नियमानुरूपता की परिधि में रहते हैं तो वहीं उपशास्त्रीय में राग नियमों में उदारपन व लचकपन के साथ प्रयोगार्थ होते हैं। यद्यपि उपशास्त्रीय संगीत का अस्तित्व शास्त्रीय संगीत के स्रोत से ही निःसृत हुआ है, शास्त्रीय अर्थात् शास्त्रोक्त, उपशास्त्रीय अर्थात् शास्त्र के समीप रहने वाला। उपशास्त्रीय संगीत स्वर तथा शब्द के माध्यम से ताकत होने वाला लालित्य सम्पन्न, भावपूर्ण लाहममय एवं रसीला संगीत पुकार है। तथापि उपशास्त्रीय संगीत में लोकधुनों से सम्बद्ध रागों का अधिकतर चलन है जैसे-काफी, पीलू, पहाड़ी, खमाज, तिलक, कामोद, झिंझोटी, भैरवी, सिन्धु भैरवी आदि इसके अतिरिक्त कुछेक ऐसे भी राग हैं जिन्हें प्रायः ख्याल शैली के ही उपयुक्त माना गया है। जैसे-बिहाग, कलिंगड़ा, वृन्दावनी सारंग, कल्याण आदि।

की-वर्ड

राग, बन्दिश, उपशास्त्रीय, शैली, संगीत

उपशास्त्रीय संगीत के ऐतिहासिक विषय के परिप्रेक्ष्य में यह कथ्य है कि जैसे-जैसे भारतीय शास्त्रीय संगीत में संस्कृतियों के मिश्रण के कारण परिवर्तन होते रहे तद्नुसार कई नवीन पद्धतियां उसमें सम्मिलित हुयी तथा कुछ परिवर्तन शास्त्रीय संगीत के मूलरूप में भी हो गये। उपशास्त्रीय संगीत स्वर तथा शब्द के माध्यम से व्यक्त होने वाला लालित्य-सम्पन्न, भावपूर्ण, लास्यमय एवं रसीला संगीत प्रकार है। इसमें स्वर तथा शब्द को समान महत्व दिया जाता है। बंदिश के शब्दों में निहित अर्थ या भाव स्पष्ट करना ही इस शैली का लक्ष्य है। शास्त्रीय संगीत के समान नियम कठोरपरक नहीं होते बल्कि लचकपन से प्रयोगार्थ होते हैं। राग शब्दों को सौन्दर्यात्मक और भावात्मक बनाने के लिए राग के बाहर के स्वर समुदायों का उपयोग प्रचुर मात्रा में किया जाता है। इसमें गीत के शृंगार के लिए भिन्न-भिन्न अलंकरणों जैसे मीड, खटका, मुर्की, कण आदि का प्रयोग किया जाता है जो बन्दिश के सौन्दर्यात्मक में सहायक सिद्ध होते हैं।

उपशास्त्रीय संगीत की विभिन्न शैलियों में सहज स्वाभाविकता एवं सरलता है तथा भावों की अभिव्यक्ति हृदय से निकली हुई लय के साथ होती है। ''उपशास्त्रीय संगीत एक ऐसी शैली है जो प्राचीन नियमबद्ध प्रणाली के समीप हो, जिसमें पूर्णरूपेण राग-नियमों (शास्त्रगत नियम) में बंधने की कटिबद्धता न हो, भावस्वरूप रागेतर प्रयोग की स्वतंत्रता हो, जटिलता रहित ताल का सरस व चमत्कारिक प्रयोग हो, जो पुनः शास्त्रीयता के करीब आ जाये तथा पूर्णतया गेय

हो, 'उपशास्त्रीय गायन शैली' कहलाती है।''[1] उपशास्त्रीय संगीत में मुख्य राग के अतिरिक्त अन्य रागों की छाया व मिश्रण देखने को मिलता है, उपशास्त्रीय संगीत की सुन्दरता इसी मिश्रण पर आश्रित है। उपशास्त्रीय संगीत की विभिन्न शैलियों के भिन्न-भिन्न भागों में पृथक-पृथक निकास, सम प्रकृति रागों की छायाओं का प्रयोग, गाते समय अनेक अलंकारों का प्रयोग आदि यह भी प्रभावित करते हैं कि यह एक तरह से इसका अनुशासनात्मक ढंग भी है। यद्यपि उपशास्त्रीय संगीत का अस्तित्व शास्त्रीय संगीत के स्रोत से ही निःसृत हुआ है। शास्त्रीय अर्थात् शास्त्रोक्त, उपशास्त्रीय अर्थात् शास्त्र के समीप रहने वाला। उपशास्त्रीय संगीत में नियमोत्तर प्रयोगों की यदा-कदा सम्भावना रहती है। वर्तमान समय में उपशास्त्रीय संगीत का निर्वहन अत्यन्त लोकप्रिय है। उपशास्त्रीय संगीत विधाओं की समृद्धि इतनी विपुल है कि जहां एक ओर शास्त्रीय रागों, राग प्रयोगों और रागेतर प्रयोगों छोटी-छोटी ताने एवं बहलावों का प्रयोग होता है, वहीं दूसरी ओर लोक संगीत की सरलता, सहजता, हृदयग्राही, सम्प्रेषण एवं रस बरबस ही मन्त्रमुग्ध कर देते हैं। संगीत शास्त्र की दृष्टि से लोकगीतों का बहुत महत्व है। उपशास्त्रीय संगीत के विकास में लोकसंगीत ने काफी योगदान दिया है उपशास्त्रीय संगीत की विभिन्न शैलियां लोकसंगीत की ऋणी हैं। उपशास्त्रीय संगीत में लोकधुनों से सम्बन्ध रखने वाले रागों का अधिकतर प्रयोग किया जाता है, जैसे- काफी राग, पीलू, पहाड़ी खमाज, तिलक, कामोद, भैरवी, सिन्धु भैरवी, झिंझोटी आदि। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे रागों का भी प्रयोग उपशास्त्रीय संगीत में सुनने को मिलता है जिन्हें प्रायः ख्याल शैली के ही उपयुक्त माना जाता है, जैसे- बिहाग, कलिंगड़ा, कल्याण, वृन्दावनी, सारंग इत्यादि।

उपशास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त राग :

भैरवी थाट के राग :

राग भैरवी 2 : राग भैरवी का प्रयोग ठुमरी गायन शैली में अधिकांश रूप से किया जाता है। इसके अतिरिक्त उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आने वाली अन्य गायन शैलियों जैसे- टप्पा, दादरा आदि में भी राग भैरवी का प्रयोग मिलता है। राग भैरवी, भैरवी थाट से उत्पन्न राग है। यह राग सम्पूर्ण है। इसमें वादी स्वर 'म' तथा संवाद 'स' है। गायन समय प्रातःकाल राग भैरवी में सरा वैचित्र्य 'सा ग प म ध' इन स्वरों पर आश्रित रहता है।

भैरवी थाट के राग :

- सिन्ध भैरवी
- मिश्र भैरवी

खमाज थाट के राग :

राग खमाज 3 : यह खमाज थाट का षाडव सम्पूर्ण राग है। आरोह में ऋषभ वर्ज्य तथा अवरोही सम्पूर्ण है। जब राग में धैवत दीर्घ किया जाता है तो उसकी संगति मध्यम से होती है। इस प्रकार- ग म ध ऽऽऽ म ध नि सा। आरोह में पंचम कम प्रयोग होता है। निषाद स्वर इस राग में प्रिय मालूम होता है और आजकल आरोह में शुद्ध निषाद भी लगाते हैं। खमाज राग में धैवत तथा मध्यम की संगति अति प्रिय मालूम होती है। इस राग में वादी गंधार और निषाद संवादी है। गायन समय रात्रि के दूसरे पहर है।

राग खमाज में अधिकतर ठुमरी दादरा, टप्पा इन शैलियों के अतिरिक्त भजन लोकगीत इत्यादि सुनने को मिलते हैं।

खमाज थाट के अन्य राग :

- राग मिश्र खमाज
- राग मांझ खमाज
- राग झिंझोटी
- राग खंबावती
- राग तिलक कामोद
- राग देस
- राग सोरठ
- राग गारा
- राग तिलंग

काफी थाट के राग :

राग काफी 4 : यह काफी थाट से उत्पन्न राग है। इसमें 'ग' 'नि' कोमल तथा शेष सब शुद्ध स्वर लगाते हैं। वादी 'प', संवादी 'स' है। इसकी जाति सम्पूर्ण-सम्पूर्ण है। गायन समय मध्य रात्रि का माना जाता है। इस राग में गंधार व निषाद स्वर के उचित प्रयोग से स्वर वैचित्र्य बढ़ता है तथा अनेक बार आरोह में शुद्ध गंधार व निषाद का प्रयोग किया जाता है। इस राग की विशेषता सा, ग, प, नि इन स्वरों में है। साधारण श्रोतागण 'सा सा, रे रे, ग ग म म, प' इस विशिष्ट स्वर-समुदाय से तत्कालीन ही इस राग को पहचान लेते हैं।

काफी थाट के राग :

- राग बागेश्री
- राग वृंदावनी सारंग
- राग सूहा
- राग बरवा
- राग पीलू
- राग बहार

उपरोक्त थाटों के रागों के अतिरिक्त अन्य राग भी उपशास्त्रीय वधिाओं में प्रयुक्त होते हैं जो निम्नवत् हैं-

- राग शिवरंजनी
- राग कालिंगड़ा
- राग जोगिया
- राग पहाड़ी
- राग मांड
- राग बिहाग आदि राग प्रयुक्त होते हैं।

उपशास्त्रीय संगीत विभिन्न शैलियाँ :

- ठुमरी
- टप्पा
- दादरा
- कजरी
- चैती
- झूला या हिंडोला
- होरी
- बारहमासा

उपशास्त्रीय संगीत शैलियों में प्रयुक्त रागों की कुछ संरचनात्मक विशेषताएँ एक समान है जो कि एक निश्चित सीमा तक उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न शैलियों में उनका प्रयोग निश्चित करती है और उन्हें ख्याल शैली के रागों से भिन्नता प्रदान करती है। उपशास्त्रीय संगीत में प्रायः हल्के प्रकृति के रागों का प्रयोग किया जाता है किन्तु सौन्दर्यवर्द्धन हेतु अधिकांशतः इन विधाओं में गंभीर प्रकृति के रागों की स्वरावलियां भी लेते हुए देखा जा सकता है।

सन्दर्भ सूची :

1. संगीत मासिक पत्रिका, लेख डा0 सुधा सहगल, दिसम्बर 2004, पृ0-11
2. संगीत रत्नावली, अशोक कुमार यमन, पृ0-798, अभिषेक पब्लिकेशन, चंडीगढ़।
3. राग परिचय, भाग 1, प्रो0 हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, पृ0-19, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. संगीत विशारद, वसन्त, पृ0-274, संगीत कार्यालय, हाथरस, उ0प्र0।

अन्त टिप्पणी :

1. डॉ0 सुधा सहगल, संगीत मासिक पत्रिका, हाथरसः संगीत कार्यालय, दिसम्बर 2004, पृ0 11
2. अशोक कुमार यमन, संगीत रत्नावली, चण्डीगढ़ः अभिषेक पब्लिकेशन, 2018, पृ0 798
3. प्रो0 हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, राग परिचय भाग-1, इलाहाबादः संगीत सदन प्रकाशन 2003, पृ0 19
4. वसन्त, संगीत विशारद, हाथरसः संगीत कार्यालय, 2015, पृ0 274

आतोद्य

सितार वादन में सौन्दर्य बोध

प्रो0 बिरेन्द्रनाथ मिश्र
वाद्य विभाग, संगीत एवं मचंकला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

सारांश

भारतीय संगीत में सौन्दर्यवर्धन के लिए कलाकारों द्वारा कई प्रकार के उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। जैसे- आकर्षक बन्दिशें, आलाप, लयकारी, गमक, आविर्भाव, तिरोभाव, अल्पत्व-बहुत्व, तथा काकू इत्यादि।

संगीत की तीनों विधाओं (गायन, वादन और नृत्य) की अपनी निजी विशेषता एवं शास्त्रीय सौन्दर्य है। गायन में जहाँ एक ओर स्वर-लय के साथ साहित्य और पद का महत्व है। वहीं वाद्य में अपने विशेष उपकरण एवं गुण होते हैं।सुषिर वाद्यों में हवा अथवा फूँक के माध्यम से अति सुन्दर मींड के साथ रागदारी एवं माधुर्य दिखता हैं वहीं तन्त्र वाद्यों में जमजमा, खटका, कृन्तन, मुर्की, मींड, सूत, घसीट एवं झाला आदि का आकर्षक वादन होता है।

वर्तमान समय में सितार भारत ही नहीं अपितु विश्व के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं विशिष्ट वाद्य के रूप में स्थापित हो चुका है। सितार में प्राचीन वाद्यों यथा-वीणा, सरोद, रबाब, दिलरुबा, सुरबहार आदि कई वाद्यों के तकनीक का सुन्दर समावेश दिखता है। सितार वाद्य के निर्माताओं एवं सितार वादकों ने सितार में बाह्य सौन्दर्य (सितार की बनावट) तथा सितार की विशेष तकनीक में अपने विवेक एवं परिश्रम से आवश्यकतानुसार अनेक परिवर्तन किए हैं परिणामतः आधुनिक सितार परिष्कृत होकर आज सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है।

संकेत शब्द

मींड, कृन्तन, जमजमा, मुर्की, झाला, सौन्दर्य।

प्रकृति की प्रत्येक वस्तु न केवल जीव मात्र के लिए परम उपयोगी है अपितु अपने प्राकृतिक अनुपम छटा से भी सभी को आह्लादित करती है। प्रकृति का अपना स्वरूपनाद के मधुर संगीत से भी व्याप्त है इसीलिए वह प्राणी मात्र के लिए परम आवश्यक है।

सौन्दर्य सभी को अपनी ओर आकर्षित करता है। फिर वह चाहे वस्तु या किसी भी प्राणी या व्यक्ति का क्यों न हो। सौन्दर्य के विषय में अनेक विद्वानों ने अपनी व्याख्या की है।

भारत एक अध्यात्म प्रधान देश है। यहाँ प्रत्येक कला, विद्या, क्रिया-कलाप को अध्यात्म से जोड़ा जाता है। यहाँ ज्ञान-विज्ञान, धर्म-अध्यात्म, आस्था-विश्वास को समग्रता में देखा-परखा जाता है।

सौन्दर्य-बोध-शास्त्र कला और सौन्दर्य का तत्व चिन्तनात्मक अध्ययन (Phelosophical Study) है।

18वीं शताब्दी के मध्य में जर्मन दार्शनिक ए॰ जी॰ बोमगार्टन (A. G. Baumgarten) ने सर्वप्रथम 'Aesthetics' शब्द का प्रयोग किया।

श्रीकान्ट Kant) बताते हैं, 'जो बिना किसी स्वार्थ के आनन्द दे सके वही 'सौन्दर्य' है।

सौन्दर्य के बारे में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं, कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अपने मतानुसार सौन्दर्य को परिभाषित किया है-

ई॰ ई॰ कैलेट : आनन्द लेने की स्थायी संभावना को सौन्दर्य कहते हैं।

आर्नोहोल्ज : सौन्दय तो प्रकृति पर मनुष्य की क्रिया का परिणाम है।

लियोस्टीन : किसी अनुभूत रूचि का पूर्ण अभिव्यंजन ही सौन्दर्य है।

परम्परानुसार 'सौन्दर्यशास्त्र' को दर्शनशास्त्र की भाषा माना गया, परन्तु विगत कुछ वर्षों से स्वतन्त्र चिंतन और लेखन के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। अंग्रेजी के 'Aesthetics' शब्द के शब्दार्थ के रूप में सौन्दर्यशास्त्र प्रयुक्त होता है। 'ऐस्थेटिक्स' ग्रीक भाषा के 'Aesthesis' शब्द से विकसित हुआ है, जो इन्द्रियबोध, प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव का बोधक है।

किसी कलाकृति को देखकर आनन्द की सृष्टि होने को सौन्दर्य बोध कहते हैं। सौन्दर्य का अर्थ है: सुंदर + ष्यञ् = सुन्दर होने का भाव, सुन्दरता।

'सुन्दर' शब्द की उत्पत्ति पर यदि हम ध्यान दें तो 'सुष्ठु उन्नति आद्री करोतिचित्तम् इतिसुन्दरम्'। सुन्दर वह वस्तु है जो चित्त को आर्द्र द्रवित कर देती है।

नाद को संगीत तत्त्वविद् ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। संगीत का नाद सभी को आनन्द की अनुभूति कराता है। इसीलिए सांगीतिक नाद का सौन्दर्य सहृदयों को कभी न तृप्त होने वाले आनन्द की अनुभूति से आह्लादित करता है। संगीत के सौन्दर्य बोध के विषय में भी अनेक विद्वान् अपनी अनुभूति प्रकट करते हैं।

संगीत के सौन्दर्यात्मकतत्व :

भारतीय संगीतशास्त्र संगीत के सौन्दर्यात्मक तत्वों से सम्बन्धित अनेक मान्यताओं से भरा है। संगीत के सन्दर्भ में जो भी संगीत द्वारा आनन्द की प्राप्ति होती है वह राग, ताल, स्वर, लय, गीत, कविता के अर्थ से निर्धारित होती है।

'राग' सांगीतिक कलाकृति है। 'रंजकत्व' गुण के कारण राग को राग कहा जाता है।

''रञ्जकस्वरसंदर्भोगीतमित्यभिधीयते।''

स्वर : स्वरों से ही रागों का निर्माण होता है, स्वर राग के अंग-प्रत्यंग है। वह संगीतोपयोगी ध्वनि जो स्थिर, गूँजदार, स्पष्ट और श्रुति मधुर हो, स्वर कहलाती है। स्वर वे हैं जो स्वयं शोभित होते हैं, ''स्वयंराजन्तेइतिस्वराः।''

लय : क्रियाओं के अनंतर समय की समान विश्रांति को 'लय' कहते हैं। ''क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः।'' अर्थात् दो क्रियाओं के मध्य की विश्रान्ति लय है। लय संगीत में कालतत्व का निर्धारण करती है और तबताल की रचना होती है।

ताल : ''तालः कालक्रियामानम्।'' अर्थात् समय के मान को ताल कहते है। ताल शब्द की व्युत्पत्ति 'तत्' धातु से हुई है जिसका अर्थ है ''आधार अथवा प्रतिष्ठापक।'' गीत, वाद्य, नृत्य तीनों का आधार ताल ही है।

संगीत रचना के उपकरणों में पद, छन्द, तत्सम्बन्धी भाव, लय तथा ताल का महत्व है। ऐसी रचनाओं को आलाप, तान, अलंकार, मींड़, घसीट, आन्दोलनगमकत था आकस्मिक स्वर-सन्दर्भ-रूपी अलंकरणों से सजाया जाता है और तब वह रचना शक्तिदायक बनती है। इन सभी उपकरणों तथा अलंकरणों का सन्तुलित और समुचित प्रयोग ही राग को शक्ति प्रदान करता है। यह 'शक्ति' ही संगीत का 'सौन्दर्यतत्व' है।

संगीत की तीनों विधाओं-गायन, वादन और नृत्य इन सभी का अपना शास्त्रीय सौन्दर्य और अपनी अलग-अलग विशिष्टता है। इन तीनों विधाओं में कुछ विशेषताएं ऐसी हैं, जो समान रूप से सबके एक रूप हैं। जैसे - स्वर, लय, ताल, तिहाई, रस, छन्द और अलंकार आदि। गायन में इन सभी

विशेषताओं के साथ-साथ साहित्य की भी प्रधानता होती है। गायन साहित्य के बिना अधूरा है। संगीत में विभिन्न प्रकार की बंदिशें प्राप्त होती हैं। जो भक्ति श्रृंगार, वीर, वात्सल्य आदि रसों के निःसृत हैं। इसके अतिरिक्त निर्गुण पद, सगुण पद, ऋतु गीत, लोकगीत इन सबका संबंध साहित्य से है तो हम कह सकते हैं कि संगीत की गायन विधा और साहित्य। ये दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। एक-दूसरे के सौन्दर्य और विशेषताओं को समृद्ध करते हैं।

वैदिक काल से लेकर मध्य एवं आधुनिक काल तक भारतीय संगीत न जाने कितनी गायन शैलियों, विविध प्रवृत्तियों एवं संस्कृतियों से अनुप्रेरित होता रहा है। भारतीय संगीत साम-गान, स्तुतिगान, जातिगान, गीतिगान, ध्रुवागान, प्रबन्ध गान तथा ध्रुपदगान आदि के रूप में प्रवाहित होता हुआ वर्तमान में ख्याल गायन पर स्थिर है।

वर्तमान गायकी में ख्याल के साथ-साथ ठुमरी, दादरा, तराना, टप्पा आदि भी प्रचलन में है।अब त्रिवट-चतुरंग आदि गायन कम सुनने को मिलता है। प्रत्येक गायन शैलियों की अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, काव्य-योजना, प्रकृति, स्वर-योजना एवं ताल योजना निश्चित है। प्रत्येक गायन शैलियों की अपनी सांगीतिक विशेषताएं भी हैं।

सुखार्थाः सर्वभूतानां प्रवृत्ति :

इस कथनानुसार जगत सभी की प्रवृत्ति सुख (आनन्द) प्राप्त करने की ओर होती है। इसमें प्रदर्शनकारी कलाओं का सर्वोच्च स्थान होता है यथा- गायन, वादन, नर्तनादि। नर्तन के अन्तर्गत नाट्य, नृत्य, नृत्त का समावेश हैं। नर्तन श्रव्य एवं दृश्य दोनों होने के कारण आनन्दानुभूति कराने में अधिक सक्षम होता है। आनन्द प्राप्ति ही सौन्दर्यबोध है। सौन्दर्यबोध तभी सम्भव है जब रजोगुण एवं तमोगुण दोनों का लोप हो और सभी सत्व के धरातल पर पहुँच जाएं जिसे आचार्य भरत ने साधारीकरण कहा है। साधारीकरण नर्तन प्रदर्शन में सहजता से होता है और यह अनुभूति सदैव विद्यमान रहता है। जब भी प्रदर्शन स्मरण किया जाता है वही आनन्द साकार हो जाता है।

भारतीय वाद्य परम्परा :

भारतीय शास्त्रकारों के मत में वाद्यों की उत्पत्ति का कारण देवाधिदेव शंकर हैं। दक्ष के यज्ञ का विध्वंश करने के पश्चात् उद्वेग को शान्त करने के लिए भगवान शंकर ने नन्दी, नारद, तुम्बुरु इत्यादि को वाद्य-निर्माण के लिए प्रेरणा दी, फलस्वरूप वाद्यों का जन्म हुआ।

भारतीय संगीत में आदिकाल से वाद्यों का विशिष्ट स्थान रहा है। 'वाद्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'वद' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'बोलना'। डॉ॰ लालमणि मिश्र ने 'भारतीय संगीत वाद्य' पुस्तक में लिखा है- ''संगीतात्मक ध्वनि तथा गीत को प्रकट करने के उपकरण को वाद्य कहा जाता है।''

भारतीय संगीत में वाद्यों के चार वर्ग माने गये हैं। महर्षि भरत ने वाद्य वर्गीकरण के विषय में लिखा है-

ततंचैवाबनद्धं च घनंसुषिरमेवच।
चतुर्विधंतुविज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्॥

इन चारों प्रकार के वाद्यों के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा है, तत्, अवनद्य, घन एवं सुषिर क्रमशः तन्त्री वाद्य, पुष्कर वाद्य, ताल वाद्य तथा वंशी वाद्य हैं। तत् वाद्यों में वाद्यों के तकनीक एवं तार पर प्रहार कर विभिन्न छन्दों आदि से विविध ध्वनियों को उत्पन्न कर एक विशेष सौन्दर्य का बोध होता है। वहीं लगभग सभी सुषिर वाद्यों में फूँक के माध्यम से ध्वनि उत्पन्न होती है। जिसमें गायन की भाँति स्वाभाविक रूप से मींड आदि का प्रयोग होता है। इन सुषिर वाद्यों में प्राचीन एवं प्रमुख वाद्य बाँसुरी (वंशी) है। बाँसुरी भारत के विभिन्न प्रान्तों के अलावा विश्व के लगभग सभी देशों में अत्यन्त लोकप्रिय एवं सर्वाधिक प्रचलित वाद्य है। बाँसुरी में तन्त्र वाद्यों की अपेक्षा स्वर के दीर्घाकरण की ज्यादा सम्भावना होती है। यह शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ लोक से जुड़ा वाद्य है।

आचार्य भरत ने स्वर के निर्धारण में वीणा और बाँसुरी का उल्लेख किया है। यह सर्वजन ग्राह्य, सम्मोहक एवं अतिकरण प्रिय वाद्य है।

तत् वाद्य :

तत, तन्तु, तन्त्री इत्यादि शब्द 'तन्' धातु से बने हैं जिसका अर्थ होता हैं 'फैलाना', 'तानना'। जिस वाद्य में काठ इत्यादि पर तार फैलाकर रखे जाते थे, वे सब तत् वाद्य कहलाते थे। यह आवश्यक नहीं था कि वे तार लोहे, पीतल अथवा ताँबे के ही हों। पहले मूँज अथवा कुश को भी बटकर तार बनाते थे। अतः तार वाले सभी वाद्य 'तत' कहलाते थे चाहे वे तार किसी भी द्रव्य के बने हों।

ऋग्वेद के काल में सबसे प्रसिद्ध तार का वाद्य बाण अथवा वाण था। अन्य तन्त्र वाद्यों में गर्गर, गोधा, कर्करी, क्षोण एवं आघाटी आदि का उल्लेख मिलता है। रामायण एवं महाभारत काल में प्रमुख रूप से नकुल, त्रितन्त्री, चित्रा, विपञ्ची आदि वीणाओं का उल्लेख मिलता है। मध्यकालीन तन्त्री वाद्यों में एक तन्त्री, ब्रम्ह वीणा, आलापनी, किन्नरी और पिनाकी आदि प्रमुख वाद्य थे।

आधुनिक तन्त्री वाद्यों में सितार, सरोद, तानपुरा, सन्तूर, सारंगी, इसराज, दिलरूबा, रूद्रवीणा, विचित्र वीणा, सुरबहार आदि प्रमुख हैं। वायलिन और गिटार वाद्य भी अब प्रमुख भारतीय वाद्यों में माना जाता हैं।

साहित्य में जिस प्रकार विभिन्न भाषा-बोलियों तथा लोकाचार में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न शब्दों-पदों द्वारा अनेक स्थानों के भाषा में विभिन्न प्रकार के सौन्दर्य का बोध होता है। उसी प्रकार संगीत में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों से निकलने वाली ध्वनि में भिन्न-भिन्न प्रकार का ''सौन्दर्यबोध'' होता है।

सितार एक अत्यन्त लोकप्रिय, विश्व प्रसिद्ध, मधुर एवं कर्णप्रिय वाद्य है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी अपनी निजी ध्वनि हैं, जिसमें तार पर प्रहार करने के बाद इसके ढाँचे (तुम्बा) इत्यादि से स्वर कम्पित एवं आन्दोलित होकर इसकी तरब की तारों के माध्यम से गूँज पैदा करते हैं जो मूल स्वर के साथ-साथ उपस्वर (स्वतः उत्पन्न होने वाले) अर्थात् Over Tone के द्वारा ध्वनि के माधुर्य को बढ़ाकर अतिरिक्त सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं। गायन में एक बार एक स्वर का उच्चारण होता है। परसितार आदि वाद्यों में एक साथ एक से ज्यादा, दो, तीन या चार स्वरों को समानान्तर बजाया जा सकता है। स्वरों में अतिद्रुत गति में वादन भी वाद्यों में गायन की अपेक्षा ज्यादा होती है।

किसी भी वाद्य की बनावट, उसका आकार-प्रकार, ध्वनि उत्पन्न हेतु तुम्बे आदि का प्रयोग एवं आकर्षक दिखने हेतु वाद्य में अतिरिक्त सजावट उस वाद्य का ''बाह्य सौन्दर्य'' होता है। ''बाह्य सौन्दर्य'' में वाद्य की बनावट के साथ-साथ कलाकार की वेशभूषा, मंच का परिवेश एवं आधुनिक तकनीक द्वारा ध्वनि संचारण (माईक) आदि का विशेष योगदान होता है। परन्तु ये मूल यन्त्र का सौन्दर्य नहीं है। सितार आदि वाद्यों में आजकल तकनीकी रूप से बहुत बदलाव आया है। वाद्य में उच्च श्रेणी के निर्माता तुम्बा एवं विशेष लकड़ी द्वारा निर्मित डांड, परदे, खूंटियां, चौकी या ब्रिज के साथ तरब के तारों के प्रयोग एवं अच्छी जवारी द्वारा सितार के टोनल क्वालिटी में श्रेष्ठता अर्जित की है। ध्वनि में ठहराव (सस्टेन) बढ़ने से मिजराब के एक प्रहार में अधिक मींड या ज्यादा स्वरों के प्रयोग का अवसर बढ़ गया है। वहीं दूसरी ओर सितार वादकों ने कठिन परिश्रम एवं साधना से एक मिजराब के द्वारा उत्पन्न ध्वनि में बाएं हाथ की वादन तकनीक (मींड, खटका, मुर्की, कृन्तन, जमजमा, घसीट) आदि से सौन्दर्य में वृद्धि की है।

इस प्रकार सितार में दाएं हाथ से प्रहार का 'रणन' उत्पन्न करते हैं तथा बाएं हाथ के तकनीक से अनुरणन उत्पन्न करते हैं।

सितार वादन में सरोद की अपेक्षा चंचलता दिखता है जो इसे रोचकता प्रदान करता है। ध्रुपद गायकी के नोम-तोम के आलाप का सितारवादकपूर्ण रूप से अनुसरण कर जोड़ आलाप का वादन करते हैं।

सितार वादन की विधि :

1. सितार की बैठक सितार के तुम्बा को बायें पैर के तलुए पर रख कर दाहिने हाथ से (हाथ को तुम्बा के ऊपर रख कर) सितार को संतुलित करते हैं। दाहिने हाथ के अगूँठे को अग्र भाग पर रख कर तर्जनी उंगली में मिज़राब से बाज के तार पर प्रहार करते हैं।
2. बायें हाथ की तर्जनी से सा के परदे पर दबाकर दाहिने हाथ से प्रहार कर साब जाते हैं। बाहर से भीतर की ओर प्रहार करने पर जो ध्वनि निकलती है उसे 'दा' और भीतर से बाहर की ओर उंगली से प्रहार करने पर 'रा' कहते हैं। दोनों एक साथ बजाने पर 'दिर' कहते हैं।
3. बायें हाथ की तर्जनी के साथ मध्यमा उंगली का भी प्रयोग करते हैं।
4. दायें हाथ की तर्जनी उंगली से बाज के तार के अतिरिक्त चिंकारी के तार पर प्रहार कर झाला बजाते हैं।

हिन्दुस्तानी संगीत के इतिहास में अनेक ऐसे सितार वादकों के नामों का उल्लेख मिलता है, जो इस बात के लिए प्रसिद्ध हैं कि वे सितार में बीनकारी के सभी अंगों का वादन कुशलतापूर्वक करते हैं।

सितार की तकनीक :

सितार के स्वरूप, बनावट तथा वादन शैली को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि यह भारतीय वाद्य है। ईरान या मध्य एशिया के तत्वाद्यों का अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट होता है कि इन देशों में लकड़ी के तुम्बे बनाने की परम्परा है, लौकी या कद्दू की नहीं। कद्दू का तुम्बा निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति की देन हैं। भारतीय वाद्यों में कद्दू के तुम्बा का बनाने का उद्देश्य स्वरों में अधिक गूंज पैदा करना है। चूंकि भारतीय वादन शैली में गमक, आन्दोलन और मींड का प्रायः प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। अतः स्वरों में अविच्छिन्नता (Continuity) तथा गूँज (Resonance) की आवश्यकता है, जो लकड़ी के तुम्बा युक्त प्रहार किए जाने वाले तत् वाद्यों में आसानी से नहीं मिल सकता। गमक तथा मींड और मार्दव की परिभाषा अन्य देशों के संगीत में नहीं मिलती। इस दृष्टि से सितार मूलरूप से भारतीय वाद्य होना निश्चित है।

ख्याल गायकी के पूर्व ध्रुपद-धमार गायन शैली का अत्यधिक प्रचार एवं प्रभाव था। उस समय रूद्रवीणा तथा रबाब का उल्लेख मुख्य वीणा के रूप में मिलता हैं। ध्रुपद-धमार गायकी एवं बन्दिशों का अनुकरण प्रमुख रूप से रूद्रवीणा या बीन, रबाब, किन्नरी आदि वाद्यों में होता था। ख्याल गायकी का जैसे-जैसे प्रचार-प्रसार होने लगा, सितार की भी अन्य वाद्यों की अपेक्षा लोकप्रिय एवं प्रमुख वाद्यों में गिनती होने लगी। प्रारम्भ में उस्तादानों ने सुरबहार पर बीन अंग से आलाप तथा सितार पर बन्दिशों की शिक्षा दी। प्रयोग क्रिया में निरन्तर चिन्तन के फलस्वरूप सोनिया घराने के उस्ताद मसीत खाँ ने मसीत खानीगत तथा लखनऊ के गुलामरजा ने रजाखानीगत का अविष्कार किया।

गत :

सितार के वादन में परम्परागत दो प्रकार की शैलियाँ (बाज) प्रचलित हैं। एक मसीत खानी दूसरा रजाखानी।

मसीतखानीगत :

उ॰ मसीत खाँ द्वारा निर्मित इस गत को विलम्बित लय में बजाने की प्रथा थी, जिसके मिजराब के बोल निश्चित थे, दिरदादिरदारादादारा, दिरदादिरदारादादारा। यह गत तीन ताल में निबद्ध बारहवीं मात्रा से प्रारम्भ होता था। आज मसीतखानी गत को अतिविलम्बित लय में बजाने की प्रथा प्रारम्भ हो गयी है। जिसमें मिजराब के बोलों का ज्यादा प्रयोग होने लगा और अब इसे मसीत खानीगत के स्थान पर विलम्बित गत लोग कहना शुरू कर दिये। इसमें वादक अपनी सूझ-बूझ से अधिक स्वरों तथा अधिक मिजराब के बालों का प्रयोग कर मींड के साथ गत के मुखड़े को सौन्दर्य परक बनाते हैं। गत के बारहवीं मात्रा के दो स्वर (दिर) के स्थान पर चार, छः या आठ स्वरों को

दो से ज्यादा मिजराब के प्रयोग से वादन कर सितार वादन के सौन्दर्य में और वृद्धि करते हैं।

रजाखानी गत :

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लखनऊ के प्रसिद्ध सितारवादक गुलामरज़ा ने ठुमरी तथा तराना के आधार पर मध्य तथा द्रुत लय की गतें निर्मित की जो बड़ी रोचक एवं आकर्षक थीं। इसे रजाखानी गत कहा जाने लगा। रजाखानी गत किसी निश्चित मात्रा से प्रारम्भ होने का प्रमाण नहीं मिलता। यह गत तीन ताल में निबद्ध प्रायः सम से, खाली से, सातवीं मात्रा से तथा बारहवीं मात्रा से प्रायः मिलता है। कई विद्वानों ने अन्य मात्राओं से प्रारम्भ कर उसे 'द्रुतगत' नाम दिया।

इन गतों में प्रारम्भिक मात्रा तथा सम-खाली को ध्यान में रख कर मिजराब के बाले निश्चित किये जाते थे।

इन दोनों शैलियों (बाज) के अतिरिक्त मध्य लय में अमीर खानीगत, फिरोज खानीगत, सितार खानी, मिश्रबानी, और जाफरखानी गतों का वर्णन मिलता है परन्तु इन सभी गतों की स्वरबद्ध रचनाएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है।

आलाप :

रागानुसार स्वरों की विलम्बित लय में विस्तार करना ही 'आलाप' है। आलाप में स्वर की प्रधानता रहती हैं, लय की नहीं। सितार पर आलाप मूलतः गायन शैली के ध्रुपद एवं ख्याल अंग के समान ही होता है। सितार पर गायकी अंग के साथ-साथ सितार की तकनीक खटका, मुर्की, घसीट आदि से भी आलाप को सजाते हैं। प्रारम्भिक आलाप में (जो कि बिना लय के) स्वर विस्तार करते हैं, उसके बाद जोड़ आलाप के लिए धीरे-धीरे लय बढ़ाकर जोड़ आलाप प्रारम्भ करते हैं।

जोड़-आलाप-जोड़-आलाप के स्वरों में गति तो होती हैं किन्तु लय अथवा ताल नहीं होती। जोड़-आलाप की अपनी एक बराबर की लय वादक स्वरों एवं चिंकारी के प्रयोग से निर्मित करता है। जैसे साऽ साऽ साऽ साऽ, किन्तु बाद में लय बढ़ती जाती है और स्वरों का प्रयोग क्रमशः बढ़ता जाता हैं और चिंकारी का प्रयोग कम होता जाता है। जोड़ के अन्तिम चरण में स्वरों की गति तानरों के समान द्रुत हो जाती है तथा प्रत्येक खण्ड की समाप्ति पर चिंकारी के प्रयोग से ठहराव करते हैं।

झाला :

जोड़-वादन के बाद झाला-वादन होता है। झाला बाज के तार पर स्वर बजाने के बाद चिंकारी के तार को तीन बार बजाकर-साऽऽऽ तथा इसमें स्वर एवं चिंकारी के प्रयोग में छन्द का आधार लेते हुए विविधता पैदाकर वादन करते हैं। द्रुतगत (रजाखानी गत) के वादन के बाद की झालाद्रुत लय में बजाकर वादक कार्यक्रम समाप्त करते हैं। मुख्य रूप से दोनों झाला में विशेष अन्तर नहीं होता परन्तु जोड़-आलाप के झाला में तबला नहीं बजता और छन्द प्रधान होता है जबकि गत के झाला में तबला बजता है और लय तथा गति प्रधान हो जाता है।

मींड :

संगीत में एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाते समय मध्य का अंश ऐसी सुन्दरता से कहना कि दोनों स्वरों के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाए। मींड में दो पृथक् स्वरों को इस प्रकार बजाते हैं कि दोनों स्वर अटूट सुनाई पड़े। इसमें बीच के स्वरों का स्पर्श होता है, किन्तु वे पृथक् नहीं सुनाई पड़ते। सितार में बाज के तार को खींचकर कम से कम एक स्वर अधिकतम पाँच स्वरों की मींड खींची जाती है। ये मींड आरोही और अवरोही दोनों होती है।

कण :

किसी मुख्य स्वर को बजाते समय उसके आगे या पीछे के स्वर को अल्प प्रयोग करें तो उसे 'स्पर्श स्वर' या 'कण स्वर' कहते हैं। इसे अत्यन्त कुशलता से बजाते हैं। यह क्रिया गायन और वादन दोनों पक्षों में रंजकता और सौन्दर्य वृद्धि के लिए की जाती है।

गमक :

स्वरों को मींड के द्वारा इस प्रकार से कम्पित करना कि सुनने वालों के चित्त को रंजित कर सके, उसे गमक कहते है। ''स्वरस्य कम्पोगमकः श्रोतृचित्तसुखावहः'' अर्थात् एक विशेष प्रकार के मधुर कम्पन को गमक कहते हैं।

कृन्तन :

यह क्रिया मुख्यतः सितार और सरोद की है। मिजराब के एक प्रहार के बाद बायें हाथ की उँगलियों से मुख्य स्वर बजाकर अन्य स्वरों का प्रयोग करना जैसे रेसा नि. सा अथवा ग म ग रे ग आदि बजाना कृन्तन है।

मुर्की :

मुर्की की एक प्रकार के कण स्वरों का प्रयोग है। इसमें तीन स्वरों के द्रुत प्रयोग द्वारा अर्थवृत्ति बनाते हैं। जैसे रेसा नि. अथवा ध प म आदि। इसको रेसा नि. तथा ध प म इस प्रकार भी लिखते है। इसमें भी मिजराब का प्रयोग एक ही बार करते है। अन्य स्वर बाएं हाथ की तर्जनी एवं मध्यमा के प्रयोग से बजाते हैं।

सूत तथा घसीट :

एक स्वर से दूसरे स्वर पर उंगली को घसीट कर ले जाना जिसमें स्वर खण्डित न हों सूत या घसीट कहलाता है। कुछ विद्वान इसी क्रिया को सारंगी या वायलिन (गजवाद्य) पर बजाने को सूत एवं सितार एवं सरोद पर बजाने का घसीट कहते है।

जमजमा :

यह उर्दू भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है- स्वर योजना। सितार वादन में कण, खटका, मुर्की, कृन्तन और जमजमा आदि विशेष सौन्दर्य अलंकार हैं जो वादन क्रिया में अत्यन्त आस-पास हैं। कहीं-कहीं पुस्तकों में एक-दूसरे का विपरीतार्थ भी मिलता है। सभी क्रियाएँ एक ही मिजराब से दो, तीन, चार आदि के स्वरों का वादन करना होता है। इसमें विशेष बात बाएँ हाथ की तर्जनी और मध्यमा उँगली का विशेष प्रयोग होता है।

जमजमा में एक ही मिजराब से दोनों उँगलियों द्वारा रेसा को एक से ज्यादा बार बजाया जाता है जिसमें एक प्रकार का खटका या कृन्तन के सहयोग से ''रेसा रेसा वादन होता है।

इस प्रकार वर्तमान सितार वाद्य में तन्त्र वाद्य शैली एवं गायन शैली दोनों ही विधाओं के लिए उपयोगी है। सम्प्रति वर्तमान सितार से तन्त्र भी सम्पूर्ण विधाएं एवं गायन की भी सम्पूर्ण विधाएं प्रस्तुत की जाती है। इसलिए इसका सर्वाधिक महत्व है।

Traditional Musical Instruments of Kashmir A Study

ISHTAIQ AHMAD RAINA
PhD scholar, Dept. of Performing Arts Music,
Lovely Professional University Punjab, India

Abstract

Musical instruments have been in existence since prehistoric times, but their exact origin is unknown. It has become an important part of every society and culture. People even used stone plates to make music in prehistoric times. Musical instruments have come a long way; they are now more diverse, ranging from simple to complex musical instruments. the Kashmir also holds a history of traditional musical instruments which became the soul of Kashmiri music. In Rajtrangini, the enormous poet of Kashmir, Kalhana mentions the history of musical instruments in Kashmir.

Key words

Saaz e Kashmir, Santoor, Sehtar, Tumbaknari, Swarnai

Introduction :

Raj Tarangini explicitly emphasizes the art of music and musical instruments in the distant past in this place. The ancient musical instruments used in Kashmir were mainly a reflection of the Indian instruments in use at the period. Kashmiri people have been using folk musical instruments such as earthen pots, brass vassals, and so on since ancient times, according to Pandit Kalhana. In Kashmir, a 4th century AD tile discovered during an excavation in Harvan depicts a female musician performing on a drum. In an artistic pastime, the other person is represented playing Veena. King Bhiksakara (1120-21) AD, who played these instruments himself, was a fan of "Chhakri" (folk choral singing), which had been popular in Kashmir valley since Kalhana's reign and even before. Raj Tarangini mentions a "Hadukka" instrument, which is similar to a large pipe. According to B.C Deva, the string instruments Rabab and Sarangi arrived in Kashmir as a result of Muslim influence. The new rulers' culture had an impact on the entire subcontinent. We discovered new Rajas, new styles, and new instruments like the Rabab and

Sarangi in music. Rabab went with Afghan bards and minstrels, and in Kashmir, he joined the folk group instruments. According to some experts, it must have arrived in Kashmir during the reign of Zain-ul-Abidin. The Rabab, a Persian instrument, is one of the most prominent instruments in folk music. From the 14th century onwards, both instruments,

Rabab, and Sarangi, were employed in folk music 'Chhakri,' which created a new chapter in Kashmir for music and its musical instruments. According to V.N Bhatkhande, Muslim rulers brought their own system of music with new Talas, which merged with Hindu music throughout time and gave rise to modern Hindustani music. In the same way, during the Sultanate period, artists from Central Asia agreed their art and music with them, giving birth to current Hindustani music. Similarly, during the Sultanate period, artists from Central Asia brought their art, music, musical instruments, and culture with them, ensuing in a wonderful relationship that ultimately gave rise to Kashmiri classical music, known as Sufiyana Mousiqui. Its style was inspired by Persian music. Kashmir has kept a distinct form and extraordinary amalgamation of several genres of classical music because of the cultural contact. Under the patronage of monarchs and saints, Kashmiri music reached its pinnacle of perfection during this time. Many adjustments were made to traditional instruments to make them more beneficial to the art. Santoor, Saaz, Setar, Rabab, and Sarangi are inventions and innovations that represent the changes that occurred throughout this period.

The musical instruments have played a key role in the evolution of Kashmiri Sufiyana Mousiqui. This Mousiqui has a deep impression on the listener and it's in the nature of very serious music. The Kalaam or the verses are also strange, and this technique of music has been very careful in this respect. Similar in the case of instruments used in this Mousiqui, which have been selected with due thought. The instruments used by the Sufiyana musicians are quite different from those used in Indian Classical Music, Kashmiri folk music and other styles. The prominent instruments include the percussion instruments for providing rhythmic variety is Tabla which replaced / Wasul or a Dolki called Dokra, used previously. (Sunita Dhar)

Kashmiri Santoor :

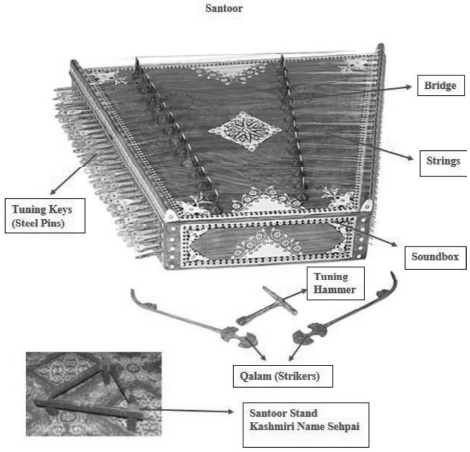

The Santoor at present has two forms, one is played with Sufiyana Mousiqui and the other modified form of the later is played with Hindustani classical music. Earlier Santoor was confined to the Sufiyana Mousiqui and Kashmiri folk music but at present Hindustani classical music is also played on it. Although the basic structure remains the same, the Sufiyana Santoor differs from Hindustani classical Santoor in many ways. The Santoor accompanying Sufiyana Mousiqui has hundred strings in all which are stretched over 25 bridges, each bridge has four strings for each note, two of which is of steel and tuned to higher octave and the other two of copper or bronze and tuned to lower octave. The string starts with middle octave Shadaj (Sa) and goes up to Pancham (pa) of higher octave, thus making the range

one-and-a-half octaves in total. The instrument is played on a small triangular shaped three-legged stand that keeps the instrument slanted, thus making it easier to reach the top strings. It is played with two wooden hammers known as qalam. The wood of Bhairav Kastha is used for making the strikers. The shape of the strikers has significance as they resemble a snake. It is believed that the Kashmiri race is of the Naga jati and worshippers of Lord Shiva. The wood used in the making of the instrument is generally of mulberry (toont) tree. (Shabir Ahmad Mir)

Kashmiri Rabab :

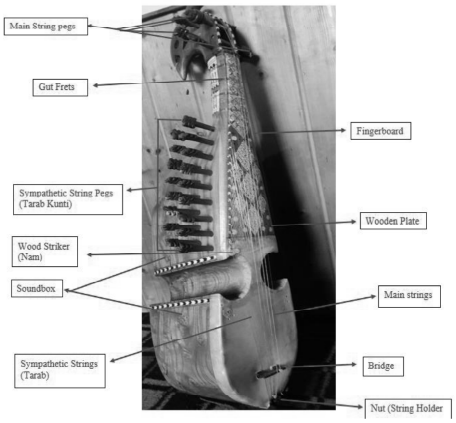

Rabab is an important part of Kashmiri music. Mulberry wood from second growth is used. It's roughly 3.5 feet long. Rabab is typically performed as a song at weddings and other special occasions. It brings harmony and quietly to the spirit. People admire Rabab as a result; many young Kashmiri artists want to perform Rabab. The three main threads and the body of Rabab are constructed of goat intestine skin. Thus, the word "Rubab" imply that this musical instrument carry the character of someone. It is a prominent musical instrument in Kashmir. (Paannyar)

Kashmiri Sarangi :

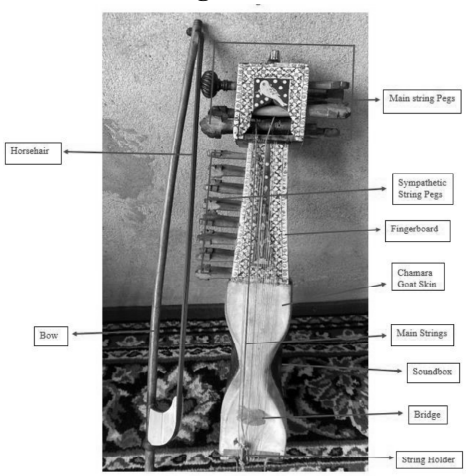

Kashmiri Sarang has a simple structure. It is made of a single piece of wood, most commonly mulberry or teakwood. The inside of the body is hollow, and it is made up of two sections. The lower section's sides are similarly perforated, and the entire thing is sealed with secretion. The fingerboard

concept is realized using the upper partition. It measures one and a half feet in length. Two gut strings, one steel string, and one coiled brass string make up this instrument (making four main strings). It also has eight or ten 'terban,' or sympathetic steel wires/strings. It is played with a bow, made of hard round stick of wood, to which hair of the tail of horse are fixed at both the ends, and a small wooden triangular but curved bridge is places at one end to keep at hair light. To make sound, the bow is held in the right hand and moved vertically on the main strings from one end to the other. The fingers namely fore, middle, ring and sometimes little finger are used to produce notes of different pitch at different length of different strings. The fingers, however, do not press down the strings on the

fingerboard, but are simply touched at the initial position with nails of each finger of the left hand, thus the musical notes are produced. Besides Kashmir, in the hilly areas of Himachal Pradesh, the playing of Sarang is common. It is also well-liked surrounded by the tribal's of Bihar. In northern India, Sarang, as well creature played with the bow-perverse stick, is also played with the 'Kanishtha' (the little finger) of the left hand Traditional folk singers mostly employ Sarang in traditional folk song. Sarang's tone is incredibly calming and agreeable to the ears.

Tumbaknari :

In the olden days in Iran and Central Asia, the Tumbaknari was a musical instrument played mostly by the ladies of the region. Many authors believe that such a device is also in use in Iran and Arabia. Perhaps it came to Kashmiri from these regions for the simple reason that visitors and rulers from Iran and the Middle East used to come to Kashmir in the past, inflicting cultural invasion on Kashmiri art. This instrument is also played by women in Kashmir, with the sole variation being that it is now constructed of wood in Iran and Central Asia, whilst it is still made of baked clay in Kashmir preserving its uniqueness. This sort of instrument is used to keep time and keep rhythm during a musical performance.

Dr. Rahullah-Khaliqui describes the Iranian method of playing this instrument on page 403 of his book 'Serguzashti-Mousiqui-Iran.' This instrument is known as Tumbakh or Tumbakh in Iran. Tumbal or Tumbari in the west, and Tumbaknari in Kashmir the near is added because the tail end of this instrument resembles a pipe called a Nore in Kashmir, which has changed to near through time, resulting in the instrumental Tumbaknaeer. It is commonly utilized by women for special events such as weddings, Yagnopavit, and so on. The ideal corresponding beat is achieved by outstanding it with the fingertips.

Swarni :

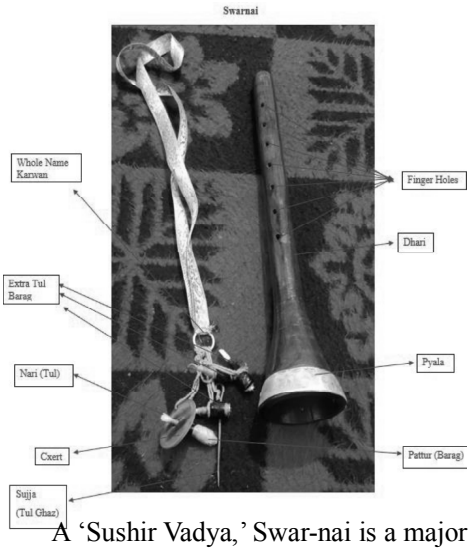

A 'Sushir Vadya,' Swar-nai is a major part of Kashmiri traditional music. The Nilamata Purana and Kalhana's Raj Tarangini both mention this instrument. Swarnai is the equivalent of the Shahnai in Indian music in Kashmir traditional music.

Swarnai is also known as Shahnai in Kashmiri music because of this. The terms Swar and Nai combine to form Swar-nai. In comparison to Shahnai, Swarnai has a slightly larger structure. This instrument is constructed of wood and was created by Swarnai's traditional artisans. It contains nine holes and a till type square through which the player blows air near the spherical mouth of Swarnai. In Kashmiri language, this is known as Tulbarabir Tulkarav. In Kashmiri tradition, playing Swarnai is regarded highly auspicious. This musical instrument is closely associated with Hindu and Muslim weddings, festivals, shivratri, navreh, Id, and other auspicious occasions. Bhands also utilize it when participating in the traditional drama 'Lok Natya.' Aside from that, it's popular in the bachi naghma traditional dance. During the harvest, Swarnai players visit farms and perform amusing music to delight the farmers while collecting the crop. Swarnai, a musical instrument, is commonly utilized in Kashmiri folk music.

NOET :

Noet is an earthenware bowl designed for collecting water in rural India Now a days it's usually made of brass or copper, but the earthenware version is still widely used in Kashmiri music it has a round belly with an open mouth at the upper part of the pot. The drum is the oldest type of drum known to mankind. The Kashmiri Noet is in shape similar to the Ghatam used in the South or the Matki used in Rajasthan. Both these instruments are used in the music of this state which shows that they shared a common cultural background. The skill and style of their playing may have differed depending on the traditions prevalent in their respective regions. In Kashmiri language, the original words 'Kalash' or 'Ghat' may have disappeared and Noet might have gained popularity because it was associated with 'UV' (nat). According to Kalhana, the term nat Kalash might lose the word 'Kalash' and become known as 'noet' in due course of time. This is mentioned in Nilamata Purana (i.e., rested clay pot players, Bhands). (The tradition is being carried on by the natives living in the distant rural areas of Kashmir, who spend their evenings practicing this ancient art. The name of Mohan Lal Aima is worth mentioning here, who devoted a great deal of time to study Noet playing and thus revived the art and its importance.

NAI (FLUTE) :

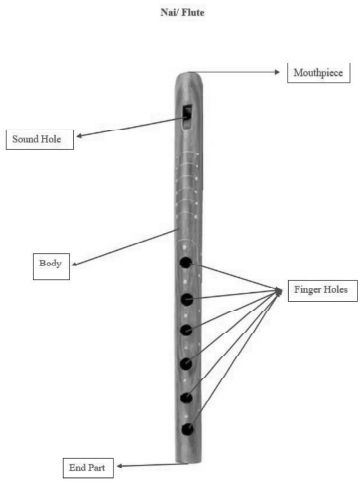

The word 'Nai' in Kashmiri usually means flute. The utilize of Nai in Kashmiri traditional music dates reverse more than two thousand years, according to the Nilamata Purana. "Punyahved shabdin venurvenaya sut magadh shabdin tatha vandisvanenc" "Punyahved shabdin venurvenaya sut magadh shabdin tatha vandisvanenc" Both banshi and venu are mentioned in the Nilamata Purana, and Kashmiri musicians, particularly in Anantnag, can play both types of flutes today. The inside of the first flute is hollow, with seven holes for seven swaras. When playing it, both hands' fingers are used. Folk music uses this type of flute more frequently. The second type of flute is known as the 'Pi-Pi' in Kashmiri. Walnut wood is used to make this flute. Despite the fact that this flute has seven holes, the air blowing hole is absent; instead, the next hole is inserted in the mouth and blown. The seven holes are clearly visible to the player. This instrument is simpler to play and requires less effort from the musician. In Kashmir, this specific flute is more well-known. (Sunita Dhar)

Saaz-e-Kashmir :

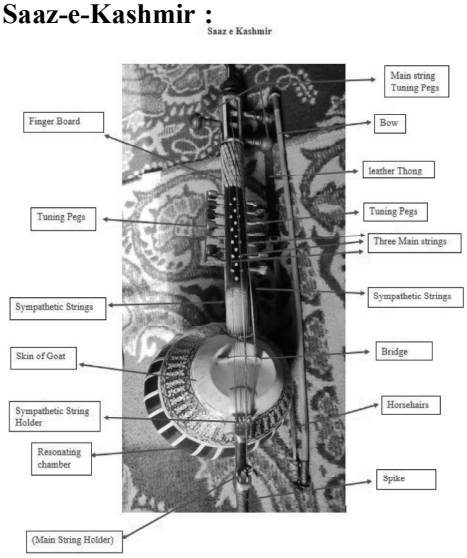

During the 1970s and 1980s, just a few musicians played Saaz-e-Kashmir, and it was practically extinct. It is linked to the Persian Kamancha, but with Indian-influenced alterations. It's a bowed spike lute with three melody strings and fourteen sympathetic strings hooked to pegs on either side of the spherical neck. The uppermost melody string is made of light gut and tuned to five; the middle tune is tuned to one (systemic tonic); and the correct tune is made of metal and is tuned to one. Wood and flesh make up the sympathetic strings. The two Saz-e-Kashmiris I was able to examine both had mulberry wood bodies and skin faces. The lefthanded technique, like the Hindustani Sarangi, involves stopping the strings from the side with the fingertips. Horsehair is connected to a thong of lather about the same length as the hair. The bow is a little loose, and you may adjust the tension with your palm. (Jozef M Pacholczyk)

Kashmiri Sehtar :

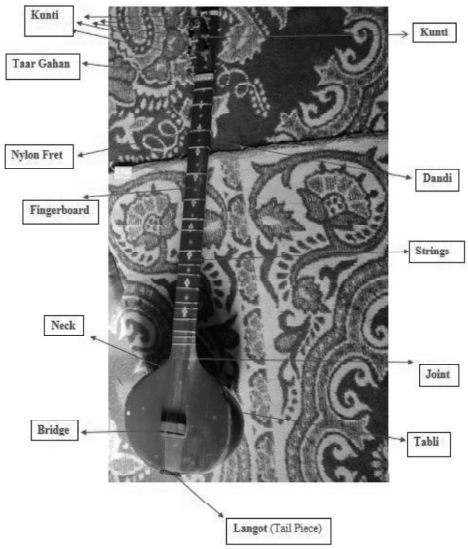

The Kashmiri Sehtar is one among the earliest types of modern contemporary Sitar. It's a Persian instrument with the

same name that's longer than the Persian Sehtar but shorter than the Hindustani sitar. The Kashmiri Sehtar is similar in design and idea to the Persian tambour or Ud and the Indian Veena. It exemplifies the clash of Indo-Persian culture and civilization. The Kashmiri or Persian Sehtar is shown in Mughal paintings from the 12th through 16th centuries. According to legend, the Kashmiri Sehtar was the first Indian Sitar model. In contrast to Indian Sitar, Kashmiri Sehtar is a plucked lute with a long neck, similar to Persian Sehtar that is specifically created to accompany Sufiyana Mousiqui. It is self-contained. The Dand, or fingerboard, is 2 to 212 inches wide. Instead of five strings, there are now seven. Nylon thread frets are fixed and immovable on the Dand. As a result, meend is not produced, which is only possible with movable frets. The frets on Persian Sehtar can be altered since they are made of animal intestine.

Wasul / Tabla / Dokra :

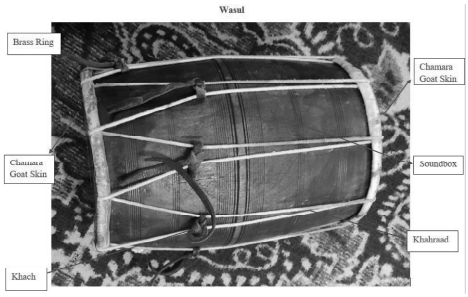

To keep time, Sufiyana musicians used the Wasul, a double-shaped barrel drum like the Dholak but without the paste on the sides. Wasul was later phased out in favor of Dokra, a larger version of the Hindustani Tabla. The Bayan of the Dokra differed greatly from that of the Hindustani Tabla. It was formed like a Mridanga and kept vertical. The Hindustani Tabla soon took over as the only percussion instrument available. Some Sufiyana Tabla players still call the instrument Dokra. The Tabla duo's righthand drum is the Zir, and the lefthand drum is the Bam. Tabla has been found to be a more practical, straight-forward, and appropriate instrument than Wasul. (Mir Shabir)

Conclusion :

Kashmir has a unique and diverse musical and musical instrument repertory. The musical instruments have a long history. Several archaic historical works, such as Kalhana's Rajtrangini, include these old foundations. It was written in the 12th century A.D. Jammu and Kashmir's traditional music is said to be influenced by Central Asia. Kashmiris have accepted a variety of musical instruments from Central Asia. Surnai, Santoor, Sehtar, Tumbaknari, Noet, Rabab, and other significant musical instruments are played in Kashmir. Every musical instrument has its own historical significance Kashmiri music reflects the region's rich melodic tradition and enlightened inheritance.

References :

1. Dhar, Sunita. 2003. The Traditional Music of Kashmir. Kanishka publication. New Delhi.
2. Mir, S. A. 2015.Sufiana Mousiqi of Kashmir. B. R. Rhythms.
3. Pacholczyk, JM. 2015. Sufiyana Kalaam, the Classical Music of Kashmir' in Asian Music, Vol.10 (1), University of Texas Press.

Websites :

- https://www.paannyaar.com/kashmiri-musical-instruments

तत् वाद्यों में बेला का स्थान : एक अध्ययन

खुश पॉल
शोधार्थी, गायन विभाग,
संगीत एवं मंच कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. श्वेता कुमारी
शोध निर्देशिका, सहायक आचार्या,
संगीत अनुभाग, महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध सार

वैदिक काल से ही भारतीय संगीत में तंत्रीय वाद्यों का विशिष्ट स्थान रहा है। विविध काल खंड में विविध तंत्रीय वाद्यों का उद्भव एवं विकास होता रहा। जनरुचि के परिवर्तन के कारण समय, विविध वाद्यों के प्रचार में आने तथा अप्रचलित होने का साक्षी रहा है। वर्तमान काल में जनरुचि ने तंत्रीय वाद्यों में बेला को विशिष्ट स्थान पर अभिषिक्त किया है। विद्वतविमर्श के बाद भी अत्यधिक विद्वान अभी तक इस वाद्य के उद्भव के सन्दर्भ में एकमत नहीं हैं। वर्तमान काल में बेला वाद्य से स्वतंत्र वादन तथा गायन के साथ संगत भी किया जाता है। शास्त्रीय के साथ साथ उपशास्त्रीय तथा सुगम या फिल्म संगीत में भी स्वीकार किया जाता है। भारतीय संगीत के अंतर्गत उत्तर तथा दक्षिण की सीमा स्वीकार नहीं की साथ ही पाश्चात्य संगीत में इस वाद्य का विशेष स्थान है। प्रस्तुत शोध पत्र के अंतर्गत भारतीय संगीत में बेला वाद्य के विशिष्ट स्थान पर अध्ययन प्रस्तावित है।

सूचक शब्द

भारतीय संगीत, बेला, तत् वाद्य, वर्गीकरण

भूमिका :

भारतीय संगीत में गायन, वादन एवं नृत्य तीनो कलाओं का समावेश है। तीनों ही कलाएं अन्योन्याश्रयी हैं। भारतीय संगीत के विकास क्रम को देखा जाय तो वाद्य संगीत ने सदैव अपने योगदान से इसे समृद्ध किया है। अनेक प्रकार के वाद्य होने के कारण विद्वानों को वाद्यों के वर्गीकरण की आवश्यकता हुई, तो समय-समय पर विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में वाद्यों के वर्गीकरण पर अपने विचारों का उल्लेख किया है। कोहल ने पांच प्रकार के वाद्यों का, तो नारद ने तीन प्रकार के वाद्यों का उल्लेख किया है। महर्षि भरत ने चार प्रकार के वाद्यों को माना। इस प्रकार अनेक विद्वानों ने वाद्यों के वर्गीकरण पर अपने विचार व्यक्त किये किन्तु प्राचीन काल से वर्तमान काल तक जितने भी विद्वानों ने वाद्य वर्गीकरण किये उनमें से महर्षि भरत का वर्गीकरण सर्वथा उचित एवं उपयोगी प्रतीत होता है। महर्षि भरत के अनुसार तत्, सुषिर, अवनद्य एवं घन चार प्रकार के वाद्य होते हैं । प्रयोग की दृष्टि से सभी प्रकार के वाद्यों का भारतीय संगीत में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु 'वैदिक युग से आधुनिक युग तक तत् वाद्यों की परम्परा इस बात का प्रमाण है कि अन्य वाद्यों की अपेक्षा अधिक उपयोगी होने के कारण तत् वाद्यों का बहुमुखी विस्तार हुआ है।' वैदिक काल में सभी प्रकार के तत् वाद्यों को वीणा कहा जाता था। लेकिन मध्यकाल के उतरार्ध में 'वीणा' संज्ञा एक विशेष प्रकार के तत् वाद्य के लिए

प्रयोग होने लगी। वैदिक काल से मध्य काल तक के तत् वाद्यों का इतिहास देखें तो एक तार से लेकर सौ तार तक की वीणाओं का विकसित रूप देखने को मिलता है। किन्तु मध्यकाल समाप्त होते-होते बहुत सी वीणाएं लुप्त हो गयीं तथा बहुत से नवीन तत् वाद्यों का आविष्कार हुआ। मध्यकालीन नवीन तत् वाद्यों का आधार प्राचीन वीणा ही थे। वीणा के आधार पर ही सितार, सरोद, सुरबहार, सुर सिंगार, संतूर, सारंगी, इसराज, दिलरुबा, ताउस आदि वाद्यों का निर्माण हुआ। कुछ तत् वाद्यों का विदेशों से भी आगमन हुआ जैसे रबाब, वायलिन आदि। नवीन तत् वाद्यों में से सितार, सरोद, सारंगी जैसे वाद्यों ने अपनी विशेषताओं के फलस्वरूप भारतीय संगीत में अपना स्थान बना लिया है। इसका सबसे बड़ा कारण इन वाद्यों को अपनाने वाले कलाकारों का वाद्यों के प्रति समर्पण रहा। अनेक कलाकारों ने अपने परिश्रम एवं कठिन अभ्यास के बल पर इन वाद्यों को भारतीय संगीत में सफल बनाने में अहम योदान दिया। किन्तु कुछ वाद्य ऐसे भी रहे जिनको भारतीय संगीत में उनकी विशेषताओं के अनुरूप सफलता नहीं मिल पायी जैसे इसराज, दिलरुबा, ताउस, रबाब आदि। क्योकि किसी बड़े तथा घरानेदार कलाकार द्वार इन वाद्यों को अधिक महत्व नहीं दिया गया। चर्चा करें वायलिन की तो वायलिन एक विदेशी वाद्य है भारतीय संगीत के लिए वायलिन अन्य तत् वाद्य की अपेक्षा नवीनतम वाद्य है। नवीनतम एवं विदेशी वाद्य होने के बाद भी वायलिन ने भारतीय संगीत में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बनाया है।

वायलिन मूलतः विदेशी वाद्य है ऐसा अधिकतर विद्वानों का मत है। भारत में वायलिन का आगमन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। 'वायलिन स्पेनिश भाषा का शब्द है।' भारतीय संगीतकारों ने इस वाद्य को बेला कह कर संबोधित किया है। बेला वाद्य के आविष्कार के विषय पर अनेक मत पाए जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है इटली निवासी 'गास्पर डुइफ़ोप्रगर' ने इसका आविष्कार किया। कुछ विद्वानों का मत है बेला के निर्माता इटली के 'आंद्रे अमाती' हैं। कुछ गुणीजनों का विचार है कि इटली के ही निवासी 'गैस्पर-द-सालो' ने बेला को बनाया। कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि इस वाद्य का जन्म भारतवर्ष में हुआ और कालान्तर में ये यूरोप ले जाया गया। तत्पश्चात वहां इसका विकास आधुनिक बेला के रूप में किया गया। 'पाश्चात्य देशों के संग्रहालयों में कुछ ऐसे चित्र प्राप्त होते हैं जो वर्तमान में प्रचलित बेला के आकार से मिलते-जुलते हैं। सन् 1505 से 1508 के मध्य 'गारोफालो' द्वारा बनाया चित्र जिसमें एक महिला के हाथों में बेला को स्पष्ट देखा जा सकता है।' एक अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये चित्र 'गास्पर डुइफ़ोप्रगर', 'आंद्रे अमाती', 'गैस्पर-द-सालो' के जन्म से पहले का है । इस लिए इन तीनों को बेला वाद्य का निर्माता कहना उचित नहीं जान पड़ता है। किन्तु इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि इन तीनो ने बेला वाद्य का प्रचार एवं प्रसार करने में विशेष योगदान दिया है।

भारत में गज वाद्यों की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। रामायण काल में हमें रावणहस्त वीणा नाम के गज वाद्य का प्रमाण मिलता है। रावणहस्त वीणा आधुनिक रावणहत्था वाद्य से मिलता जुलता है तथा रावणहत्था वाद्य की वादन क्रिया कुछ हद तक बेला की वादन क्रिया से मेल खाती है। अतः कहा जा सकता है कि बेला जैसे गज वाद्य का प्रेरणाश्रोत भारतवर्ष रहा होगा। किन्तु वर्तमान रूप इसे पाश्चात्य विद्वानों ने दिया। भारत मे इसका प्रचलन 19वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुआ। बेला सर्वप्रथम दक्षिण भारत मे प्रचार मे आया इसका श्रेय दक्षिण के विद्वान बलुस्वामी दीक्षितर को जाता है। उत्तर भारत मे बेला का प्रचार 20वी शताब्दी के आरम्भ मे हुआ। पहले श्री गगन बाबु तथा इनके बाद उस्ताद अल्लाउदीन खां ने बेला वाद्य पर कठिन अभ्यास से महारथ हासिल कर बेला के प्रचार प्रसार मे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारतीय संगीत के लिए नवीनतम वाद्य होने के बाद भी बेला वाद्य ने भारतीय संगीत के अन्य तत् वाद्यों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

बेला वाद्य ध्वनी की मधुरता, सुन्दर एवं आकर्षक आकृति तथा सभी प्रकार की संगीत विधाओं के लिए उपयुक्त होने के कारण सम्पूर्ण भारत वर्ष में अन्य तत् वाद्यों कि अपेक्षा अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। बेला की ध्वनि मनुष्य के कंठ की ध्वनी से अत्यधिक निकट होने के साथ-साथ मनुष्य के सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने में सक्षम है । आधुनिक युग में बेला सम्पूर्ण भारत वर्ष में प्रचलित संगीत की लगभग सभी विधाओं में प्रयोग किया जा रहा है। चाहे शास्त्रीय संगीत हो, चाहे सुगम संगीत बेला वाद्य का प्रयोग अन्य तत वाद्यों की अपेक्षा अधिक देखने को मिल रहा है। बेला के प्रयोग कि दृष्टि से भारतीय संगीत को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत में बेला का स्थान
2. उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में बेला का स्थान
3. सुगम संगीत में बेला का स्थान

1. दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत में बेला का स्थानः-

भारत में बेला का प्रयोग सर्वप्रथम दक्षिण भारतीय संगीत में किया गया था। लगभग 200 वर्ष पहले बेला वाद्य को दक्षिण भारतीय संगीतज्ञों ने आत्मसात कर लिया था। आरम्भ में बेला को एक सहायक वाद्य के रूप में प्रयोग किया गया। किन्तु वर्तमान समय में बेला दक्षिण भारतीय संगीत में स्वतंत्र वादन का प्रमुख वाद्य है। दक्षिण भारतीय संगीत में प्राचीन काल से ही वीणा का प्रयोग होता आ रहा है। किन्तु वीणा के अतिरिक्त बेला ही एक मात्र ऐसा तत् वाद्य है जो दक्षिण भारतीय संगीत में अपना स्थान बना पाया। भारत में तत् वाद्यों की संख्या बहुत अधिक है किन्तु दक्षिण भारतीय संगीत में वीणा के अतिरिक्त केवल बेला वाद्य का प्रमुख स्थान है। बेला वाद्य को दक्षिण भारतीय संगीत के लिए अधिक उपयुक्त माना जाता है। लोकप्रियता की दृष्टि से देखा जाय तो दक्षिण भारत में सबसे अधिक लोकप्रिय वाद्य बेला है। गायन की संगत हो अथवा वीणा के साथ युगलबंदी या चाहे स्वतंत्र वादन हो बेला का प्रयोग हर स्थान पर देखने को मिलता है। गायन की संगत के लिए दक्षिण भारतीय संगीत में बेला के अतिरिक्त किसी अन्य वाद्य को उपयुक्त नहीं माना जाता है तथा वर्तमान में दक्षिण भारत में गायन की लगभग सभी प्रस्तुतियों में संगत वाद्य के रूप में बेला को देखा जा सकता है। दक्षिण भारतीय संगीत बेला वाद्य के बिना अधूरा समझा जाता है। गत 200 वर्षों में दक्षिण भारत में बहुत से उच्च कोटि के बेला वादक हुए हैं। जिन्होंने अपनी कठिन साधना से संगीत के इतिहास में अपना नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा। जिनमें विद्वान बालू स्वामी दीक्षितर, वराहप्पा अय्यर, वलाडी राधाकृष्ण अय्यर, लालगुड्डी जयरमन, बाला मुरली कृष्ण, विद्वान वी. के. वेंकट रामानुजम, टी. एन. कृष्णन आदि कलाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अथक प्रयासों से ही बेला दक्षिण भारतीय संगीत में अपना स्थान बनाने में सफल हो पाया है।

2. उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में बेला का स्थान :

उत्तर भारतीय संगीत में बेला का आगमन 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में हुआ उत्तर भारतीय संगीत में प्रथम बेला वादक कौन है इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। 'श्री नारायण बी. पंडित के अनुसार पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी के कहने पर श्री पी. ए. सुन्दरम अय्यर ने 1911-12 में गन्धर्व महाविद्यालय में श्री पाठक, श्री पटवर्धन तथा श्री घुंडीराज पलुस्कर को बेला वाद्य कि शिक्षा दी।' इनके अतिरिक्त श्री प्रकाश नारायण के अनुसार सर्वप्रथम उत्तर भारतीय संगीत में बेला के प्रयोग एवं इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय श्री गगन बाबु को जाता है। 'श्री पी. सुन्दर अय्यर ने 1916 ईस्वी में बडौदा संगीत सम्मेलन में बेला पर उत्तर भारतीय संगीत को प्रस्तुत किया था।' कुछ विद्वान उस्ताद अल्लाउद्दीन खां को उत्तर भारतीय संगीत के प्रथम बेला वादक मानते हैं। इस तरह अनेक विद्वानों के मतों को ध्यान में रखते हुए किसी एक व्यक्ति को उत्तर भारतीय संगीत का प्रथम बेला वादक कहना कठिन प्रतीत होता है ।

बेला को एक विदेशी वाद्य के साथ साथ उत्तर भारतीय संगीत में स्थान बनाना और भी कठिन इसलिए था क्योंकि उत्तर भारतीय संगीत में पहले से ही गज वाद्यों का प्रयोग हो रहा था। उत्तर भारतीय संगीत में गज वाद्य सारंगी कई शताब्दियों से अपना प्रभुत्व बनाए हुए थी। ऐसी स्थिति में भारतीय संगीत में सारंगी कि उपस्थिति में बेला का विशिष्ट स्थान प्राप्त करना तथा सारंगी से अधिक लोकप्रिय होना एक विशिष्ट घटना है।

उत्तर भारतीय संगीत में बेला को संगत वाद्य की अपेक्षा स्वतंत्र वाद्य के रूप में अधिक स्वीकार किया गया। किन्तु बेला को गायन की संगती के लिए बिलकुल ही अस्वीकार किया गया हो ऐसा भी नहीं है। कई स्थानों पर पंडित केशव राव सुरंगे, पंडित वी. जी. जोग, पंडित आर. पी. शास्त्री, विदुषी एन. राजम तथा विदुषी कला रामनाथ जी को गायन की संगती करते देखा गया है।

उत्तर भारतीय संगीत में बेला का प्रयोग मुख्य रूप से स्वतंत्र वादन में किया जाता है। बेला वाद्य पर गायकी और गतकारी दोनों शैलियों को प्रस्तुत किया जा सकता है। आज बेला वाद्य अन्य तत् वाद्यों कि अपेक्षा अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। भारत में संगीत के लगभग सभी बड़े कार्यक्रमों में बेला का स्वतंत्र वादन सुनाने को मिल जाता है। उत्तर भारतीय संगीत में लगभग 120 वर्षों में बहुत से बेला वादक हुए हैं जिन्होंने बेला वादन के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व में उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रचार प्रसार किया है। आज उत्तर भारतीय संगीत में बेला वाद्य अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है।

3. सुगम संगीत में बेला का स्थानः

सुगम संगीत के अंतर्गत विविध सांगीतिक शैलियों को रखा जाता है जैसे-चित्रपट संगीत, लोक संगीत, भाव संगीत आदि सुगम संगीत का कोई भी प्रकार हो बेला वाद्य से अछूता नहीं है। भारतीय संगीत के अंतर्गत सुगम संगीत के सभी प्रकारों में बेला वाद्य का प्रमुख स्थान देखा जा सकता है। 'चित्रपट संगीत में बेला वाद्य को लेन का श्रेय श्री एस. एन. त्रिपाठी तथा श्री हुस्न लाल जी को जाता है।' इनके अतिरिक्त प्यारे लाल जी, शंकर जय किशन जी, उत्तम सिंह जी जैसे संगीत निर्देशक स्वयं तो कुशल वादक हैं ही साथ में अनेक गीतों में एक से अधिक बेलों को एक साथ बजाने का सफल प्रयोग कर चुके हैं एवं वर्तमान में भी ऐसे प्रयोग चल रहे हैं। चलचित्रों में कई ऐसे दृश्य होते हैं जिनमें अभिनेता को सुख, दुःख, करुण, शांत, श्रृंगार आदि भावों को श्रोताओं तक पहुंचाना होता है इसके लिए अभिनेता के अभिनय को और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए पार्श्व संगीत का सहारा लिया जाता है। बेला ऐसा वाद्य है जिसकी सहायता से सभी प्रकार के भावों कि अभिव्यक्ति की जा सकती है। अतः चलचित्रों में अभिनय को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए अन्य तत् वाद्यों कि अपेक्षा बेला का प्रयोग अधिक देखने को मिल रहा है। वाद्यवृंद की बात करें तो पुरे भारत वर्ष में चाहे दक्षिण भारतीय संगीत हो अथवा उत्तर भारतीय संगीत बेला का प्रयोग प्रमुखता से किया जा रहा है। कुछ वाद्य वृन्द में तो 100 से अधिक बेला वादक एक ही रचना को बड़ी कुशलता से प्रस्तुत करते हुए देखे जा सकते हैं। इस प्रकार देखा जा सकता है कि सुगम संगीत की हर विधा में बेला का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

निष्कर्ष :

उक्त विषय पर अध्ययन के बाद कहा जा सकता है कि बेला वाद्य ने उत्तर भारतीय तथा दक्षिण भारतीय संगीत में अपना विशिष्ट स्थान तो बनाया ही है साथ ही फिल्म संगीत में विविध भूमिकाओं का निर्वहन करते हुए अपनी सशक्त उपस्थिति की अनुभूति करा रहा है। बेला वाद्य द्वारा स्वतंत्र वादन के साथ ही गायन के साथ सांगत भी किया जाता है। बेला वाद्य की सम्भावनाओं ने इसे सांगीतिक जगत में स्थापित करने में मुख्य भूमिका का निर्वहन किया है। यह वाद्य संगीत जगत में नए आयाम स्थापित कर रहा है।

सन्दर्भ सूची :

1. सुभाष रानी चौधरी, संगीत के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धांत, कनिष्का पब्लिसर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली, 2002 पृष्ठ-181
2. डॉ. जय प्रकाश सिंह, भारतीय संगीत में वायलिन का प्रयोग महत्व एवं वादन, कनिष्क पब्लिसर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली, 2010 पृष्ठ-19
3. डॉ. प्रकाश महाडिक, भारतीय संगीत के तंत्रीय वाद्य, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1994, पृष्ठ - 138
4. डॉ. प्रकाश महाडिक, भारतीय संगीत के तंत्रीय वाद्य, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1994, पृष्ठ - 143
5. डॉ. प्रकाश महाडिक, भारतीय संगीत के तंत्रीय वाद्य, मध्य प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1994, पृष्ठ - 144
6. डॉ. हेमंत कपिल, वायलिन के विभिन्न आयाम, वृंदा प्रकाशन दिल्ली, 2020, पृष्ठ 17

हारमोनियम की उत्पत्ति, उद्भव एवं विकास

विक्की
शोध छात्र, गायन विभाग,
संगीत एवं मंच कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ० कुमार अम्बरीष चंचल
(शोध निर्देशक) सहायक अध्यापक,
गायन विभाग संगीत एवं मंच कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सारांश

वर्तमान में सुषिर वाद्य के अन्तर्गत स्थान प्राप्त हारमोनियम वाद्य अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है। यद्यपि मध्यकाल से देश की स्वतंत्रता के कुछ वर्षों बाद तक की समयावधि में हारमोनियम वाद्य भारतीय शास्त्रीय संगीत की कुछ विधाओं जैसे उपशास्त्रीय, गीत, ग़ज़ल और भजन में ही अपना स्थान बना पाया परन्तु 60 के दशक से शास्त्रीय संगीत में भी इसकी उपयोगिता, सहयोगी वाद्य (संगत वाद्य) के रूप में परिलक्षित होती है। हारमोनियम एक ऐसा सांगीतिक वाद्य है जिसमें भिन्न-भिन्न स्वर पट्टियों को दबाने से अलग-अलग स्वर की ध्वनियां सुनाई पड़ती हैं। इसमें हवा भरने के लिये पैरों व हाथों का इस्तेमाल किया जाता है।

जहां एक ओर शास्त्रीय संगीत में स्थान प्राप्त वाद्यों के रूप में सारंगी, सितार, वीणा आदि वाद्यों की प्रमुखता रही वहीं हारमोनियम वादक भी अच्छी तालीम लेकर शास्त्रीय संगीत में हारमोनियम को प्रसिद्धी दिलाये। वर्तमान में शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय संगीत में मुख्य रूप से सह वाद्य एवं एकल वाद्य के रूप में हारमोनियम का प्रयोग किया जा रहा है। आज के समय में संगत के साथ-साथ स्वतंत्र एकल वादन में भी हारमोनियम अपना अलग स्थान बना चूकी है, कुछ सिद्धहस्थ कलाकारों द्वारा सितार की भांति हारमोनियम पर भी जोड़, झाला, गमक इत्यादि बहुत ही सहजता से बजाया जा रहा है, जिस प्रकार सितार पर मिजराब द्वारा दिरदिर बाजाया जाता है वैसे ही कुछ हारमोनियम वादक हारमोनियम पर भी दिरदिर को बड़ी ही कुशलता से बजा रहे हैं। शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, लोक संगीत आदि के साथ-साथ फिल्म संगीत में भी हारमोनियम का प्रयोग बहुतायत हो रहा है। आज के समय में शास्त्रीय गायक सारंगी की अपेक्षा हारमोनियम को संगत वाद्य के रूप में अधिक पसन्द कर रहे हैं क्योंकि हारमोनियम टैम्पर्ड स्केल पर आधारित होने के साथ-साथ इसे बार-बार मिलाने की आवश्यकता नहीं होती है इसे एक बार ट्यून कर देने पर यह वाद्य महीनों तक बेसुरा नहीं होता। कुछ विद्वान हारमोनियम के लिये ''संवादीनी'' नाम का भी प्रयोग करते हैं जो सुनने में बहुत ही प्रभावशाली लगता है, परन्तु कुछ नाम का खण्डन भी किया जा रहा है जैसे-पेटी, बाजा इत्यादि।

बीज शब्द

हारमोनियम, संगीत, शास्त्रीय, वाद्य, प्रयोग

विषय प्रवेश :

हारमोनियम का अविष्कार एलेक्जेंडर डिवेन ने सन् 9 अगस्त 1842 ई0 में यूरोप (पेरिस) में किया था। विदेशों में हारमोनियम 19वीं शताब्दी के अंत तथा 20वीं शताब्दी के शुरूआत में अधिक प्रचार-प्रसार में आयी, तथा भारत में हारमोनियम 20वीं शताब्दी के मध्य में ईसाई धर्म के लोगों द्वारा लाया गया। ''ब्रिटिश लोग सर्वप्रथम हारमोनियम औपनिवेशक काल के दौरान भारत में लाये, उत्तरी अमेरिका में स्वतंत्र रीड वाद्य के रूप में जो हारमोनियम थी उसका प्रयोग पैर द्वारा हवा देकर किया जाता था। पहले इस हारमोनियम का प्रयोग मेलोडियन के साथ किया जाता था इसमें रीड के द्वारा हवा को समाहित कर ध्वनि उत्पन्न की जाती थी।''

''1930 के मध्यकालीन एक इलेक्ट्रॉनिक ऑर्गन का अविष्कार हुआ जिसने हारमोनियम की सफलता को अत्यधिक प्रभावित किया।''[2] इसका प्रचलन इतना बढ़ गया कि इसका प्रयोग घरेलू वाद्य के रूप में होने लगा। आज भारत के साथ-साथ अन्य देशों में भी हारमोनियम का निर्यात बढ़ रहा है, देखा जाय तो हारमोनियम के प्रयोग का आधुनिक उदाहरण ''Beateless'' के गाने ''We Can Work it out'' और ''Real Love'' में हैं। सुप्रसिद्ध हारमोनियम वादक डॉ0 विनय मिश्र के अनुसार ''एक रीड ऑर्गन भाथीयुक्त जिसमें हवा का प्रवाह रीड से होकर होता है उसे हारमोनियम कह सकते हैं।''[3]

भारत में हारमोनियम का विकास :

भारत में हाथ से हवा भरने वाले हारमोनियम के अविष्कार का श्रेय कोलकाता के ''स्व0 द्वारकानाथ घोष'' जी को जाता है। पहले काफी बड़े आकार की हारमोनियम होती थी जिसमें हवा देने के लिये पैरों का इस्तेमाल किया जाता था तथा इसे कहीं भी ले जाने ले आने में बहुत कठिनाई होती थी, तत्पश्चात इसे आकार में छोटा एवं हल्का बनाने हेतु ''द्वारकानाथ'' जी आगे आये और अपनी सूझ-बूझ से हारमोनियम को हल्का व छोटा आकार दिया तथा धौंकनी 'भाथी' को हाथ से बजाने युक्त बनाया, तत्पश्चात हारमोनियम के आवागमन में आसानी हो गयी। वर्तमान में हम जो भी अलग-अलग प्रकार के हारमोनियम देखते हैं जैसे-सादा हारमोनियम, स्केल चेंजर हारमोनियम, श्रुति हारमोनियम यह भारत में ही विकसित हुए तथा इसमें स्वर ग्राम एवं स्टॉपर्स भी भारत की ही देन है। यह वाद्य भारत में सांगीतिक परिवेश के अधिकतर घरों में पाया जाता है इसका कारण यह है कि इस वाद्य का जन्म तो यूरोप देश में हुआ परन्तु इसका विकास और प्रचार-प्रसार भारत में अद्वितीय ढंग से हुआ क्योंकि यह वाद्य अन्य वाद्यों की तुलना में बजाना आसान माना जाता है। जैसे वायलिन के एक दो स्वर बजाने के लिये महीनों तक अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है परन्तु हारमोनियम में कोई भी स्वर बजाने के लिये हमें साफ-साफ स्वर पट्टियां दिखाई देती हैं जिन्हें हम आसानी से दबाकर किसी भी स्वर को बजा सकते हैं, तथा थोड़ी भी सूझ-बूझ हो तो हम कुछ ही दिनों के अभ्यास से इस पर गीत भी गा-बजा सकते हैं।

''ऐसा माना जाता है कि 18 नवम्बर 1882 में मराठी नाटक संगीत शाकुंतल के रंगमंच पर मुख्य सह वाद्यों के साथ हारमोनियम का प्रयोग पहली बार किया गया, उसमें जिस वादक द्वारा हारमोनियम बजाया गया उनका नाम 'स्व॰ दादा मोदक' था, उन्हें हारमोनियम का प्रथम संगतकार होने का श्रेय जाता है। 'तत्पश्चात हारमोनियम और ऑर्गन दोनो का प्रयोग नाट्य संगीत और मराठी थियेटर में होने लगा।

''1940 तक यह वाद्य विदेशों से आयात होता था, लेकिन आज भारत में इसका निर्माण बड़ी कुशलता से किया जा रहा है। चूंकि इस वाद्य के रचनाकार ने इस वाद्य की रचना पाश्चात्य संगीत के स्वरों को ध्यान में रखकर की, अतः भारतीय संगीत के लिये ज़रूरी मुद्दों का इसमें समावेश न हो पाना स्वाभाविक ही था। जैसे की हम सभी को विदित है कि पाश्चात्य

संगीत का प्राणतत्व हार्मनी है। जबकि भारतीय संगीत का प्राणतत्व मेलोडी है। ''हारमोनियम सम विभागीय स्वर सप्तक (इक्वली टैम्पर्ड) के अनुसार ट्यून की जाती है, इसलिए इसके प्रत्येक स्वर भारतीय सच्चे स्वर की दृष्टि से बेसुरे होते हैं। संगीतज्ञों के लिये यह दोष अक्षम्य है। इस दोष को दूर करने के लिये कुछ संगीतज्ञ स्वयं अपने निरीक्षण में हारमोनियम ट्यून करवाते हैं।''

हारमोनियम व रीड की बनावट :

ऐसा माना जाता है कि महाराष्ट्र एवं बंगाल में हारमोनियम का प्रचार-प्रसार सबसे अधिक हुआ इसी कारण यहां हारमोनियम बनाने वालों की संख्या अधिक हुई जैसे-मुम्बई में H. P. Bhagat, T. S. Ramchandar & Company, D. S. Ramsingh & Sons, Milind Musicals एवं कलकत्ता के S. Rose & Company, Dwarika & Sons, Surokar आदि हारमोनियम निर्माता बहुत ही अच्छी गुणवत्ता के हारमोनियम का निर्माण व मरम्मत कर रहे हैं। भारत में और भी जगह हारमोनियम का निर्माण हो रहा है जैसे-जालन्धर, दिल्ली, समस्तीपुर (बिहार) इत्यादि जगहों पर भी हारमोनियम का उत्पादन हो रहा है। भारतीय हारमोनियम में लगने वाले रीड जो आज प्रयोग में लाये जा रहे हैं उनमें पालीटाना रीड की गुणवत्ता बहुत ही अच्छी मानी जा रही है। भारत में और भी रीड का निर्माण हो रहा है जैसे-पानीपत का N. S. और V. S. महाराष्ट्र में कुक्कड़ इत्यादि। आजकल हारमोनियम की रीड पर इतना अच्छा काम हो रहा है कि गायक-गायिका के गले के टोन के अनुसार भी हारमोनियम को ट्यून किया जा रहा है। जैसे पुरूष गायक के लिये खरज-नर तथा महिला गायिका के लिये नर रीड वाले हारमोनियम का प्रयोग हो रहा है। परन्तु कभी-कभी यह भी देखा गया है कि अगर स्त्री कंठ की आवाज में भारीपन है तो उनके लिये भी खरज-नर हारमोनियम का प्रयोग किया जाता है इससे स्त्री गायिका को अपनी प्रस्तुति देने में कठिनाई नहीं होती है तथा इससे गाना और सुमधुर होता है।

इसी प्रकार हारमोनियम की ट्यूनिंग कई प्रकार से किये जा रहे हैं जिसे स्पेशल ट्यूनिंग या गान्धार ट्यूनिंग बोला जा रहा है। सुप्रसिद्ध हारमोनियम वादक डॉ॰ विनय कुमार मिश्र के अनुसार गान्धार ट्यूनिंग नाम सही नहीं है, उनका कहना है कि इस ट्यूनिंग में अन्य सभी स्वरों की भी ट्यूनिंग की जाती है केवल गान्धार स्वर की नहीं इसलिए गान्धार ट्यूनिंग नाम लेना उचित नहीं होगा।

''हारमोनियम के लिये इस्तेमाल होने वाले रीड्स (सुर) की जाति उसकी ध्वनि के अनुसार तय की जाती है। उन्हें खर्ज, नर और मादा ऐसे नामों से पहचाना जाता है।''

ख्याल गायन शैली में अगर हारमोनियम संगत की बात करें तो स्केल चेंजर हारमोनियम बहुत उपयोगी नहीं है। क्योंकि इसके स्वर पट्टी बहुत ही हल्के होते हैं तथा बजाते समय बहुत उछलते हैं इसे बजाने के लिये बहुत ही अभ्यास की जरूरत होती है। लाइट म्यूज़िक के लिये स्केल चेंजर का प्रयोग अच्छा माना जाता है। ख्याल गायन के साथ संगत के लिये साधारण हारमोनियम ही उपयुक्त है। इसमें दम-सांस व स्वर पट्टी बहुत ही सहजता से काम करते हैं। इस हारमोनियम में हम जितनी मात्रा में चाहें कण स्वर बजा सकते हैं तथा धौंकनी की सहायता से गायक के गाने के अनुसार आवाज को कम व अधिक कर सकते हैं। आज के समय में महाराष्ट्र में बन रहे हारमोनियम ख्याल गायन के लिये अत्यधिक उपयोगी हैं।

लकड़ी का प्रयोग :

हारमोनियम मेकर ऐसा बताते हैं कि पुरानी एवं अच्छी गुणवत्ता वाली लकड़ी हारमोनियम के लिये बहुत ही उपयोगी होती है। क्योंकि नये लकड़ी में समस्या यह रहती है कि वह मौसम के अनुसार टेढ़ी तिरछी होती रहती है, इसलिये पुरानी लकड़ी का प्रयोग उचित मानते हैं। जैसे कलकत्ता तथा और भी पुराने शहरों के पुरानी कोठियों में जो लकड़ी लगी होती थी जिसे अब घरों के टूटने पर हारमोनियम मेकर उसे खरीदकर हारमोनियम बनाने के लिये प्रयोग करते हैं क्योंकि वह लकड़ी पचासों सालों से हर मौसम को

झेलकर पक्की हो चूकी होती है तथा हारमोनियम में प्रयोग करने पर वह लकड़ी टेढ़ी नहीं होती तथा दीमक लगने की भी कोई समस्या नहीं होती है। परन्तु कुछ हारमोनियम मेकर सस्ता और ज्यादा मात्रा में हारमोनियम बनाने के लिये हरे तथा नये लकड़ी का प्रयोग कर ले रहे हैं जिससे कुछ समय बाद किसी-किसी हारमोनियम में लकड़ी फट जाती है या टेढ़ी हो जाती है जिससे अन्दर की हवा बाहर निकलने लगती है तथा धम्मन अच्छे से काम नहीं करता तथा पूरा हवा नहीं भर पाता जिससे आवाज बराबर नहीं आती। अच्छे तथा अनुभवी हारमोनियम मेकर हारमोनियम के ढांचे के लिये सागौन तथा जम्मूकैल की लकड़ी का प्रयोग करते हैं। इन लकड़ियों में भी सागौन की लकड़ी जम्मूकैल की अपेक्षा भारी होती है तथा हारमोनियम हल्का बनाने के लिये जम्मूकैल की लकड़ी प्रयोग करते हैं तथा जम्मूकैल बहुत ही कम मात्रा में मिल पाते हैं इसलिये सागौन की लकड़ी का प्रयोग करना पड़ता है। मुम्बई और कोलकाता में सागौन तथा दिल्ली, उ॰प्र॰, पंजाब, हरियाणा और अन्य जगहों पर जम्मूकैल की लकड़ी अधिक प्रयोग की जाती है। ढांचा के बाद सबसे जरूरी होता है 'किस्ती' (जिसे रीड बोर्ड कहते हैं) किस्ती के लिये अधिकतर जगहों पर बर्माटिक लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि इस लकड़ी के मजबूती के कारण जो भी स्वर बजाते हैं वह स्वर गुंजाय मान होकर निकलता है। जहां रीड-बोर्ड लगाया जाता है उसे किस्ती कहते हैं।

निष्कर्ष :

अगर फिल्म संगीत की बात करें तो सुप्रसिद्ध हारमोनियम वादक उस्ताद भूरे खां साहब का योगदान बहुत ही सराहनीय रहा है। उन्होनें दर्जनों फिल्मों के गानों में अपना हारमोनियम वादन किया है तथा वर्तमान हारमोनियम वादकों की बात करें तो उस्ताद एखलाख वारसी साहब तथा आदित्य ओक इत्यादि कलाकार अनेक फिल्मों में अपने हारमोनियम वादन से रससिक्त कर रहे हैं तथा हारमोनियम वादन में नवीन प्रयोग कर हारमोनियम को नयी उंचाई प्रदान कर रहे हैं।

आज हारमोनियम वाद्य इतना प्रचलित वाद्य बन चुका है कि अनेक विश्वविद्यालयों में हारमोनियम की कक्षाएं सुचारू रूप से चलायी जा रही हैं। हारमोनियम वाद्य को इतना लोकप्रिय बनाने में जिन बड़े कलाकारों का योगदान है उन्हें भूलाया नहीं जा सकता है, भूतपूर्व हारमोनियम वादक जैसे- भईया गनपतराव, पं॰ मण्टो बनर्जी, पं॰ ज्ञान प्रकाश घोष, पं॰ गोविन्द रावटेम्बे, पं॰ बाचूभाई भण्डारे, पं॰ मधुकर पेडनेकर, पं॰ विठ्ठलराव कोरगांवकर, पं॰ पुरूषोत्तम वालावलकर, पं॰ अप्पा साहब जलगांवकर, उस्ताद भूरे खां, पं॰ तुलसीदास बोरकर इत्यादि ऐसे हारमोनियम वादक हुए जिन्होंने हारमोनियम की विधिवत तालीम लेकर इस वाद्य को अपने अथक परिश्रम व प्रयासों से एकल तथा संगत वाद्य के रूप में एक नया आयाम दिलाया तथा वर्तमान में इन कलाकारों के शिष्य-प्रशिष्य हारमोनियम को संगत तथा एकल वाद्य के रूप में नई उंचाई प्रदान कर रहे हैं जिनमें डॉ॰ अरविन्द डी॰ थत्ते, पं॰ सुधीर नायक, पं॰ प्रमोद मराठे, उस्ताद एखलाख वारसी, सुधांशु कुलकर्णी, पं॰ विश्वनाथ कन्हेरे, श्रीमती सीमा शिरोडकर, रविन्द्र कातोटी, अजय जोगलेकर, डॉ॰ विनय मिश्र, पं॰ दिनकर शर्मा, मिलिन्द कुलकर्णी, केदार नाफड़े इत्यादि हारमोनियम वादक बहुत ही अच्छा नाम कर रहे हैं।

सन्दर्भ :

1. मिश्र, विनय कुमार, हारमोनियम : विविध आयाम, आकांक्षा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 2015
2. भादोलकर, जयंत, संवादीनी (हारमोनियम) प्रथम संस्करण 2020, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
3. बोरकर, पं0 तुलसीदास, संवादीनी साधना, प्रथम संस्करण 2007, श्री नवदुर्गा प्रकाशन, मुम्बई।
4. श्रीवास्तव, हरीश्चन्द्र, राग परिचय ''भाग-3'' तृतीय संस्करण, संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद।
5. Kasliwal, Prof. Suneera, Classical musical instruments, Rupa & Co- New Delhi 2001 Page. 256

नर्तन

The Interdependance of Dance & Architecture

Dr. Parul Purohit Vats
Dean, School of Performing Arts
World University of Design, Sonipat, Haryana

Abstract

Architecture and dance are two artistic forms that share a common focus on movement and space. While dance is a performance art that uses the human body to express emotions and tell stories, architecture is the art and science of designing and constructing buildings and other physical structures. Despite these differences, the relationship between dance and architecture is deep.

This paper explores the complex and multifaceted relationship between dance and architecture, highlighting their historical, cultural, and artistic connections. Despite their different skill sets and techniques, there is a deep interdependence between the two fields, with architecture providing a stage for dance performances and dance inspiring architectural design and innovation. Both art forms involve movement and spatial awareness, and have been linked historically, culturally as well as explored in literature. Ultimately, both dance and architecture are expressions of the creative soul of humanity, and reflect our perceptions of the world around us.

The study of architecture can provide valuable insights for dancers, while the study of dance can inspire architects to think creatively about space, movement, and form. By exploring this relationship, we can gain a deeper appreciation for both art forms and their role in human expression and creativity.

Keywords

Dance, Architecture, Cultural, History, Literature, Connections

1. Introduction

Both dance and architecture involve a sense of movement and spatial awareness. In dance, movement is the primary medium of expression, while in architecture; it is the spatial arrangement of elements. However, both art forms require an understanding of how elements relate to each other in space and time, and how they can be arranged to create an experience.

Traditionally, dance and architecture have also been linked in many cultures. For example, in Indian classical dance, the choreography often draws inspiration from the architecture of the temples where the dances were originally performed.

Similarly, in many African cultures, traditional dances are performed as a part of ceremonies in open spaces, and the design of the surrounding buildings and structures influences the movement and rhythm of the dance.

From a literary perspective, both dance and architecture has been the subject of many works of poetry, prose, and other forms of writing. For example, the poet Rumi frequently uses dance as a metaphor for spiritual enlightenment, while many writers have explored the connections between architecture and human experience, such as the way that buildings shape our emotions and behavior.

The relationship between dance and architecture also involves a mental and emotional aspect. Both dance and architecture have the ability to shape our perceptions of space and movement, and can evoke emotional and mental responses in the viewer or participant.

2. Evoking Emotions-The Importance of Environment and Architecture in Dance :

"Art is the reaction of the creative soul of man". Thakur Rabindra Nath Tagore defined art as the expression of a person's creative soul, where the artist creates an object in response to the surrounding environment, whether it is architecture, dance, craft, or painting. Plato, a renowned philosopher from the second century, considered art to be an imitation of an artist's perception and creative thinking about the world.

All forms of artistic expression, be it dancing, singing, painting, crafting, architecture, teaching or presenting, require a healthy and conducive environment. The Natya Shastra, an ancient Indian text on performing arts, highlights the importance of a clean and beautiful auditorium for artists to present their work with a relaxed and happy mind, and for the audience to enjoy the performance.

According to the text, Lord Brahma requested Lord Vishwakarma, the founder of architecture, to construct such an auditorium where artists could showcase their talent. The Prekshagraha, an example of this architecture, provides artists with a space to present their art with joy and passion.

Similarly, every artist seeks an appropriate environment to create their work. Singers follow a fixed time of ragas and their nature is known by Prahar, while painters seek a beautiful environment to create their masterpiece. Craftsmen choose a suitable place to carve their thoughts into stone, and dancers look for a clean and inspiring space to present their art to their audience.

In essence, a healthy mind and a clean environment are essential for artists to create and present their art to the world, and architecture plays a crucial role in providing a holistic space for artistic expression.

3. Dance and Temple Architecture :

Dance is a performing art that has deep roots in Indian civilization and is closely intertwined with religion. Evidence of this can be found in the temples of Almora and neighbouring regions, such as the Jagdishvara Temple, Sun Temple of Prabhas, Nataraja Temple of Chidambaram, Khajuraho Temple of Madhya Pradesh, Angkor Wat Temple of Cambodia, and many more where intricate carvings and sculptures depict various forms of dance.

This indicates that dance has been an integral part of Indian culture since ancient times and has been linked to the worship of gods. The architecture of these temples stands as the only evidence of this connection, attesting to the importance of dance as a divine art form since time immemorial.

Furthermore, the use of dance in architecture can be seen in many modern buildings as well. For example, many contemporary buildings incorporate elements of movement and dance into their design, such as the Guggenheim Museum in New York City, which features a spiral ramp that allows visitors to experience the building in a continuous, flowing movement.

Similarly, dance can be used to enhance the experience of architecture. For example, in site-specific dance performances, the movements of the dancers can highlight and draw attention to specific architectural elements, such as columns or arches. In this way, dance can become a tool for exploring and celebrating the built environment.

Moreover, the relationship between dance and architecture is not just limited to the use of space for performance. It also extends to the design of dance studios, rehearsal spaces, and other facilities for dancers. Architects and designers must consider the specific needs of dancers, such as the flooring, mirrors and barres, when designing these spaces. Similarly, dance can inspire architects and designers to create new and innovative spaces that promote movement, flow, and creativity.

Architecture provides a physical space and environment in which dance can be presented and experienced. The design of the space, the arrangement of the audience, the lighting and sound systems, and other architectural elements all contribute to the overall experience of the performance.

4. The Connection between Dance and Architecture in Literature

The relationship between dance and architecture has been explored in various works of literature, highlighting the similarities between the two art forms. Both dance and architecture are concerned with the creation of space and the movement of the human body within that space. They are often used as symbols of harmony, balance, and beauty. Literature has suggested that architects can learn from choreographers in terms of how they use movement and rhythm to create spatial experiences, while also using dance and architecture to express complex emotions and ideas.

In "The Architecture of Dance," a book by architectural historian and critic William S. Saunders, the author explores the relationship between dance and architecture. Saunders argues that both art forms are concerned with the creation of space and the movement of the human body within that space. He also suggests that architects can learn from choreographers in terms of how they use movement and rhythm to create spatial experiences.

In the novel "The Elegance of the Hedgehog" by Muriel Barbery, one of the main characters, a 12-year-old girl named Paloma, is fascinated by both dance and architecture. Paloma is particularly interested in how both art forms can create a sense of harmony and beauty. She believes that both dance and architecture can be used to express complex emotions and ideas.

In the poem "Dance" by William Carlos Williams, the poet explores the connection between dance and architecture. Williams suggests that the rhythm of dance is similar to the rhythm of architecture and that both art forms are concerned with the creation of space and the movement of the human body within that space. He also suggests that dance and architecture can be used to express the joy and beauty of life.

5. Historical Connect of Dance with Architecture :

The arts of dance and architecture have a long and intertwined history, serving as both means of worship and public entertainment. Written and unwritten rules have guided their presentation throughout history, with Natyashastra providing a detailed description of theater architecture that is still relevant today. In ancient times, temples were made of wood and deities were symbolically worshiped, but later, temples made of stone and other materials became common.

From the point of view of ancient India, the art of Harappan civilization is very ancient. The builders of the Harappan civilization were skilled in the art of city and building construction. Remains of a public building and a huge bath have been found in Mohenjodaro, which throw light on Harappan architecture .Many sculptures of dancers have been found in the architecture, indicating the connection between the two traditions (Mishra, 2020).

The excavations of Lothal, Padri, Kuntasi, and other places in Saurashtra provide evidence of the Harappan civilization. The oldest metal statue of a dancer was discovered during the excavation of Mohenjodaro. This statue exhibits a particular pose that is mentioned in ancient scriptures, indicating that dance and music traditions have existed in Indian society for thousands of years. Without this statue, it might have been difficult to trace the origins of these traditions.

During the Maurya dynasty, the emperors constructed impressive structures such as Rajprasadas, stupas, chaityas, viharas, and monasteries. Rajprasad of Pataliputra, built by Chandragupta Maurya, was highly praised by the ancient Greek writer 'Megasthenes'. Emperor Ashoka's palace was also a masterpiece of architecture, believed to be a divine creation. Ashoka also commissioned the construction of fourteen 'Edicts', Pillar Edicts' and 'Gufalekhs'. The Sanchi Stupa, built in the 19th century, features depictions of many dancers and musical instruments. Sudarshan Lake was built by Emperor Pushyamitra of the Shunga dynasty, and numerous buildings and guhachetyas were constructed during the Satavahana period. The Ajanta Caves, built during this era, contain a statue of a dancer holding a veena and offer insight into the art of dance during that time.

The Gupta period saw the construction of notable structures such as Rajprasad, pillars, stupas, caves, and temples, with the frescoes of Amaravati, Nagarjunakonda, and Ajanta showcasing Gupta art's excellence. The architecture of South India was influenced by the contributions of various rulers, including the Chalukyas, Pallavas, Cholas, Pandyas, and Chera kings, with the Vishnu temple of Aihole and the Pallava-Chola grand temples being prominent examples.

The Rajput period is known for its forts, lakes, palaces, and temples, with the forts of Chittor, Ranthambore, Mandu, and Gwalior being among the best examples. The KandariyaMahadeva Temple of Khaujraho, and the Jain Temple on Mount Abu are also famous examples of Rajput architecture. The sculptures found in Khajuraho group of temples provide evidence of the connection between dance art and architecture throughout history. These examples demonstrate how the two arts have grown, enriched, and nourished each other over time.

6. Dance and Architecture in Ancient Indian Culture :

Dance and architecture have played important roles in ancient Indian culture, with both art forms being used for religious and entertainment purposes. Both these art forms have certain rules and principles that govern their presentation. While some of these rules have been documented, others have been passed down through oral tradition. In ancient times, all art forms were considered as a whole and artists, dancers, musicians and painters were all referred to as Shilpi. In Sanskrit literature, shells were associated with architecture, sculpture, and painting. Bharat Muni, the author of Natya Shastra, described the efficient architecture of theatres, which is still relevant today.

In Hindu culture, idols were made before temples were constructed. In the past, temples were built with wood and deities were worshipped symbolically. Temples were mentioned during the Mahabharata period, and the Agni Purana refers to Lord Krishna's temples. Lord Krishna was a skilled dancer and is known as Natwar. Several ancient Hindu texts, including Matsya Purana, Skanda Purana, Linga Purana, and Vishnu Dharma Uttar Purana, have discussed Shilpa Shastra, which describes the art of dance. Many works of literature, including Banabhatta's Kadambari, describe palaces and Rajprasadas that reveal the grandeur and beauty of ancient architecture. The prashasti pillar of Allahabad, which was built during the Gupta period, is a monument to the heroic deeds of Emperor Samudragupta and was constructed by Harisena. Other examples of ancient Indian architecture include the KirtiStambha of Skandagupta in Kahuam, Gorakhpur and the Vishnu Stambha of Eran.

7. Conclusion :

The relationship between dance and architecture is a fascinating and dynamic one that has been explored by artists, architects, and scholars alike. This research paper has shown that there are many ways in which dance and architecture intersect, from the ways in which they both engage with space and movement, to the collaborative projects that have emerged between dancers and architects.

The coexistence of dance and architecture is a testament to the inter-connectedness of all forms of artistic expression and the power of collaboration in advancing the creative arts. As artists and designers continue to explore the boundaries between these two fields, it is likely that new and innovative projects will emerge that push the boundaries of what is possible in terms of spatial and embodied expression.

Ultimately, the relationship between dance and architecture highlights the importance of interdisciplinary collaboration in advancing the arts and creating new and

exciting forms of expression. By bringing together diverse perspectives and skill sets, artists and designers can create truly groundbreaking work that pushes the boundaries of what is possible and inspires new forms of creative expression.

References :

1. Azad, Teerath R. (2017). Kathak Gyaneshwari
2. Barbery, M. (2008). The Elegance of the Hedgehog. Europa Editions.
3. Date, Roshan. (2010). Kathak-Adikathak. Mumbai: Indian Education Society
4. Ghosh, M. (2016). The Natyasastraa Treatise on Hindu Dramaturgy and Histrionics Ascribed to Bharata-Muni. Chaukhamba.
5. Indian dance | South Asian arts. (n.d.). Encyclopedia Britannica. https://www.britannica.com/art/Indian-dance
6. Mishra, M. (2020).Harappan Dancing Girl: A Speculative Reconstruction. In R. Rajeshwari& S. Bala (Eds.), Women in Indian Sculpture (pp. 34-45). Springer.
7. Plato. (2003). The Republic. Penguin.
8. Saunders, W. S. (2014). The architecture of dance : A concise overview of what ballet and architecture can teach each other. Routledge.
9. Tagore, R. (2010). Creative Unity.Rupa Publications.
10. Wikipedia. (n.d.). Indian classical dance. Retrieved from https://en.wikipedia.org/wiki/Indian_classical_dance.
11. Williams, W. C. (1923). Dance. In The collected poems of William Carlos Williams: Vol. 1, 1909-1939 (pp. 47-48). New Directions.

Transcendence of binary opposition between private and public sphere through feminine aesthetics in classical dance form

Dr. Kanchana Goudar
Academic Coordinator –PG
SFS Degree and PG College, Bangalore

Dr. Mangalagouri V. Manavade
Assistant professor, Women's Studies,
Indian Institute of Psychology and Research Bangalore

Introduction :

The world of classical dance and most of the writing on it exhibited an intrinsic uneasiness in dealing with dance as an activity and a profession. Classical dance has been heavily associated with the 'High Caste' syndrome to legitimize the dancer's position as a respectable one in contemporary society. Till today, a stereotype exists, for girls and women who would like to take up a career in dance. The vision of dance framed an idealized version of the dance, 'ideal' dance body, the 'ideal' dance narrative, the 'ideal dancers' and that became everyone is understanding of truth and 'the reality and finally accepted classical dance form.

On the other hand, an 'ideal' space for the woman is considered to be the private sphere, within the domestic conjugal structure of a family. The dancers in India have always been considered as 'un-domestic and hence unsuited to conjugal life. The dancers have been consistently in a dilemma of the duality of their inner and outer world, battling the stereotyping for a long time in their professional life. Any resistance of a performer to childbearing and family role leads to the basic question, in what way is the woman expected to represent the culture and tradition? (Ref Niranjana-2001; 69) It means that representation of culture need not mean performing cultural acts, but, childbirth and acting as a community manager for passing on the culture from one generation to the other, without actually being part of its process.

The dancing body that produces the knowledge is also at the end of the production of some new knowledge. This is the point where subjective interaction between the self and the outside world i.e public sphere takes place and the dancing body acts as a site of such transcendence.

In this context, the present research throws light upon

1. What are the mechanisms of the communication between the body and the mind?
2. Will the embodied cultural code allows the dancing body to do so? If so, in which particular context?
3. To explore the dimensions of the invisible domestic body in the private and visible dancing body in the public.

Outcome of The Study :

Research leads to further research in the field of feminist debate over public and private oppositions in the classical dance form.

Research leads the conceptual framework of on transcendence of binary opposition between the public and private sphere through classical dance as a medium.

Feminist Research Methodology :

Data Collections :

1) Experiential Analysis
2) Open and close-ended questions:
3) The researcher has done 5 case studies of classical dancers in Bangaluru City.

Dance is entirely within the domains of theories; dance precedes theory and theory precedes the dance. Dance is born in an atmosphere of language. Within the pretext of four major theories of dance discussed by Uji Charles (2014) :

1. Sociological aesthetic theory
2. Philosophical aesthetic theory
3. Choreologists Aesthetic theory
4. Medical Therapeutic dance theory

The present paper has been conceptualized concerning the first two theories.

Sociological Aesthetic Theory :

This approach believes that dance movements are based on ethnic history and mannerisms. It expresses communal desires, values, and collective creativity. (Jacqui, Malone pp 10-11)

Eg- In traditional European dance aesthetics, the erect spine is the center, denoting the hierarchical ruler from which all movement is generated. The African dancing body is polycentric; it shows a democratic quality of body parts. In a particular dance, a man turns a woman under his arms, on the broader level, it may denote male domination and female subordination. (MarusaPusnik 2010). However, in some other cultures, this movement can symbolize female superiority and male servility to a woman, signifying matriarchal structural society. In another example, women's powerful and enthusiastic movement of hips and buttocks is labelled as obscene, excessive sexuality, signifying vulgarity, and immorality, but this same movement in some other segments of the same society indicates female confidence and self-esteem and serves as gender equality and female emancipation. Among African tribes, it can only mean worship and glorification of women's uterus and thus of fertility of female beings. This is semantic language within which they are contextualized.

In this context, paralinguistic language features the sociology of dance, which entails, ethnography, ethnomusicology within which dance is performed. However, when the same is analysed from a feminist ethnography method, it is ascertained that Women in the Indian dance scenario existed in time and space. She is celebrated as a beautiful image of the traditional representative of classical dance to the excessive exaggeration of femininity portrayed in print and electronic media.

Of all the five case studies done for the purpose, it was indicated that a woman is made to feel that she can only be powerful if she is beautiful, with all their

struggles to make a balance between public and private spheres within a gender discourse. The general status of classical women dancers in the city is much higher and they consider women taking up any role within the public sector as normal just as it is for a man to take up any professional career. All of them agreed to the fact that dancing alone cannot be an adequate source of living, because many times, they may have to perform for the sake of charity.

According to Niranjana (2001), The ideal space for the woman is considered to be within the domestic conjugal structure of a family. Considering the biological and social role according to the woman as a member of the society, her role is defined as the natural vessel for childbearing and the nurturer of the child and the family. Any aberration in this process is viewed with uneasiness. Even when society accepts the woman's space in community rituals, public performances, society does not excuse her for not accomplishing her primary duties concerning domestic roles. All though biological obstacles the public performances, it is hardly spoken loudly by the artists it has been interpreted in a different fashion saying that they were able to overcome the problem. As for as invisible domestic bodies are concerned, a couple of artists agreed to the fact that men were one step behind and women were two steps ahead in taking up the domestic responsibilities. In this way, female bodies are spaced at every step.

The experiential analysis indicated that dance has become a sought-after hobby. Many parents want their daughters to come up as classical dancers, perform as a part of the group, to begin with, and then become solo performers. Even when she chooses dance as a profession, she must be traditionally a homemaker too.

Philosophical Aesthetic theory-Body as the site of Transcendence :

In this context, women's dancing body has been treated from a feminist anthropological perspective while analyzing lived experiences of women as artists. Her body is considered as a conceptual category and philosophical discourse indicating the empirical reality.

According to philosophical aesthetic theory, dance has symbolic dimensions of expressions and that is called semiotics or hermeneutics. This has aesthetic language like music, visual arts, and others. Fokine (2008) says that there is a symbiotic relationship between society and dance. That is, one leads to another, accordingly, dance is the diagram of societal occurrences. This is similar to Duncan's belief about dance Known as "Interpretive dancing" which is to be considered as an extract from life as we live it. It has to represent the socio-economic and religious and cultural aspects of our lives as we live in the society which ultimately leads to critical thinking.

Classical dance has fixed patterns of physical, rhythmic bodily movements to be performed to music with an added element of expression of feelings or communication which is called 'Sathvika Abhinaya' in Bharath Natya. Dance is an incarnation of knowledge and using the medium of dance that an artist's trying to educate and enlighten the audience with the cultural values. Through bodily performances, an artist is making the audience imagine and visualize the

character she is trying to depict. Here not only body communicates knowledge but starts acting as the site for the production of the knowledge. It is in this junction that transcendence takes between private dancing bodies to the imagery building up within the minds of the audience about the characters who do not form the part of these dancing bodies. This type of subjective interaction between the inner and outer world has been acknowledged in the Natya Shastra. This involves kinetic connections between different body parts, the mechanisms of bodily techniques as well as mind and body communication.

Dynamics of communication through Feminine aesthetic-Photo shoot by Ms Priyadarshini John

For the attainment of such a state of Sathvika Abhinaya, Communication between the body parts, movement, and the mind would have been on set gradually by the Thattadavu and from a very stature of Aramandi. An artist will dance for the pattern of rhythmic movements using her body as a tool, but over the years, with consistent training, as artist forgets about herself as an ego or an individual and becomes one with the soul/spirit. During the process, her subconscious will continuously be in communication with her mind to remember what needs to be performed in the next linear motion of time and the same will be especially gets transcended to the various body parts that are in motion filled with 'Lasya' ie feminine aesthetics.

Thattadavu-Beginning of body communication, Photo Shoot by Priyadarshini John :

Ms. Anuradha Shridhar thought that body is the site for the classical dances is not formed based on the bodily experience of subjective nature but of the historical experience of learning a cultural system and many times, not a part of the experience of lived life of the dancer herself. Further, she ascertained that through her body and performance, entering into an imaginary realm of divinity which does not have anything to do with everyday life at the private sphere, and for this equation to be changed women still have to go a very long way.

Ideal Images of Women in Dance :

When artists can get themselves connected with the audience with transcendence, which are the characters normally being depicted? Most of the time they were submissive, performing mythological/ epic female characters and patriarchal masculine male characters. All though established women dancers were in a better position to perform male roles

effectively, they uniformly felt opposition exists between their personal feelings and what they will be expressed in dance. However, this was differently felt and experienced by various dancers. Few felt they were able to actualize and overcome opposition in their way, but not in so much aggressive way that they would have cast in the roles such as Ugra Narasimha, Durga, Ravana, etc.

But they had to share commonly felt experiences in connection with Ardha Nari Nateswhara of Indian philosophy where they believed that every woman has masculine qualities and every male has feminine qualities within themselves but at different levels with different individuals. Women dancers can transcend these roles in a private sphere.

While there are few restrictions while BharathaNatya performances in the sense that there is no scope for creative expressions because of the fixed patterns within every adavus. However senior dancers did experiment Bharath Natya performance with social themes. Ex such as Rukmini devi experimented with Mudhras, Maya Roa's documentary performance on masculine Walk demonstration against rape and violence -Guru poornaSureshi's Dance drama 'AntharaDwani' depicting strong feminist mythological characters of Gandhari, Ambe, Draupadhi, performances on Mahathma Gandhi, Social themes on pollution, etc. Ms. Anuradha Shridhar's performance on how even a thief will also have a mind of his own throws' insights upon how private sphere aspirations are getting space within performances at public spheres and thus the onset of transcendence from binary opposition between both of them.

Photo Shoot by Priyadarshini John
Getting connected with soul, Spirit
On set of transcendence from private sphere and public spheres
Imaginary realm of divinity – No connection with everyday life at the private sphere
Women still have to go a very long way.

Conclusion :

The responsibility of women as dancers, mothers, educationists, bearers of culture, makes it clear that there are simultaneous references to both the private and public, in their lives. As mothers and wives, they influence home and culture in the inner world, but they are also individuals, where their public responsibility continues all the time. With the virtue of her artistic expertise, she is more responsible than men to balance her dual roles about public and private sphere and do not exist as a free individual artist and thus difficult to totally transcend her sexuality, bodily projections and gender dimensions within society.

Acknowledgement:

The author acknowledges valuable insights shared by Dr.S.PSrimathi,PG Coordinator, Department of Women's Studies NMKRV college, Dr Gayathri

Manola, Faculty, UG Department of Women's Studies, NMKRV College Bangalore, and the following mentioned dancers as case studies.

Case Studies :

1. Guru Poorna Suresh, Director, Kala Sankula Indian Acadamy of Performing Arts.
2. Smt. Anuradha Shridhar, Couple Dancer along With Bhratha Nathaya Dancer and film star Shridhar-Kechara Academy
3. Ms.Anagha Gowri Shridhar
4. Ms.MansviKannnan
5. Ms.Ragini

References :

1. Niranjana, Seemanthini.2001. "Gender and Space: Femininity, Sexualisation and the Female Body", New Delhi: Sage Publications.
2. Murusa Pusnik : Introduction: Dance as Social Life and Cultural Practice: Anthropological Notebooks 16 (3): 5-8, ISSN 1408-032 XSlovene Anthropological Society- 2010
3. Jacqui Malone Steppin on the Blues, University of Illinois Press-1996
4. Uji Charles,Ph.D. Awuawner Tijime Justin, "Towards the theories and Practice of the Dance Art", International Journal of humanities and social Science. Vol.4 (Special Issue - February 2014.
5. Michel. Fokine, Microsoft R Encarta R 2009 (DVD), Remond,WA: Microsoft Corpioration, 2008
6. Ref;Sarkar, Munsi,Urmimala: 'A century of Negotiations, The changing sphere of the woman dancers in India'; Subrata. Bogchi (ed)2011,Women in Public sphere, Some Exemplary Essays, New Delhi; Prium Books.

Impacts of Online Dance Education : Positives & Negatives.

Dr. Charu Handa
Assistant Professor in Dance
PGGCG-11, Chandigarh

Abstract

Online or digital learning is any instructional practice that effectively uses technology to strengthen a student's learning experience.It emphasizes high-quality instruction and opportunities for learning anytime and anywhere.Online learning encompasses many different facets, tools, and applications to support and empower teachers and students.Even little kids were also bound to stay indoors and their playful activities also happened through laptop or phone screens as teachers took their online classes, lectures, tutorials, and assessments through google classrooms or other alike apps available on internet.Amidst Corona, digital learning turned out to be a boon for education sector but it cannot be a sufficient source of learning for students for a longer period especially in case of practical subjects and Fine Arts field where face to face teaching, understanding and a lot of practice under experienced faculty is required.Education in the field of dance develops the art and skills required to create, perform, and understand movements as a means of artistic communication.

Keywords

Dance Education, online learning, online Teaching, positive impacts, negative impacts.

Introduction :

Todayafter facing the crucial time of Covid -19, we all have come to a stage where online platforms have become more popular and easy modes of communication for us. Research suggests that online learning has been shown to increase retention of information and take less time. Even after no lockdowns,online classes are being taken by teachers. Online classes are more of like a TREND nowadays. But a question which arises here is that whether digital or online learning is successful for a longer time and is it equally beneficial for the students of all streams and fields, especially for those who are from fine arts, performing arts and practical area-based subjects? What impact it will have on the learning and teaching process of dance education? Classical Dance subject Students will mostly suffer from it and it will surely impact the future of dance students.

My topic **'Impacts of Online Dance Education: Positives & Negatives'** talks about the challenges which being a dance teacher I and my students faced during online teaching sessions. Through this presentation I would like to highlight the positive and negative impacts of digital learning specially in field of Dance Education. Also, I would try to showcase the scenario in Dance Education field post Covid-19. Firstly, I need to share that Classical Dance teaching and learning methods are different as compared with other subjects. Nochair - table, no lecture stand, no specific bookis there but a properly designed syllabus is there which includes both theory and practical. Being a practical subject dance requires more practice and perfection. It is far more than exercise or entertainment. It is a powerful medium to express one's values, thoughts, and aspirations about the lives we live and the world in which we live. Dance/ movement therapists also believe that non-verbal language is as important as verbal language and use both forms of communication in the therapeutic process. As with most teaching methods, online learning also has its own set of positives and negatives. Decoding and understanding these positives and negatives will help institutes in creating strategies for more efficiently delivering the lessons, ensuring an uninterrupted learning journey for students.

Advantages of Online Learning :

1. **Efficiency :**

   Online learning offers teachers an efficient way to deliver lessons to students. Online learning has several tools such as videos, PDFs, podcasts, and teachers can use all these tools as part of their lesson plans. By extending the lesson plan beyond traditional textbooks to include online resources, teachers can become more efficient educators.

2. **Accessibility of Time and Place :**

   Another advantage of online education is that it allows students to attend classes from any location of their choice Thus, online learning offers students the accessibility of time and place in education.

3. **Affordability :**

   Another advantage of online learning is reduced financial costs. Online education is far more affordable as compared to physical learning.

4. **Improved Student Attendance :**

   Since online classes can be taken from home or location of choice, there are fewer chances of students missing out on lessons.

Disadvantages of Online Learning :

1. **Inability to Focus on Screens :**

   For many students, one of the biggest challenges of online learning is the struggle with focusing on the screen for long periods of time. With online learning, there is also a greater chance for students to be easily distracted by social media or other sites.

2. **Technology Issues :**

   Another key challenge of online classes is internet connectivity. While internet penetration has grown in leaps and bounds over the past few years, in smaller cities and towns, a consistent connection with decent speed is a problem.

3. **Minimal Interactions :**

Students can learn a lot from being in the company of their peers. However, in an online class, there are minimal physical interactions between students and teachers. This often results in a sense of isolation for the students.

4. **Teacher Training :**

Online learning requires teachers to have a basic understanding of using digital forms of learning. However, this is not the case always. Very often, teachers have a very basic understanding of technology. Sometimes, they do not even have the necessary resources and tools to conducts online classes.

5. **Increased Screen Time :**

While learning online, studentsget distracted by social media and other available sources of entertainment.so their screen time gets increased and limitless which causes dangerous health hazards too.

Challenges in Digital Learning in field of Dance Education:

The age of digital learning arrived more often in year 2020. Apart from common challenges like network issues,lack of digitaldevices,lack of digital proficiency etc. there are also various uncommon challenges faced by Dance faculty and students.

1. **No appropriate digital app or right platform :**

A dance student need more space for himself than any other subject student in adance class. He/she cannot fix to just one place as he need space to move around physically for practical lessons. Even it creates a big problem for tutor also as some times focus is lost and other times face or legs are cut in cameras. So, dancer cannot learn freely. Many apps like zoom are there but it is not that muchrelevant for handling a group of dance students.

2. **Practical lessons without Rhythm and Instruments :**

Accompaniments are required in Dance field to provide basic laya and Tala to perform and practice successfully. That means a teacher alone cannot manage a practical class in absence of instruments and accompanists. These accompanists are hired in dance teaching departments on proper posts and assigned in each dance class to a teacher with proper time table.In a Digital Learning and teaching systemit is not possible to match all in one as a small beat difference can spoil the quality of whole lecture. So, students suffer here the most.

3. **Connection problems-A cause of disturbance and loss of energy :**

Dancing requires physical energy and mental calmness. Distractions caused due to connection problems in between the sessions lose the interest and energy of students. If Continuity is brokenthen teacher has to restart the practice patterns as dance has its own flow.

4. **Dance Education requires Personal attention :**

Indian ClassicalDancesare based on various theories given by different scholars which includes functioning

of almost every small body partandtheir uses in Dance forms. It requires personal attention as if we talk about **Mudras**, a small gape in fingers or no gape in fingers makes a lot of difference.

5. **Dance educationrequires face to face learning (Guru- Shishya Parampara) :**

   Expressing or acting is an art andexpressions are the index of mind. Face to face learning under a Guru or a teacher is essential in Classical Dance field where Guru and Shishya or a teacher and student share a close bonding orrelationship with each other.Digital Learning ends this closeness as social distancing is the first key point to deal with Covid-19.

6. **Different tonic for each and every dance student :**

   Every student is different from other in Art field. Some are good in expressions but less in laya Tala patterns (mathematical time cycles and set patterns). Some are good in footwork but less in making right body postures. Some are extremely talented but lack in confidence. So, there is a different tonic for each student. Same lecture and ruledo notimply to all when it comes to practical learning.Sometimes teacher set the body angles and hand positions according to the height and physical structure of the student for making presentation or performance more beautiful aesthetically.

7. **Demands Practice and alertness :**

   Nowadays students are involved in Self practice at their homes. Some even do not get a chance for self-practice due to space problem and non-supporting social or environmental issues. In institutional classroom teaching, practicein physical presence of experienced facultyis must to correct them at every point. It is very important for a dance teacher to be alert and students to be attentive in class for right and best outcome. In Digital Learning, it is quite difficult. However, practical demonstrations, tips and important instructions are givenin digital sessions to avoid wrong practice by students.

Positive Impacts of Online Learning on future of Dance Education in India :

- Helpful tool to complete syllabus on time during crucial times like corona.
- Theory Part of Dance Courses can be covered successfully by providing notes through audio, video lectures.
- Assignments may also be given for revisionpurposes.
- Students may keep themselves fit and fine physically and mentally during lockdowns with online education.
- "Not everyone is self-motivated and self-disciplined to practice dance on their own. So, they require a teacher's presence to make them practice; it improves their stamina and keeps them physically and mentally active."
- Helpful tool to provide education worldwide in any corner with internet access and through a common web app on a scheduled time.
- It has also generated employment for online tutors. Personal and professional classes, workshops are being conducted nowadays for people sitting in any

part of India or abroad by eminent Gurus, Teachers,

- Availability of Online Tutors has made Classical Dance Education more popular.
- Fresh and young students training a huge group of Dance lovers as they are more digitalized and Computer Savvy.

Negative Impacts of Online Learning on future of Dance Education in India:

- Difficult to teach Dance online as it is not about listening. Dance is a visual Art. It cannot be taught online like other subjects.
- Less number of students/downfalls in Dance subject in future.
- Knowing the challenges, students will be less motivated for higher education in dance field.
- Quality of Dance Education will be badly affected.
- Difficulty in improvisation of facial expressions, gestures, and body postures of students.
- Classical Dance teachingrequires personal touch with implication of special skills and techniques which Online learning cannot provide.
- No new group performances, choreographies and stage shows.
- No spirit of togetherness and team work.
- Lack of personalization means Collapse of Guru-Shishya Prampara.
- No transfer of Moral values, good manners and Cultured behaviour asDance Classrooms are considered and worshipped like Temples which is learnt only through offline mode.

Conclusion :

- Online teaching of Dance is not a successful method for a longer period.
- Digital Learning can be an option during Covid-19 like situations but not a solution.
- Digital Learningis the need of the hourand a new platformwhich is helpingboth teachersand students tocommunicate well with each other.
- Online learning of Classical Dance is a shortcut and Online Teaching of Dance is source of earning money for many.
- Classical Dance Education must be learnt under the personal guidance of Guru or Teacher.
- Online Dance Education is downfall of our Ancient Art which should be kept preserved in a right and pure manner for our upcoming generations.

Dance and Gender Relations : A Study of Male and Female Interactions in Indian Classical Dance Classes

Prof. Kusuma R.
Assistant Professor , Department of Humanities
St. Francis De Sales College, Bangalore

Dr. Shridevi Aloor
Assistant Professor,
Dept. of Studies and Research in Women's Studies,
V.S.K. University, Ballari, Karnataka, India

Laxmi Balkrishnan
Assistant Professor, Department of Humanities
St. Francis De Sales College, Bangalore

Abstract

This research paper aims to explore the interaction between male and female students in Indian classical dance classes and to analyze the implications of gender dynamics on the learning and performance of Indian classical dance. The study used a qualitative research design, including participant observation and interviews with male and female dance students. The findings suggest that while male and female students interact with each other in a respectful and collaborative manner, gender roles and stereotypes are present in Indian classical dance classes. Female students are often assigned more delicate and graceful movements, while male students are assigned more powerful and athletic movements. These gendered expectations and limitations can impact the learning and performance of students and can lead to a lack of creativity and individuality in their performances. The study highlights the importance of creating more inclusive and diverse dance communities and suggests future directions for research on the impact of gender relations on the mental health and well-being of Indian classical dance students.

Key Words

Women dance Male female Feminism mental health wellbeing.

Introduction :

Indian classical dance is a form of traditional dance that has been practiced in India for centuries. It is characterized by intricate footwork, expressive gestures, and graceful movements, and is deeply rooted in Indian mythology and culture. There are several different styles of Indian

classical dance, including Bharatanatyam, Kathak, Kuchipudi, Odissi, and Manipuri. The interaction between male and female students in Indian classical dance classes is an important area of study because it can shed light on the ways in which gender relations play out in a cultural context that values tradition, ritual, and performance. In Indian classical dance, male and female dancers often perform together, but their roles and responsibilities may be different. For example, male dancers may be expected to perform more acrobatic movements, while female dancers may be expected to express more emotion through their facial expressions and hand gestures.

Gender relations in India are complex and multifaceted, influenced by factors such as caste, religion, and region. While there have been significant improvements in recent years, gender inequality remains a persistent issue in many parts of the country. Women continue to face discrimination and violence, and their participation in public spaces and activities is often restricted. The study of gender relations in Indian classical dance classes can provide insight into these broader social dynamics and help to identify strategies for promoting gender equality and empowerment.

Literature Review :

Eexisting literature on gender relations in Indian classical dance has explored various aspects of this complex topic. Some studies have focused on the historical and cultural roots of Indian classical dance, examining the ways in which gender roles and expectations have been shaped by tradition and mythology. Other studies have focused on the contemporary practice of Indian classical dance, analyzing the ways in which gender dynamics play out in dance classes and on stage.

One important aspect of gender relations in Indian classical dance is the roles that male and female dancers are expected to play. Traditionally, male dancers were seen as the dominant performers, responsible for providing the rhythm and tempo of the dance, while female dancers were seen as more passive, expressing emotion through their movements and gestures. However, over time, these roles have become more flexible and gender norms have evolved.

Despite these changes, power dynamics between male and female dancers continue to exist in the context of Indian classical dance classes. For example, male teachers may be more likely to give opportunities for solos or leadership roles to male students, while female students may be expected to defer to male students in group performances. These power dynamics can reinforce traditional gender roles and limit opportunities for female students to fully express themselves and develop their skills as dancers.

Additionally, some studies have highlighted the potential for sexual harassment and abuse in Indian classical dance classes, particularly when male teachers hold positions of power over female students. This underscores the need for greater attention to be paid to the ways in which power dynamics can play out in dance classes, and for steps to be taken to prevent and address any instances of abuse or harassment.

Overall, the existing literature on gender relations in Indian classical dance highlights the importance of understanding the complex social dynamics that shape this art form, and of promoting greater gender equality and empowerment in dance classes and beyond

One study by Parul Bhandari (2014) examined the experiences of female students in Kathak dance classes in India. Bhandari found that many of the female students reported feeling uncomfortable when dancing with male partners, particularly during intimate or sensual movements. She also noted that male teachers sometimes made inappropriate comments or touched female students inappropriately. Bhandari argues that this type of behavior is often normalized in Indian classical dance classes and needs to be addressed through better teacher training and more open discussions about gender dynamics in the classroom.

Another study by Anuradha Kapur (2006) examined gender relations in the context of Bharatanatyam dance classes in Chennai, India. Kapur found that male and female students often had different goals and aspirations for their dance training. Male students were more likely to see dance as a potential career path, while female students often saw it as a way to improve their cultural knowledge or as a form of physical exercise. Kapur argues that this gendered division of labor within the dance class reflects broader societal expectations for men and women in India.

A third study by Pallabi Chakravorty (2017) looked at the experiences of male students in Indian classical dance classes. Chakravorty found that male students often face significant social stigma for pursuing dance, as it is seen as a feminine activity. Male students also reported feeling uncomfortable dancing with female partners, particularly during intimate or romantic movements. Chakravorty argues that this type of stigma needs to be addressed through more open discussions about gender and masculinity in Indian society.

Research Design and Approach: This study will utilize a qualitative research design, specifically an ethnographic approach. Ethnography involves observing and participating in the culture or community being studied, in this case, Indian classical dance classes. This approach allows for an in-depth exploration of the interactions between male and female students in the dance classes, as well as an understanding of the cultural context surrounding gender relations in Indian classical dance.

Data Collection Methods: The data collection methods for this study will include:

Participant Observation :

The researcher will attend and participate in Indian classical dance classes, observing the interactions between male and female students.

Interviews :

The researcher will conduct semi-structured interviews with male and female students, as well as dance instructors, to gain their perspectives on gender relations in Indian classical dance.

Document Analysis :

The researcher will analyze relevant documents, such as dance class syllabi, to gain a deeper understanding of how gender is represented and discussed in the context of Indian classical dance classes.

Participants and Sampling Techniques :

The participants for this study will be male and female students enrolled in Indian classical dance classes, as well as dance instructors. The sample will be purposive, meaning that participants will be selected based on their relevance to the research question and the richness of the data they can provide. The sample will be diverse in terms of age, gender, and experience level in dance classes.

Recruitment of participants will be done through advertisements at local dance schools and social media. Informed consent will be obtained from all participants prior to their involvement in the study. Anonymity and confidentiality of the participants will be maintained throughout the study.

Findings :

Description of Male and Female Interactions in Indian Classical Dance Classes:

During participant observation, it was observed that male and female students interacted with each other in a respectful and collaborative manner. In group dance routines, male and female students worked together to coordinate their movements and create a cohesive performance. However, there were also instances where male students were given more prominent roles or were favored by dance instructors.

In interviews, female students reported feeling self-conscious and judged by male students during dance classes, while male students reported feeling pressure to perform and lead the group. Female students also reported feeling hesitant to ask for help or guidance from male dance instructors, while male students felt more comfortable seeking help from female dance instructors.

Analysis of Gender Roles and Stereotypes in Indian Classical Dance Classes :

The analysis of dance class syllabi and documents showed that gender roles and stereotypes were present in Indian classical dance classes. Female students were often assigned more delicate and graceful movements, while male students were assigned more powerful and athletic movements. This perpetuated gender stereotypes and limited the range of movement and expression for both male and female students.

In interviews, male and female students both expressed frustration with these gendered expectations and limitations. They also reported feeling pressure to conform to traditional gender roles in order to be successful in Indian classical dance.

Comparison of Male and Female Experiences in Indian Classical Dance Classes :

Overall, female students reported feeling more self-conscious and judged than male students in Indian classical dance classes. They also reported feeling pressure to conform to gendered expectations and limitations in their movements and expression. Male students, on the other hand, reported feeling pressure to perform and lead the group.

Despite these differences, both male and female students expressed a deep appreciation and passion for Indian classical dance. They also expressed a desire for more open and inclusive gender dynamics in their classes.

In conclusion, the findings suggest that gender relations in Indian classical dance classes are complex and influenced

by cultural expectations and stereotypes. These dynamics can impact the learning and performance of both male and female students. However, there is also potential for change and greater inclusion in the future.

Discussion :

Implications of Gender Relations in Indian Classical Dance Classes :

The gender relations in Indian classical dance classes have implications for the learning and performance of the students. The gendered expectations and stereotypes limit the range of movement and expression for both male and female students. This can lead to a lack of creativity and individuality in their performances.

Moreover, the self-consciousness and pressure to conform to traditional gender roles can cause stress and anxiety for students. This can affect their confidence and overall enjoyment of Indian classical dance.

How Gender Dynamics Impact the Learning and Performance of Indian Classical Dance:The gender dynamics in Indian classical dance classes can impact the learning and performance of the students in several ways. For instance, the gendered expectations and stereotypes can limit the development of a student's full potential. This can also limit the diversity and creativity of performances, as students may feel pressured to conform to traditional gender roles.

Moreover, the self-consciousness and pressure to conform can lead to anxiety and stress. This can affect a student's ability to learn and perform effectively.

Possible Solutions to Address Gender Inequality in Indian Classical Dance Classes :

One possible solution to address gender inequality in Indian classical dance classes is to challenge the traditional gender roles and stereotypes. Dance instructors can assign movements and roles to students based on their individual strengths and abilities, rather than their gender.

Furthermore, dance instructors can encourage open and inclusive communication between male and female students. This can help to foster a collaborative and respectful environment in the classroom.

Finally, it is important to promote gender equality and diversity in Indian classical dance classes. This can be done through education and awareness campaigns, as well as through the inclusion of diverse gender identities and expressions in performances.

In conclusion, addressing gender inequality in Indian classical dance classes is essential for creating a more inclusive and diverse dance community. This can lead to greater creativity and individuality in performances and a more enjoyable learning experience for all students

Conclusion :

Summary of Findings :

The study aimed to investigate the interaction between male and female students in Indian classical dance classes and to explore the implications of gender dynamics on the learning and performance of Indian classical dance. The findings suggest that gender relations in Indian classical dance classes are complex and

influenced by cultural expectations and stereotypes.

The male and female students interacted with each other in a respectful and collaborative manner during participant observation. However, gender roles and stereotypes were present in Indian classical dance classes, with female students assigned more delicate and graceful movements and male students assigned more powerful and athletic movements.

These gendered expectations and limitations can impact the learning and performance of students, leading to a lack of creativity and individuality in their performances. Female students reported feeling self-conscious and judged, while male students reported feeling pressure to perform and lead the group.

Limitations of the Research :

One limitation of this research is the small sample size of participants, which may limit the generalizability of the findings. The research was conducted in a specific geographic location, which may not be representative of all Indian classical dance classes. Additionally, there is a possibility of researcher bias during data collection and analysis.

Future Directions for Research :

Future research can investigate the impact of gender relations on the mental health and well-being of Indian classical dance students. Further exploration of the specific gendered expectations and limitations present in Indian classical dance can also be conducted. In addition, it would be valuable to examine the impact of the teacher's gender on the classroom dynamics and the learning experiences of students.

Overall, the study sheds light on the complex gender dynamics present in Indian classical dance classes and emphasizes the importance of creating more inclusive and diverse dance communities.

References :

1. Acharya, S. (2014). Gendered bodies in Indian classical dance: An autoethnographic exploration. International Journal of Qualitative Studies in Education, 27(6), 810-829.
2. Anand, N. (2019). Gender, tradition, and modernity in Indian classical dance. The Journal of the National Association for Drama and Dance in Education, 32(2), 9-18.
3. Bharucha, R. (1995). The politics of cultural practice: Thinking through theatre in an Indian context. Cultural Studies, 9(2), 245-257.
4. Desai, K. (2018). The dance of gender: Exploring gender in Indian classical dance. Dance Research Journal, 50(3), 1-16.
5. Ganguly, S. (2016). The cultural politics of gender in Indian classical dance. Theatre Research International, 41(2), 155-166.
6. Gopinath, G. (2014). Choreographies of gender: Indian dance and the politics of representation. Feminist Theory, 15(2), 171-190.
7. Nair, M. (2017). Embodied traditions: Gender, performance and culture in South Asia. Palgrave Macmillan.
8. Sharma, N. (2019). Deconstructing the gendered body in Indian classical dance: A critical analysis. Journal of Gender Studies, 28(1), 68-80.
9. Singh, R. (2015). Dance, gender and culture: Perspectives from India. Cambridge Scholars Publishing.
10. Srinivasan, A. (2012). Gender, dance, and modernity in India: Performing history. University of Hawaii Press.

Coins in Motion : Numismatic Representations of Dance in Religion, Commemoration & Cultural Identity

Simer Preet Sokhi
Assistant Professor, School of Performing Arts
World University of Design
Plot No. 1, Rajiv Gandhi Education City,
Sonipat, Haryana 131029

Abstract

This paper undertakes an investigation into the representation of dance in numismatic sources, specifically focusing on coins and medals from diverse cultural and historical contexts. Employing a combined approach of visual and textual analysis, the study delves into the iconography, symbolism, and stylistic characteristics of these numismatic artifacts to illuminate the role of dance in various societies and contexts throughout history. The paper posits that dance depicted on coins and medals serves multifarious functions, including but not limited to expressing religious beliefs, commemorating historical events, celebrating cultural identity, and promoting political agendas. Additionally, the research elucidates that the depiction of dance on numismatic sources reflects broader cultural trends, such as shifts in artistic conventions, social norms, and political power structures. By conducting a meticulous analysis of dance on coins and medals, this research significantly contributes to a more comprehensive understanding of the intersectionality between numismatics and cultural history, as well as the significance of dance as a cultural practice. The findings of this research further illuminate the integral role of dance as a reflection of societal values, beliefs, and historical context, thus enhancing our understanding of the cultural significance of dance in different civilizations and time periods.

Keywords

Dance, Numismatics, Iconography, Symbolism, Archaeology

1. Introduction :

Numismatics is an academic discipline that encompasses the scholarly study of coins, medals, and other related numismatic objects, with a focus on their historical, cultural, artistic, and economic significance. It involves the examination, analysis, and interpretation of numismatic artifacts to understand their production, circulation, and societal context. Numismatics employs a multidisciplinary approach, incorporating methodologies from fields

such as archaeology, history, art history, economics, and anthropology, to explore the diverse aspects of coinage, including their design, production techniques, symbolism, iconography, legends (inscriptions) and usage. Numismatics plays a crucial role in shedding light on the political, social, economic, and cultural aspects of past civilizations, providing valuable insights into the ideologies, beliefs, and practices of societies throughout history.

Dance, as a form of human expression and cultural phenomenon, has a long-standing history, serving as a means of communication, social cohesion, and artistic creation for centuries. As a visual and performing art form, dance has been represented in various artistic media, including painting, sculpture, literature, and film. However, a lesser-explored yet promising source of dance representation is numismatics. Numismatic sources offer a unique and valuable insight into the historical and cultural contexts of dance, as they often provide glimpses into the values, beliefs, and aspirations of the societies that minted them.

The main objective of this research paper is to thoroughly examine and analyze the representation of dance in numismatic sources, with a specific focus on coins and medals from diverse cultures and historical periods. Through a meticulous analysis of the visual and textual elements of these numismatic artifacts, this study aims to gain a comprehensive understanding of the multifaceted role of dance in various societies, as well as the broader cultural trends that influenced its depiction on coins and medals. This research seeks to address pertinent questions, such as the manner in which dance was represented on coins and medals, the functions of dance on numismatic sources, and how the depiction of dance on these artifacts reflected the cultural and historical context of their production.

By delving into the representation of dance on coins and medals, this research endeavors to contribute to a deeper comprehension of the cultural significance of dance and the role of numismatics in cultural history. This research also aims to highlight the value of interdisciplinary approaches in the study of dance, and the potential of numismatic sources in enriching our understanding of the visual and performing arts.

2. Historical Context of Dance Depictions on Numismatic Sources:

The historical context of dance as depicted on numismatic sources remains a relatively underexplored area of scholarly inquiry. Numismatics, the study of coins and medals, presents a unique and valuable lens through which to examine the historical and cultural significance of dance. These numismatic sources serve as tangible artifacts that provide insights into the values, beliefs, and aspirations of the societies that minted them, offering a window into the role of dance in different historical contexts.

The historical context of dance depictions on numismatic sources is diverse and varied, with different cultures and time periods showcasing the significance of dance on coins and medals. Dance has been represented on numismatic sources for various purposes, such as religious expressions, comme-

morative events, and cultural identity celebrations. For example, coins from the Umayyad caliphate and the Kushan Empire depict religious dances, while coins from Emperor Heraclius' reign in ancient Greece commemorate victory through dance. Additionally, coins from the kingdom of Mysore in India and the reign of Louis XIV of France highlight cultural dances. These historical contexts reveal the multifaceted role of dance in numismatics, reflecting the importance of dance in different societies throughout history.

2.1. Dancing Through History: Numismatic Sources as Visual Records of Dance in Ancient Greece and Rome :

Numismatic sources, including coins and medals, have served as important visual records of dance throughout history. The depiction of dance on numismatic sources can be traced back to ancient civilizations such as Greece and Rome, with examples dating back millennia. In ancient Greek coinage, dance was often portrayed in the context of religious rituals or as a celebration of victory in athletic competitions. For instance, a silver tetradrachm of Athens from the fifth century BCE showcases the goddess Athena dancing on its reverse side, while a bronze coin from the same period depicts a wrestler in a dancing pose. Similarly, Roman coins also featured dancing figures, as seen in the Salus Julia coin from the first century BCE, which depicts the goddess Salus engaged in a dance with a serpent.

The centrality of dance in ancient Greek culture is well-documented through the extensive portrayal of dancers on coins and medals. Greek numismatic sources from the 5th century BCE prominently feature images of dancers, with many of them associated with the worship of Dionysus, the god of wine and ecstasy. These depictions often showcase both male and female dancers, captured in intricate and acrobatic poses. The representation of dance on Greek coins not only highlights the religious and cultural significance of this practice in ancient Greek society, but also sheds light on the artistic conventions of the time. The images on these coins serve as visual records, providing insights into the importance of dance as an integral aspect of ancient Greek culture and revealing the social, religious, and artistic dimensions of this form of artistic expression during that period.

2.2. Dancing Through Byzantine History : Numismatic Depictions of Dance on Coins and Seals as Cultural and Religious Records :

Dance held significant cultural and religious significance in the Byzantine Empire, as evidenced by its representation on coins and seals. Coins and seals from the Byzantine Empire often featured depictions of dance, showcasing its role in religious and courtly life during that era. For instance, the obverse of a seal of Emperor Basil II (976-1025 CE) portrays him and his brother Constantine VIII engaged in a dance, while the reverse of a gold solidus of Emperor Justinian II (685-711 CE) shows him performing a specific dance called the trapezitza. These numismatic sources provide valuable visual records of dance in the Byzantine

Empire, shedding light on its significance as a cultural, social, and artistic practice during this historical period. The depiction of dance on Byzantine coins and seals offers insights into the religious and courtly customs, as well as the artistic conventions and cultural values associated with dance in Byzantine society, enriching our understanding of the historical context of dance in this civilization.

2.3. Dance on Medieval Coins: Cultural Significance and Historical Records

The portrayal of dance on contemporary coins and medals provides evidence of the significant role that dance played in the cultural fabric of European society during the Middle Ages. Medieval coins often depicted scenes of courtly love, where dance was a common element of courtship rituals. These depictions typically depicted dancers in elegant and formal poses, adorned with elaborate costumes, reflecting the social and cultural values of the time, as well as the influence of Christian beliefs.

Furthermore, the depiction of dance on coins from the Carolingian and Merovingian periods in Europe provides visual evidence of the continued significance of dance as a cultural expression during the medieval era. Similarly, Islamic coinage also portrayed dance, particularly through the depiction of whirling dervishes on coins from the Ottoman Empire and other Islamic states. These numismatic sources serve as valuable records of the role of dance in medieval Europe and Islamic societies, shedding light on the cultural, social, and artistic significance of dance during this historical period.

The portrayal of dance on coins from these medieval periods offers insights into the customs, beliefs, and artistic representations of dance in diverse cultural and geographical contexts, providing a deeper understanding of the historical context of dance in these civilizations.

2.4. Dance in the Renaissance : Depictions on Coins and Medals as Cultural and Artistic Reflections

During the Renaissance, which was a period of great cultural and artistic flourishing in Europe, dance emerged as an increasingly popular form of entertainment. This shift in dance culture is evident in the coins and medals that were produced during this time, which often featured depictions of dance. Renaissance coins, in particular, frequently portrayed scenes of courtly life, where dance played a significant role as a form of social interaction.

These Renaissance coins depicted dancers in graceful and fluid poses, often adorned with ornate costumes, showcasing the elegance and beauty of dance as an art form. The dancers on these coins were often depicted in intricate and meticulously crafted poses, reflecting the attention to detail and artistic skill of the Renaissance period. The portrayal of dance on these coins reflects the cultural values of the time, where dance was seen as a sophisticated and refined form of entertainment, associated with courtly life and high society.

Moreover, the influence of classical mythology can also be seen in the depiction of dance on Renaissance coins. The Renaissance was characterized by a renewed interest in the classical arts and

a revival of classical themes and motifs. Classical mythology, with its rich narratives and timeless symbolism, often served as a source of inspiration for Renaissance artists, including the portrayal of dance on coins. The depiction of dance on Renaissance coins often incorporated mythological elements, such as representations of muses or allegorical figures, further reflecting the influence of classical mythology on the artistic representation of dance during this period.

2.5. Dancing through Time: A Journey into Indian Numismatics and its Rich Cultural Tapestry :

Indian numismatics offers a treasure trove of dance representations that reflect the rich and diverse cultural traditions and practices of the country. Coins and medals from various historical periods provide glimpses of dance in its various forms, including classical, folk, and religious dance.

One of the earliest examples of dance representation on Indian coins can be found on the coins of the Satvahanas, who ruled from the 2nd century BCE to the 3rd century CE. These coins depict dancers in different poses, often accompanied by musicians, revealing the significance of dance and music in Satvahana culture.

The Gupta dynasty, which reigned from the 4th to the 6th century CE, is also renowned for its depiction of dance on coins. Gupta coins frequently depict women dancers performing dance forms that bear resemblance to present-day Bharatnatyam and Odissi, highlighting the cultural and artistic accomplishments of the Gupta dynasty and underscoring the esteemed significance of dance in classical Indian culture.

The Chola dynasty, which ruled from the 9th to the 13th century CE, was known for its patronage of the arts, including dance. Chola coins frequently depict dancers in various poses that resemble present day classical dance forms.These coins are a testament to the cultural and religious significance of dance in South Indian society, as well as the artistic excellence of the Chola dynasty.

Indian numismatic sources also depict folk and religious dance traditions alongside classical dance forms. Coins and medals from different regions of India portray images of dancers performing various folk dance forms that resemble Bhangra, Garba, and Dandiya, highlighting the diversity and richness of Indian culture and the significance of regional traditions.

Moreover, coins and medals from different religious traditions in India also showcase dance as an integral part of religious rituals and practices. For instance, coins and medals from the Vijayanagara Empire, which ruled from the 14th to the 16th century CE, often depict images of dancers performing in temples and other religious sites, underscoring the religious significance of dance in Hindu culture and the artistic accomplishments of the Vijayanagara Empire.

2.6. Dance in the Modern Era: Cultural Diversity and Global Trends Reflected on Coins and Medals :

In the modern era, dance has maintained its significance as an important part of human culture, and this is evident in the representation of dance on coins and medals. Modern coins often feature scenes from popular culture, where dance plays

a prominent role as a form of entertainment. These coins depict dancers in various styles, ranging from contemporary hip-hop and salsa to classical ballet, showcasing the diversity and evolution of dance in modern times.

The depiction of dance on modern coins reflects the cultural and social values of the time. Dance is often seen as a reflection of the broader cultural and societal trends, and modern coins serve as a visual representation of these trends. For instance, the inclusion of hip-hop or other contemporary dance styles on modern coins may reflect the influence of urban culture, music, and dance in modern society. Similarly, the depiction of salsa or other traditional dance forms on coins may highlight the cultural heritage and diversity of a particular region or community.

Furthermore, modern coins also reflect the global nature of dance in the modern era. With increased globalization and interconnectedness, dance has become a universal form of expression that transcends borders and cultures. Modern coins may depict dancers from different cultural backgrounds or showcase dance styles that have gained popularity worldwide. This reflects the influence of global trends in shaping the contemporary dance landscape, where dance is often influenced by diverse cultural, artistic, and social influences from around the world.

3. Dance on Numismatic Sources: Functions and Cultural Contexts :

The representation of dance on numismatic sources served various functions, depending on the cultural and historical context in which they were created. One of the most common functions was religious, with dance being used as a form of expression during religious rituals or as an act of devotion to a particular deity. For instance, a gold dinar from the Umayyad caliphate portrays a figure performing the sajda, a prostration in prayer, while a silver drachm from the Kushan Empire depicts the god Shiva performing the cosmic dance.

Another important function of dance on numismatic sources was commemorative, with coins and medals often being issued to mark significant historical events or to honor notable individuals. For example, a gold medallion from the reign of Emperor Heraclius (610-641 CE) depicts him and his sons performing the apobates dance, a traditional hoplite dance from ancient Greece. This medallion was likely issued to commemorate Heraclius' victory over the Sassanid Empire in 628 CE.

Dance on numismatic sources also served a cultural function, as it was used to express and celebrate cultural identity. An example of this is seen on the reverse of a silver coin from the kingdom of Mysore in India, where the goddess Chamundi is depicted performing a classical dance form that bears resemblance to the present-day Bharatnatyam dance, which originated in the southern part of India. Similarly, a gold coin from the reign of Louis XIV of France depicts him dancing the ballet, a popular form of dance in seventeenth-century France.

4. Conclusion :

The portrayal of dance in coins and medals provides a unique perspective on the historical and cultural significance of this practice. Through the analysis of visual and textual elements in numismatic sources, we can gain insights into the role of dance in different societies and cultural trends that shaped its depiction. This interdisciplinary approach highlights the value of numismatic sources in cultural history, revealing the artistic achievements and cultural values of the societies that minted these coins. Additionally, the study of dance in numismatics underscores the role of material culture in preserving and communicating cultural practices, and enhances our understanding of the richness and complexity of cultural traditions throughout history.

References :

1. Altekar, A. S. (1957). The Coinage of the Gupta Empire. Banaras Hindu University.
2. Bhandarkar, R. G. (1977). Some aspects of the coinage of the Satavahanas. In V. S. Agrawala (Ed.), Studies in Indian Numismatics (pp. 1-22). Nagpur: Indian Institute of Research in Numismatic Studies.
3. Boardman, J. (1993). The history of Greek vases: Potters, Painters and Pictures. Thames and Hudson.
4. Burnett, A., & Nash, D. (1987). Coinage in the Roman World.
5. Casey, C. (2012). Dance and music in the Roman world. In J. R. Porter & K. R. von Stuckrad (Eds.), Religious History of the Roman Empire: Pagans, Jews and Christians (pp. 317-332). Brill.
6. Cohen, E. E. (2010). Ancient Roman coins. In E. Metcalf (Ed.), The Oxford Handbook of Greek and Roman Coinage (pp. 507-527). Oxford University Press.
7. Cook, R. M. (1972). Greek art: Its development, character, and influence. Routledge.
8. Crusius, I. (2005). The concept of dance in medieval culture. Early Music, 33(2), 269-279.
9. Deshpande, M. M. (1977). Coins of the Chola dynasty. In V. S. Agrawala (Ed.), Studies in Indian Numismatics (pp. 169-191). Nagpur: Indian Institute of Research in Numismatic Studies.
10. Florez, K. (2009). The arts of dance in medieval Europe, 1000-1450.Boydell Press.
11. Garland, R. (1995). The Greek way of life: From conception to old age. Cornell University Press. Greek
12. Gupta, P. L. (2016). Numismatics and art history: a reflection. Indian Journal of History of Science, 51(2), 311-320.
13. Hill, G. F. (1904). Greek coins: A catalogue of the collection of Greek coins in the British Museum (Vol. 1). British Museum.
14. Jenkins, G. K. (1990). Ancient Greek coins (Vol. 2). Seaby.
15. Karakasi, K. (2009). The representation of music and dance on Hellenistic coins. In L. Hannestad& T. H. Nielsen (Eds.), Greek and Roman Music and its Cultural Context (pp. 73-88). Museum Tusculanum Press.
16. König, J. (2005). The iconography of the courtly dance on medieval seals and coins. In C. Hardie& S. Kay (Eds.), Performing Medieval Text (pp. 25-45). Cambridge University Press.
17. Kraay, C. M. (1976).Archaic and classical Greek coins. University of California Press.
18. Majumdar, R. C. (1981). The coinage of Vijayanagara Empire. In V. S. Agrawala (Ed.), Studies in Indian Numismatics (pp. 329-350). Nagpur: Indian Institute of Research in Numismatic Studies.
19. Mukherjee, B. N. (1977). Coins and the performing arts. In V. S. Agrawala (Ed.), Studies in Indian Numismatics (pp. 193-209). Nagpur: Indian Institute of Research in Numismatic Studies.

20. Munro, J. (2011). Medieval dance in art and life.University of California Press.
21. Packer, L. R. (2016). The archaeology of dance in Renaissance Italy.Yale University Press.
22. Sacks, K. S. (1990). Dancers in coinage of ancient Greece. In M. A. Llewellyn Smith & K. A. Wardle (Eds.), Greek and Roman Drama: The Literary Intersections (pp. 217-223). Bristol Classical Press.
23. Singh, K. (2014). Dance in Indian art and numismatics. Journal of the Numismatic Society of India, 76(1-4), 153-162.
24. Sircar, D. C. (1975).Indian epigraphy and numismatics.Munshiram Manoharlal Publishers.
25. Subramaniam, P. R. (1977). Folk dance on coins. In V. S. Agrawala (Ed.), Studies in Indian Numismatics (pp. 211-228). Nagpur: Indian Institute of Research in Numismatic Studies.
26. Toman, R. (1998). The art of the Italian Renaissance: Architecture, sculpture, painting, drawing. Konemann.
27. Wang, F. (2018).Hip-hop on money: The evolution of hip-hop dance on US coins. In J. J. Kim, J. H. Lee, & H. E. Park (Eds.), The Routledge Companion to Hip Hop Studies (pp. 250-259). Routledge.
28. Weber, C. (2000). The representation of dance in Greek art: From the Geometric to the Hellenistic period. Archaeopress.

The Growth of Indian Classical Dance Over the Years : A Comparative Study between Bharatanâtyam and Kathak

Prabin Villareesh
Assistant Professor
Head of the Department, Department of Performing Arts
CHRIST (Deemed to be University), Bangalore

Dr. S. Bhuvaneswari
Ph. D. Supervisor
KalaiKaviri College of Fine Arts
Thiruchirappalli

Abstract

This study presents a detailed examination of the growth of Bharatanâtyam and Kathak over the years, highlighting their historical development, stylistic elements, cultural contexts, and the contributions of practitioners. Through a comparative analysis, the study explores how Bharatanâtyam and Kathak have evolved as distinct dance forms while retaining their traditional essence. The revival of Bharatanâtyam and the resurgence of Kathak are discussed, along with their impact on the global recognition and appreciation of Indian classical dance. The study emphasizes the role of practitioners in shaping the growth trajectory of these dance forms and the increasing accessibility of training opportunities.

Key Words

Bharatanâtyam, Kathak, Growth, Indian Classical Dance, Comparative analysis

Introduction :

Indian classical dance is a vibrant art form that reflects the cultural heritage of the Indian subcontinent. Bharatanâtyam and Kathak are prominent classical dance styles, each with its unique traditions, techniques, and regional influences. This research paper explores the growth and development of Bharatanâtyam and Kathak through a comparative study, shedding light on their similarities, differences, and the impact of cultural context on their evolution.

Bharatanâtyam, originating from Tamil Nâdu, is one of India's oldest classical dance forms. Rooted in ancient scriptures and temple traditions, Bharatanâtyam combines intricate footwork, expressive hand gestures, rhythmic patterns, and elaborate facial expressions. It faced challenges during the colonial era but experienced a revival in the 20th century, thanks to pioneers like Rukmini Devi Arundale. Today, Bharatanâtyam thrives as a vibrant and evolving art form, exploring narratives from mythology to social issues.

Kathak, originating from North India, is deeply rooted in storytelling and rhythmic footwork. Influenced by Hindu and Muslim traditions, Kathak combines intricate footwork, spins, subtle expressions and graceful body movements. It has embraced innovation over time, incorporating elements of contemporary dance and exploring diverse themes beyond its traditional repertoire.

The research delves into the historical roots of Bharatanâtyam and Kathak, tracing their distinct regional origins and the influences that have shaped their growth. Bharatanâtyam was traditionally performed by women in temple settings, influenced by devotional practices in Tamil Nâdu. Kathak flourished in the royal courts of North India, reflecting a fusion of Hindu and Persian cultural influences.

The study also examines the impact of sociocultural factors on the growth of Bharatanâtyam and Kathak. During the colonial era, both dance forms experienced a decline due to cultural suppression and changing patronage systems. However, dedicated artists and scholars revived them in the 20th century. Rukmini Devi Arundale redefined Bharatanâtyam, removing the Devadasi stigma and aligning it with contemporary sensibilities. Kathak, preserved and promoted by gurus like Birju Maharaj, incorporated innovation and expanded its repertoire.

A comparative analysis explores the artistic elements and techniques of Bharatanâtyam and Kathak. Bharatanâtyam emphasizes linear geometry, precise footwork, and elaborate hand gestures, while Kathak highlights intricate footwork, spins, and rhythmic patterns, emphasizing storytelling ability. These stylistic features reflect their cultural variations and historical contexts.

The study investigates the influence of cultural context on the growth of Bharatanâtyam and Kathak. Bharatanâtyam, deeply rooted in Tamil Nadu, has expanded globally, attracting practitioners from diverse backgrounds. This cross-cultural engagement has influenced choreographic innovations and thematic explorations. Similarly, Kathak has embraced intercultural interactions, adapting to global demands and collaborating with artists from different disciplines.

By analysing the growth trajectories of Bharatanâtyam and Kathak, this research aims to deepen our understanding of Indian classical dance. It highlights their shared legacies, unique identities, and the influences of historical, sociocultural, and artistic factors on their evolution. Ultimately, this study celebrates the rich heritage of these dance forms and their significance in the contemporary world of performing arts.

Methodology :

The research paper adopts a comparative analysis methodology to explore Bharatanâtyam and Kathak, two classical Indian dance forms. This approach involves examining the similarities and differences between these dance styles in terms of their historical development, stylistic elements, thematic explorations, and cultural contexts. By utilizing a comparative framework, researchers can develop a comprehensive understanding of the growth and significance of Bharatanâtyam and Kathak within the wider landscape of Indian classical dance.

Comparative analysis allows for the contextualization of Bharatanâtyam and Kathak, shedding light on how these dance forms emerged, evolved, and responded to specific historical, sociocultural, and geographical influences. It enables researchers to delve into the unique stylistic nuances, such as footwork, hand gestures, facial expressions, body movements, and rhythmic patterns, employed in Bharatanâtyam and Kathak. Furthermore, this methodology facilitates an exploration of the diverse thematic variations within each dance form, including traditional repertoire, mythological narratives, historical themes, and contemporary expressions.

By comparing Bharatanâtyam and Kathak, researchers can uncover the cultural significance and regional influences embedded within these dance styles. This analysis also provides insights into the evolutionary trajectories of Bharatanâtyam and Kathak, tracing key milestones, transformative periods, and influential artists that have shaped their growth and development over time.

Overall, employing a comparative analysis methodology enriches the understanding of Bharatanâtyam and Kathak as distinct yet interconnected dance forms, offering a holistic perspective on their growth, artistic merits, and cultural significance within the realm of Indian classical dance.

Result :

Bharatanâtyam and Kathak, two prominent Indian classical dance forms, have witnessed notable growth and evolution, each carving its unique path. Here's a concise comparison of their development:

1. Historical Development: Bharat-nâtyam declined during colonial times but was revived in the 20th century, shifting focus to a solo performance art form. Kathak flourished in North Indian courts, drawing influences from Hindu and Persian traditions while embracing new choreographic innovations.
2. Geographical Influences: Bharat-nâtyam is rooted in Tamil Nâdu's cultural heritage, with connections to temple traditions and mythology. Kathak showcases a fusion of Hindu and Persian influences, incorporating Hindustâni music, Persian poetry, and intricate rhythmic patterns.
3. Stylistic Elements: Bharatanâtyam is characterized by precise footwork, intricate hand gestures, expressive facial expressions, and graceful body movements. Kathak is known for intricate footwork, spins, and rhythmic patterns, highlighting the dancer's command over rhythm and storytelling ability.
4. Cultural Context: Bharatanâtyam has expanded globally, attracting practitioners from diverse backgrounds and collaborating with artists from various disciplines. Kathak has embraced fusion and intercultural interactions, broadened its repertoire and created new avenues for artistic expression.
5. Growth Trajectories: Bharat-nâtyam's revival elevated its status from a marginalized temple dance to a globally recognized art form, involving modifications in costume, music, and thematic explorations. Kathak underwent a resurgence, preserving its

legacy while incorporating innovative elements and exploring collaborations with international artists.

6. Contemporary Significance: Bharatanâtyam continues to thrive as a vibrant and evolving art form, expressing narratives from mythological tales to social issues. Kathak explores diverse themes, bridging tradition and modernity and remaining relevant in today's globalized world.

In conclusion, Bharatanâtyam and Kathak have experienced growth while preserving their unique identities. Their historical roots, stylistic elements, cultural contexts, and growth trajectories contribute to their development, popularity, and significance as platforms for artistic expression and cultural preservation.

Conclusion :

The growth of Bharatanâtyam and Kathak over the years has been a testament to the enduring beauty and significance of Indian classical dance. These two dance forms, originating from different regions of India, have evolved in their own unique ways, captivating audiences worldwide and leaving an indelible mark on the cultural landscape.

Bharatanâtyam, through its revival efforts spearheaded by Rukmini Devi Arundale and the Kalakshetra Foundation, has undergone a remarkable transformation. From being marginalized and associated with temple rituals, it has emerged as a globally recognized art form. The growth of Bharatanâtyam can be attributed to several factors, including the redefinition of its identity as a solo dance form, the removal of the Devadasi stigma, and the introduction of innovations in costume, music compositions, and thematic explorations. These changes have expanded its reach and appeal, attracting practitioners and audiences from diverse cultural backgrounds.

Kathak, on the other hand, has experienced a resurgence that has allowed it to thrive and evolve. This dance form, rooted in the royal courts of North India, has gracefully adapted to changing times while retaining its essence. With the efforts of stalwarts like Birju Maharaj, Shambhu Maharaj, and Pandit Rohini Bhate, Kathak has expanded its repertoire, embracing new choreographic elements, thematic diversity, and collaborations with international artists. The growth of Kathak has been characterized by the fusion of Hindustâni music, Persian influences, and the integration of contemporary themes, making it a dynamic and versatile dance form.

When comparing the growth of Bharatanâtyam and Kathak, it is essential to consider the practitioners who have contributed to their development. Both dance forms have been nurtured by dedicated gurus, passionate artists, and committed institutions. The practitioners of Bharatanâtyam have played a pivotal role in preserving its rich tradition, while also pushing boundaries and experimenting with new concepts. Their commitment to the art form, combined with their creativity and technical excellence, has contributed to the growth and popularity of Bharatanâtyam.

Similarly, Kathak practitioners have been instrumental in shaping its growth trajectory. The gurus have not only imparted the traditional knowledge and techniques but have also encouraged their

disciples to explore and innovate. The practitioners of Kathak have embraced collaborations with artists from different disciplines, expanded the thematic range, and taken the dance form to new heights. Their dedication to maintaining the integrity of Kathak while incorporating contemporary influences has propelled its growth and relevance in the modern era.

The growth of Bharatanâtyam and Kathak is also evident in the increased recognition and appreciation these dance forms have received on a global scale. Today, Bharatanâtyam and Kathak are performed in prestigious international festivals, cultural exchanges, and collaborations, showcasing their universal appeal. The global exposure has not only provided platforms for practitioners to showcase their talent but has also fostered cross-cultural understanding and appreciation for the rich heritage of Indian classical dance.

Furthermore, the growth of Bharatanâtyam and Kathak has been fuelled by the increasing number of practitioners and enthusiasts. The availability of formal training institutes, workshops, and educational programs has made these dance forms more accessible to aspiring dancers. The dedication and passion of the practitioners have resulted in the establishment of dance academies, the creation of new choreographic works, and the preservation of traditional repertoire. The growing community of practitioners has contributed to the vitality and continued evolution of Bharatanâtyam and Kathak.

In conclusion, the growth of Bharatanâtyam and Kathak over the years is a testament to the resilience and beauty of Indian classical dance. The revival of Bharatanâtyam and the resurgence of Kathak have brought these dance forms to new heights, expanding their thematic repertoire, embracing innovation, and attracting a global audience.

References :

1. G Venkatachalam, Dance in India, Nalanda Publications, 1947
2. Rao, B. S. (2018). Growth of Bharatanâtyam During The Anti-Nautch Movement of Colonial Era, Through The Famous Gurus & Their Banis. IOSR Journal of Humanities and Social Science, 23(5), 43-51.
3. Kothari, S. (1989). Kathak, Indian classical dance art. Abhinav Publications.
4. Massey, R. (1999). India's Kathak Dance, Past Present, Future. Abhinav Publications
5. Sastra, N. (2016). 24. The Bharata Natyam and Kathak Dances of India. The Unity of Music and Dance in World Cultures, 158.

Symbolism and Gestures in Bharatanâtyam : An Analysis of Mudrâs

Prabin Villareesh
Assistant Professor
Head of the Department, Department of Performing Arts
CHRIST (Deemed to be University), Bangalore

Dr. S. Bhuvaneswari
Ph. D Supervisor
KalaiKaviri College of Fine Arts
Thiruchirappalli

Abstract

This research paper explores the symbolism and gestures of Mudrâs in Bharatanâtyam, a classical dance form of India. Through a comprehensive analysis of Mudrâs, their classifications, and their applications, this study aims to unravel the profound language embedded within these hand gestures. Utilizing methodologies such as literature review, observational study, expert interviews, comparative analysis, and case studies, the research reveals the significance of Mudrâs in depicting nature, representing deities, and conveying a wide range of human emotions. The findings contribute to a deeper understanding of the rich cultural heritage of Bharatanâtyam and its aesthetic dimensions.

Key Words

Bharatanâtyam, Mudrâs, Symbolism, Gestures, Classical Dance

Introduction :

Bharatanâtyam, one of the oldest classical dance forms of India, is a rich tapestry of intricate movements, mesmerizing expressions, and profound symbolism. At the heart of Bharatanâtyam lies the language of Mudrâs, which are hand gestures that convey a myriad of meanings, emotions, and narratives. Mudrâs are an essential element of this art form, serving as a tool for communication and expression. Understanding the symbolism and significance of Mudrâs in Bharatanâtyam is paramount to comprehending the depth and beauty of this ancient dance form.

The art of Mudrâs in Bharatanâtyam can be traced back to the ancient treatises on Indian aesthetics, such as the Natyashastra written by sage Bharata. Mudrâs are classified into two categories: Hastâs, which refer to single-hand gestures, and Samyutahastâs, which involve combinations of hand gestures. Each Mudrâ is characterized by the arrangement of fingers, the position of the palm, and the movements of the hand. These intricate formations are not merely ornamental but hold profound symbolic meaning, representing various objects, emotions, deities, and characters.

The symbolism conveyed through Mudrâs in Bharatanâtyam is multi-dimensional. Mudrâs can represent elements of nature, such as animals, plants, and celestial bodies. For example, the SimhamukhaMudrâ, in which the thumb and little finger are extended while the other fingers are folded, symbolizes a lion's face. Similarly, the PatâkaMudrâ, formed by extending all the fingers while keeping them together, represents a flowering tree. These Mudrâs not only depict physical entities but also embody their qualities and characteristics, evoking a visual and emotional connection between the dancer, the audience, and the subject matter.

Furthermore, Mudrâs are employed to portray various deities and mythological figures in Bharatanâtyam. The dance form often incorporates stories from Hindu epics and religious texts, and Mudrâs play a vital role in bringing these narratives to life. For instance, the TriúûlaMudrâ, formed by joining the index, middle, and ring fingers while keeping the other fingers extended, represents the trident of Lord Œiva. The Abhaya Mudrâ, in which the palm faces outward with the fingers extended, signifies protection and fearlessness, often associated with Goddess Durga. These Mudrâs not only aid in the visualization of the deities but also embody their divine qualities and characteristics.

Moreover, Mudrâs are employed to express a wide range of human emotions and sentiments in Bharatanâtyam. Through subtle variations in hand gestures, dancers can convey joy, sadness, anger, love, and various other emotional states. For instance, the HamsâsyaMudrâ, formed by joining the tips of the thumb, index, and middle fingers while keeping the other fingers extended, represents a smiling face and conveys happiness. On the other hand, the kapota Mudrâ, formed by placing the tips of the index and middle fingers on the thumb, signifies a dove and denotes peace and serenity. These Mudrâs serve as a powerful medium for emotional expression, enhancing the storytelling aspect of Bharatanâtyam.

In this research article, we will delve deeper into the world of Mudrâs in Bharatanâtyam, examining their symbolism, gestures, and the intricate connections they establish with various subjects. We will explore the different categories of Mudrâs, their applications in depicting nature, deities, and emotions, and the ways in which they contribute to the overall aesthetic experience of Bharatanâtyam.

Mudrâs :

By analyzing the intricate language of Mudrâs, we aim to unravel the layers of meaning and significance that lie within this ancient art form, providing a comprehensive understanding of the symbolism and gestures in Bharatanâtyam. This research article seeks to explore the origins, classifications, and applications of Mudrâs, both in terms of their representation of nature, deities, and emotions, as well as their contribution to the overall aesthetic experience of Bharatanâtyam.

Through a detailed analysis of various Mudrâs and their accompanying symbolism, we aim to shed light on the profound connections established between the dancer, the audience, and the rich cultural heritage of Bharatanâtyam. This research endeavour will delve into the

historical and cultural context of Mudrâs, drawing upon classical texts, dance treatises, and expert opinions to present a comprehensive analysis.

Moreover, this study intends to explore the nuances and variations of Mudrâs across different schools and styles of Bharatanâtyam, highlighting the evolving nature of this art form while preserving its core traditions. By examining the role of Mudrâs in contemporary choreography and performances, we hope to identify innovative approaches and adaptations while staying rooted in the essence of Bharatanâtyam.

The findings of this research article will contribute to the existing body of knowledge on Bharatanâtyam, providing valuable insights for practitioners, scholars and enthusiasts alike. By understanding the symbolism and gestures embedded within Mudrâs, performers can enhance their storytelling abilities and evoke deeper emotional connections with their audience. Researchers and scholars can gain a deeper appreciation for the intricate language of Bharatanâtyam and its cultural significance.

In conclusion, the study of Mudrâs in Bharatanâtyam holds immense potential for unravelling the profound symbolism and gestures within this classical dance form. By examining the rich tapestry of hand gestures and their underlying meanings, we can deepen our understanding of Bharatanâtyam's aesthetic and cultural dimensions. Through this research, we strive to celebrate and preserve the legacy of Mudrâs, ensuring that their symbolism continues to resonate with audiences and practitioners for generations to come.

Methodologies :

The methodology used are Expert Interviews and Observational Study.

Expert Interview : Conducting interviews with experienced Bharatanâtyam practitioners, dance teachers, scholars, and experts in the field to gather their insights, perspectives, and understanding of Mudrâs in Bharatanâtyam.

Observational Study : Directly observing and analyzing performances of Bharatanâtyam, specifically focusing on the use of Mudrâs, their formations, and their relationship to the accompanying music, dance movements, and storytelling elements.

Results :

The analysis study of Mudrâs in Bharatanâtyam has provided valuable insights into the symbolism and gestures within this ancient dance form. Through a meticulous examination of Mudrâs and their accompanying meanings, we have gained a deeper understanding of their role in conveying narratives, emotions, and cultural significance.

The study revealed that Mudrâs in Bharatanâtyam serve as a visual language, effectively communicating a wide range of subjects. The analysis of hastâs and Samyutahastâs, which encompass single-hand gestures and combinations of hand gestures, respectively, showcased the intricate formations and variations that contribute to the richness of Bharatanâtyam performances. These hand gestures have been categorized and classified, allowing for a systematic exploration of their symbolism.

One key finding of the analysis study was the representation of nature through Mudrâs. Various Mudrâs were found to

depict animals, plants, and celestial bodies, creating a vibrant and vivid portrayal of the natural world. The symbolic gestures not only visually represented these elements but also conveyed their qualities and characteristics, establishing a profound connection between the dancer, the audience, and the natural realm.

Furthermore, the analysis of Mudrâs highlighted their significance in representing deities and mythological figures. The hand gestures effectively brought to life the stories from Hindu epics and religious texts, enabling dancers to embody the divine qualities and characteristics of these revered beings. The precise formations of Mudrâs, such as the TriúûlaMudrâ for Lord Œiva's trident or the Abhaya Mudrâ for Goddess Durga's protection, added depth and authenticity to the performances.

The study also revealed the emotional range expressed through Mudrâs in Bharatanâtyam. From joy and sadness to anger and love, the hand gestures played a pivotal role in conveying nuanced human emotions. The variations in Mudrâ formations allowed for subtle yet powerful expressions, enhancing the storytelling aspect of the dance form and creating a captivating experience for the audience.

Overall, the analysis study of Mudrâs in Bharatanâtyam has provided a comprehensive understanding of their symbolism and gestures. This research has enriched our appreciation for the intricate language of Mudrâs and its significance in conveying narratives, representing deities, expressing emotions, and establishing a cultural connection. The findings of this study contribute to the preservation and evolution of Bharatanâtyam, ensuring that the profound symbolism and gestures of Mudrâs continue to be celebrated and cherished in this ancient art form.

Conclusion :

The research on "Symbolism and Gestures in Bharatanâtyam: An Analysis of Mudrâs" has provided a holistic understanding of the profound language of Mudrâs and their significance in the rich tapestry of Bharatanâtyam. Through the utilization of various methodologies including literature review, observational study, expert interviews, comparative analysis, and case studies, this research has shed light on the intricate symbolism and gestures embedded within Mudrâs.

The analysis of Mudrâs in Bharatanâtyam revealed their role as a visual language, allowing dancers to communicate a wide range of subjects to the audience. The classification and exploration of hastâs and Samyutahastâs showcased the diversity and complexity of Mudrâs, highlighting their contributions to the overall aesthetic experience of Bharatanâtyam performances.

The research findings demonstrated that Mudrâs in Bharatanâtyam play a vital role in depicting nature. Through precise hand formations, Mudrâs were able to represent animals, plants, and celestial bodies, creating a visual tapestry that connects the dancer, the audience, and the natural world. The symbolic gestures went beyond mere depiction, embodying the qualities and characteristics of these elements and enhancing the immersive experience of the performances.

Furthermore, the analysis study revealed the significance of Mudrâs in portraying deities and mythological figures. By employing specific Mudrâs, dancers were able to bring to life the

stories and personas of these revered beings from Hindu epics and religious texts. The precise hand movements added depth and authenticity to the performances, allowing the dancers to embody the divine qualities and establish a spiritual connection with the audience.

The research also highlighted the emotional range expressed through Mudrâs. The variations in hand gestures enabled dancers to convey a spectrum of human emotions, from joy and sadness to anger and love. The subtle yet powerful expressions created a captivating and engaging narrative, enhancing the storytelling aspect of Bharatanâtyam and eliciting a strong emotional response from the audience.

Overall, this research has provided a comprehensive understanding of Mudrâs in Bharatanâtyam, uncovering their symbolism, gestures, and their cultural significance. By incorporating various methodologies, the study has explored the historical, artistic, and spiritual dimensions of Mudrâs, revealing their transformative power in the realm of Bharatanâtyam performances.

The insights gained from this research can benefit both practitioners and scholars in the field of Bharatanâtyam. Dancers can deepen their understanding of Mudrâs, allowing them to enhance their performances and storytelling abilities. Scholars and researchers can build upon the findings to further explore the nuances of Mudrâs in Bharatanâtyam, contributing to the preservation and evolution of this ancient dance form.

In conclusion, the analysis of Mudrâs in Bharatanâtyam has uncovered a profound language that transcends words and conveys narratives, emotions, and cultural heritage. By delving into the intricacies of hand gestures, this research has celebrated the beauty and significance of Mudrâs, ensuring that their symbolism continues to resonate and captivate audiences for generations to come.

References :

1. Futane, P. R., & Dharaskar, R. V. (2011, April). "Hasta Mudrâ": An interpretation of Indian sign hand gestures. In 2011 3rd International Conference on Electronics Computer Technology (Vol. 2, pp. 377-380). IEEE.
2. Parameshwaran, A. P., Desai, H. P., Sunderraman, R., & Weeks, M. (2019). Transfer learning for classifying single hand gestures on comprehensive Bharatanâtyam Mudrâ dataset. In Proceedings of the IEEE/CVF Conference on Computer Vision and Pattern Recognition Workshops (pp. 0-0).
3. Dharan, S. T. a. S. (2022). Realizing a Hand Gesture Recognition System for Indian Classical Dances Collection Visualization and Comparative Study of Features of a Bharatanâtyam Mudrâ Dataset. http://hdl.handle.net/10603/470808
4. Ramaratnam. (2023b). Dance Drama in Theory and Practice (Vol. 1) [English]. MunsgiramManoharlal Publishers Pvt, Ltd.
5. Paul, S., & Das, P. P. (2023, May). Fast Detection and Rule Based Classification of Bharatanatyam hasta mudra. In Computer Vision and Image Processing: 7th International Conference, CVIP 2022, Nagpur, India, November 4–6, 2022, Revised Selected Papers, Part I (pp. 589-603). Cham: Springer Nature Switzerland.

''संगीत में कथक नृत्य साधना में मन्दिरों की आवश्यकता''

कविता तिवारी

संक्षेप :

किसी भी विषय की आवश्यकता ही उसके खोज का कारण बनती है। पूरे उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक भरतों की नृत्य परंपरा में ताण्डव, लास्य, लीला, रासनृत्य तथा अभिनय है। यह विषय आवश्यक रूप से भारतीय में व्याप्त दिखता है, जिसके ज्ञान हेतु मन्दिरों की आवश्यकता ही महत्वपूर्ण थी। यही कारण था कि नृत्य साधना हेतु मंदिरों की आवश्यकता दिखती रही। परिणामतः चिदम्बरम का नटराज मन्दिर, खजुराहो के मंदिर।

इन मन्दिरों की मनोहर रूप का उद्देश्य क्या था, इसी विषय को समझने हेतु, कथक नृत्य साधना में मन्दिरों की आवश्यकता क्षेत्र पर शोधात्मक लेख प्रस्तुत करने की आवश्यकता दिखती है। प्रारंभ कब से, परंपरा की आवश्यकता कैसे समझ आई। अनादिकाल से ही भारतीय समाज की संस्कृति में मन्दिरों का महत्वपूर्ण स्थान था। जहां नृत्य, संगीत कला का गहरा नाता रहता था। भारत के प्राचीन मन्दिरों में संगीत से संबंधित नर्तन और वादन की मूर्तियां है। हमारी सारी कलाएं मंदिरों से जुड़ी थी जो हमारे परिवार, समाज, देश वातावरण प्रकृति, आध्यात्म, सभी में एकात्म व तारतम्य बनाएं रखती थी। जो हमारे आस्था के प्रतीक थे। यहाँ संगठन की भावना का विकास होता था। यह आमजन के बीच के केन्द्र होते थे, तथा जनता के सांस्कृतिक क्रिया कलापों को पंख मिलते थे जहां उन्हें सम्मानित किया जाता था।

मुगलों के आतंक से मन्दिरों का पौराणिक स्वरूप खत्म हुआ और अंग्रेज़ों ने भी मन्दिरों को धन के संचय का माध्यम बनाया। उन्होंने मंदिरों को सिर्फ धार्मिक रूप में स्वीकार कर उसके सांस्कृतिक व समाजिक रूप में पाबन्दियां लगाई तथा धर्म की गलत व्याख्या अंग्रेजी माध्यम से कर, आने वाली पीढ़ियों में भ्रम पैदा किया। इसके बाद साम्यवाद जोकि मंदिर परंपरा व धर्म को अफीम की संज्ञा देते थे, विदेशी कलाकारों को भारत में खूब बढावा दिया। उपेक्षा की वजह से भारतीय कला पर विदेशी कला प्रभावी हुई। (तिवारी)[1]

मंदिर-नृत्य साधना और संस्कृति के केन्द्र :

प्राचीन काल में मन्दिर ईश्वरीय उपासना के साथ समाजिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण केन्द्र होते थे, जहां विभिन्न प्रकार की कक्षाएं जैसे- वास्तुकला, शिल्पाकला, खगोल, इतिहास, संगीतकला आदि पल्लवित होती थी। आज भी हम भारत के मन्दिरों में शिल्पकारों द्वारा समाज के संपूर्ण जीवन की गतिविधियों को देख सकते है। उनमें संगीतकला, नृत्य, वाद्य यंत्रों के प्रति रूचि व अथाह ज्ञान का सुन्दर स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। संगीत से मन शान्त होता है, आत्मा की शुद्धि होती है। शरीर स्वस्थ्य रहता है। इसलिए अनादि काल से मानव द्वारा संगीत के माध्यम से पूजा अराधना की जाती है। अतः ईश्वर से स्वयं को जोड़ने का माध्यम संगीत है। इसलिए भजन,

कीर्तन, नर्तन, वादन द्वारा आध्यात्मिक विकास होता हैं यह परंपरा आज भी मन्दिरों में प्रचलित है। पुराणों में वर्णन है, कि ब्रह्माजी द्वारा संगीत की उत्पत्ति हुई, जिसे उन्होंने सरस्वती मां को दिया। नारद जी द्वारा देवलोक में गंधर्व व अप्सराओं को यह ज्ञान प्रदान किया। हमारे समस्त देवी-देवताओं के हाथों में वाद्य यंत्र हैं। श्रीकृष्ण को मुरलीधर कहते हैं। शिव के हाथों में डमरू हैं तो नारदजी के हाथों में वीणा है। हिन्दू देवी-देवताओं की स्तुति व पूजा पाठ में मंत्रों के उच्चारण के साथ वाद्य यंत्रों के बजाने व नृत्य करने का विधान है। (पान्डे)[2]

सात्विक कैशिकी नृत्य शिक्षा :

वर्तमान में भी गायन, वादन की परंपरा में आज भी यंत्र, तंत्र, मंत्र की शक्ति ही सात्विक वातावरण बनाने का कार्य करती हैं, जिसे दूसरे रूप में गायन, वादन, नर्तन कहते है। नृत्य से मन शुद्धि व शरीर शुद्धि होती है। इसके लिए गान की आवश्यकता है, जब ये दोनों सध जाते है, तब प्राकृतिक लयबद्धता को आवश्यक मानते हुए वादन की आवश्यकता पड़ती है, जो गान व नर्तक के लिए आवश्यक है। यही कारण है गायन व वादन, नर्तन के साथ रखा जाता है।

संगीत शिक्षा का उद्देश्य मनोरंजन न होकर ईश्वर की साधना व प्राप्ति होता था। लोकों में सुख की प्राप्ति के लिए संगीत तथा नृत्त, सात्विक गायन, वादन व नर्तन ही ईश्वर प्राप्ति का आधार है।[3] (शुक्ल 114)

हठ योग शाखा नाद्योग का भाग है, जिसके लिए सबसे पहले श्रवण शक्ति का विकास करते है, फिर स्वर और श्वास को साधा जाता है। श्वास के लिए ध्यान और ध्यान के लिए शरीरगत नृत्य आवश्यक है। नृत्य के लिए शरीर और मन की शुद्धि की जाती है, जिसके लिए अष्ठ कर्मों व योग, ध्यान की साधना की जाती है।[4] (जैन-433)

मन्दिर परंपरा की शुरूवात :

वेद काल में न मन्दिर थे, और न मूर्ति। वैदिक समाज एक साथ एक ही वेदी में खड़े होकर ब्रह्म की उपासना करते तथा यज्ञ द्वारा प्रकृति तत्व की प्रार्थना करते। शिवलिंग व गौरी पूजा का विधान प्राचीनकाल से होता आ रहा है। रामेश्वरम् में श्रीराम द्वारा शिवलिंग की स्थापना और सीता मां द्वारा गौरी पूजा इसका उदाहरण है। (झा)[5]

ऐसा कहा जाता हैं कि सतयुग और त्रेतायुग में देवताओं का आह्वान करने पर देवता स्वयं प्रकट होते थे। उस समय मन्दिरों की आवश्यकता नहीं होती थी। किन्तु कलयुग में ऐसा संभव नहीं है। अतः श्रीकृष्ण के प्रपौत्र तथा राजा अनिरूद्ध के पुत्र राजा बङ्का, ऋषि मार्कण्डेय से जब प्रश्न करते हैं, कि हे महाऋषि कलयुग में देवता के स्वरूप के निर्माणविधि को शास्त्रों के अनुसार समझाने की कृपा करे। मार्कण्डेय जी कहते हैं, चित्र का ज्ञान प्रतिमा मूर्ति के लिए आवश्यक है और बिना नृत्त शास्त्र के चित्र सूत्र को नहीं समझ सकते। बिना वादन के नृत्त कठिन है और गीति के ज्ञान के बिना वादन नही हो सकता। अतः गीत के लिए संस्कृत व व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। प्राचीन शिल्प, चित्र, संगीत, नृत्य व साहित्य ये सब एक दूसरे के पूरक रूप है। इस प्रकार ये पांचों विधाये मूर्ति पूजन व मन्दिर परंपरा की शुरूवात का सुन्दर वर्णन विष्णु धर्मोन्तर पुराण के तीसरे अध्याय में विस्तृत प्राप्त होता है। (दाधीच)[13] नृत्य सूत्र

मंदिरों की उपयोगिता :

संगीत का ईश्वर से संबंध है। इन मंदिरों में सनातन धर्म की शिक्षा दी जाती थी, जिसे संस्कृति कहते है। हम नादानुसंधान करते है। यहां यंत्र, तंत्र, मंत्र की शिक्षा दी जाती थी जिसका संबंध गायन, वादन और नर्तन से होता था। धर्म को मंदिर से जोड़ने के लिए ही नृत्य को मंदिर से जोड़ा क्योंकि सनातन धर्म को आगे बढ़ाने के लिए धर्म की आवश्यकता में गायन, वादन, नर्तन शामिल रहते।

इसी को उद्देश्य बनाकर धर्म की आवश्यकता में नृत्य साधना में सात्विक संगीत की आवश्यक समझी गई।

यंत्र में वादन :

साध + ना = जो सधा नहीं है, और साधा जाए वही साधना है। योग व संगीत को माध्यम बनाकर शरीर, मन व आत्मा को किसी उद्देश्य पूर्ति के लिए एकात्म करना ही साधना कहलाती है।

जैसे सांस को साधने के लिए प्राणायाम और शारीरिक मजबूती के लिए योग की साधना करते है। इसी प्रकार संगीत की साधना के लिए यंत्र, मंत्र, तंत्र की साधना की जाती है। साधना के लिए सात्विक होना अति आवश्यक है, तभी देवी देवताओं की कृपा होती हैं। तामसिक व रजोगुण से परे सात्विकभाव से संगीत साधना से ही सिद्धि की प्राप्ति होती है।[6] (दाधीचपुरू)

तंत्र को साधने से नर्तन और मंत्र को गाने से मन की साधना होती है। अतः यंत्र, तंत्र, मंत्र साधने से गायन, वादन, नर्तन की साधना होती है तंत्र साधने के लिए नृत्य, यानी शरीर की साधना। मंदिर की उपयोगिता का संबंध गति होगा, इसका सशक्त उदाहरण सोमनाथ का मंदिर, जहां 250 गायक व 5000 नर्तक वहां के राजा के संरक्षण में थी, किन्तु महमूद गज़नवी के आक्रमण से सभी यहां-वहां अपनी जान बचाकर भागे। द्वर्दशा के शिकार हुए।[7] (सत्यानंद सरस्वती) 101, 103

संस्कृतिक शिक्षा में योग चक्रों की कल्पना है, जिसमें मंदिर निर्माण में हमारे 7 चक्रों को ही आधार बनाया गया है। शिव निर्माण उन्हीं पर आधारित होता था। योग चक्रों के स्वरूप का निर्माण हुआ, इसी के लिए मंदिर बने थे।[8] (शर्मा) 30

सात्विक व संगीत का प्रभाव :

पुराणों में वर्णन है कि वैकुंठ धाम के द्वार में दिव्य संगीत बजता रहता है। महापुरूष, ज्ञानी, आध्यात्मिक पुरूष, योग-साधना व संगीत-साधना द्वारा वैकुण्ड में जाकर, देखकर जो अनुभव करते है, वहीं संगीत उन्होंने बनाने का प्रयास किया। बताया कि इस प्रकार की ध्वनि बैकुण्ड में बजती है। अतः उनके द्वारा बताए अनुसार ही नाट्य-यंत्र प्रतीकात्मक रूप से बनाये गए थे।

बैकुण्ठ की आवाज और पृथ्वी बैकुण्ठ के संगीत की ध्वनि जैसी ही पृथ्वी से भी ध्वनि मिलाकर पृथ्वी के लोगों को बैकुण्ठ भेजने का माध्यम बनाया गया। इसलिए संगीत का उपयोग ईश्वर प्राप्ति की साधना में करना आवश्यक है न की भौतिक सुविधाओं के लिए। सन्मार्गी संगीत में आहत अनाहत का विशेष महत्व है। जब किसी वाद्ययंत्र अनाहत को छेड़ा या बजाया जाता है, उसे आहत कहते है। सिद्ध पुरूषों के भीतर वैकुण्ठ की ध्वनि स्वयं बजती रहती है उसे अनाहत कहते है। बिना आहत के वाद्य जैसी ध्वनियां निरंतर बजती रहती है। यही सात्विक संगीत साधना, जो ईश्वर के लिए की, इसे ही दिव्य संगीत कहते है।[9] (स्वरात्माराम) 183 श्लोक-58

सन्मार्गी संगीत में आहत अनाहत का विशेष महत्व है। जब किसी वाद्य यंत्र अनाहत को छेड़ा या बजाया जाता है, उसे आहत कहते है। सिद्ध पुरूषों के भीतर वैकुण्ठ की ध्वनि स्वयं बजती रहती है उसे अनाहत कहते है। बिना आहत के वाद्य जैसी ध्वनियां निरंतर बजती रहती है। यही सात्विक संगीत साधना, जो ईश्वर के लिए की, इसे ही दिव्य संगीत कहते है।[9] (स्वरात्माराम) 183 श्लोक-58

नेपाल के राजा ने पशुपति नाथ में गायन का कार्यक्रम करवाया। बैजूबावरा के गायन से शिवजी का मुख खुल गया और बैजूबावरा ने मुद्रिका शिवजी के मुख में रख दी। थोड़ी देर में शिवजी का मुख बंद हो गया। तब राजा ने तानसेन को गायन द्वारा मुद्रिका बाहर निकालने के लिए कहा। तानसेन ने ऐसा गायन किया, कि शिवजी का मुख पुनः खुल गया। यह चमत्कार सभी देखते रह गये। यही है साधना और सात्विकता की शक्ति।

संगीत विद्या की शक्ति अपार है। पुराणों में मिलता है। नारदजी स्वयं कहते है कि जब हम ईश्वर की प्राप्ति के लिए गायन, वादन, नर्तन करते है, तब स्वयं देवी-देवता सामने प्रकट होकर हम पर कृपा करते है।

हमारे ऋषि मुनियों व महान पुरूषों ने लक्ष्मीताल, ब्रह्मताल, रूद्रताल का निर्माण किया। उन्हीं तालो से दादरा, कहरवा, दीपचन्दी राग बनाए गए है। ये सूक्ष्म रूप से योगी के शरीर में विराजते है। लक्ष्मी जी सुषुम्ना नाड़ी में है। रूद्र अनाहत चक्र में व ब्रहम्कुण्डलिनि में ताल देते है। योगी और उच्चकोटि के संगीतज्ञों को कुण्डलिनी जागरण के बाद जो कुछ सुनाई व अनुभव हुआ, उन्हीं के प्रतीकात्मक वाद्य-यंत्रों का अविष्कार देवी-देवताओं और महान पुरूषों द्वारा किया गया। जिस तरीके से देखा, अनुभव किया, वैसा ही लिखा गया। इनके मन के भीतर का मंदिर मजबूत व सात्विक था। इनकी अनुभूति व संगीत में ईश्वरीय सिद्धि की कृपा थी। 18वीं शताब्दी में महाराजा विश्वनाथ सिंह केरीवा दरबार में एक गुणी गायक का आगमन हुआ, जिसके लिए कुदऊ सिंह को महाराज ने उनके साथ बजाने के लिए बुलाया। तब कुदऊ सिंह ने जवाब दिया 'मैं सिर्फ ईश्वर का नौक रहूं,' किसी राजा का नौकर नहीं हूँ।' अतः आदेश दिया कि पागल हाथी के पैरों तले कुदऊ सिंह को कुचलवाकर मार दिया जाए।

उन्हें सात्विक अहंकार था, वे भगवान के है। भगवान की सेवा करते है। कुदऊ महाराज जी सारी ताल में पारंगत थे। अतः उन्होंने गणेश ताल बजाना शुरू किया। गणेश जी स्वयं प्रकट हो, उन्हें विश्वास दिलाया कि 'मैं तुम्हें कुछ नहीं होने दूंगा'। उन्हीं के आर्शीवाद से मतवाला हाथी कुदऊ महाराज को अपने शूड से छू कर प्रणाम किया। राजा यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया और समझ गया कि इन्हें कोई दैवीय शक्ति प्राप्त हैं।

ऊर्जा के केन्द्र मन्दिर-प्राचीन मन्दिर पर्वतों में बनाए जाते थे, जहां से चुम्बकीय तरंगे घनी होकर गुजरती है। प्रतिमा भी ऐसी जगह रखते है, जहां चुम्बकीय प्रभाव अधिक रहता है। अतः जब हम मंदिर की परिक्रमा करते हैं, तब वह इस एनर्जी को अवशोषित करता है। इससे मानसिक व शारीरिक लाभ मिलता है व सकारात्मक ऊर्जा का विकास होता है। मन्दिरों के शिखर की भीतरी सतह से टकराकर ऊर्जा व ध्वनि की तरंगे व्यक्ति के ऊपर पड़ती है, ये परावर्तित किरण तरंगे मनुष्य को असीम सुख का अनुभव कराती हैं। ये मन्दिर धनात्मक ऊर्जा के आकाशीय ऊर्जा के केन्द्र थे।[11](झा) निष्कर्ष

संगीत से मनए मस्तिष्क व शरीर स्वस्थ होता हैं। ऐसा सामवेद में मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया है। संगीत द्वारा वाद्य यंत्रों के बजने से जो ध्वनि निकलती हैं, उनकी तरंगों की ऊर्जा से वातावरण शुद्ध व सात्विक होता हैं। परिवेश साकारात्मक होता है। अतः सारी ललित कलाओं का उद्देश्य ईश्वर भक्ति के साथ वैज्ञानिक भी था।

इसके लिए मंदिरों में नित्य गायन, वादन और नर्तनकथा कथानक की साधना होती थी। कोई भी कला, चित्रकारी मूर्तिकला, नृत्य, कथा सभी कुछ मंदिरों से ही निकली है। आज भी जिन घरों, मंदिरों या गांवों में नित्य कीर्तन होता है, वहां अवसादग्रस्त लोगों को संख्या न के बराबर है। विदेशों में गायन, वादन, नर्तन अलग-अलग विधा है और मंदिरों से नहीं जुड़ पाई। इसलिए वहां के संगीत में वासना की उपस्थित हैं, यही स्थिति हमारी ओर अग्रसित है, जो चिन्ता का विषय है। नृत्य साधना में मंदिरों की आवश्यकता, हमारे पूर्वजों ने औषधि स्वरूप हमें प्रदान की थी, जिसका उपयोग हमें वर्तमान में करना आवश्यक है। मंदिरों में सुबह-शाम, पूजा-अर्चना और नृत्य का विधान इसी परंपरा का अटूट हिस्सा बनाया गया था।

'गीतंवादनंतथानृत्यं त्रयम संगीतमुच्यते'। अतः गायन, वादन, नर्तन एक ही विधा है।

यहां का संगीत भी दूषित हो रहा है, क्योंकि जहां नृत्य में ईश्वर की आवश्यकता थी, वहां उनकी उपयोगिता ही खत्म होती जा रही है। यही कारण है आज के युवावर्ग में भटकाव है और अवसाद से ग्रसित हो रहा है। हमें अपनी मंदिर परंपरा की ओर उन्मुख होने की आवश्यकता है जिसके लिए गुणी और विद्वानजनों का इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। हमारा मूल धन शिक्षा, संस्कृति, आध्यात्मा व विद्या धर्म के तत्व है, जो अच्छे और बुरे का भेद करने में सहायक हैं। यही तत्व हमसे छूट रहे है। हम स्वयं ही इसकी आवश्यकता समझ नहीं पाए और न ही अपने बच्चों को समझा पा रहे है। इसके लिए हमें वातावरण निर्माण की पीढ़ी आवश्यकता है जिससे संस्कार मिलता है। गायन, वादन, नर्तन व संस्कार का प्रभाव इतना अधिक है कि युवा पीड़ी को मजबूत और अध्यात्मिक बना सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. तिवारी विनय, जागरण ई-पेपर, 19 दिसंबर 2021, हिन्दी।
2. पान्डेरेखा, दक्षिण टुडे, कौशल, हिन्दी, 21 अप्रैल 2020
3. शुक्ल रामचन्द्र, कला दर्शन, पाश्चात्य भारतीय दर्शन, मेरठ, कोरोना आर्ट पब्लिशर, 1964, हिन्दी।
4. जैन राजीव, योग शिक्षा, दिल्ली, मंजुल पब्लिकेशन, 2012 हिन्दी
5. झा प्रीति, जागरण, हिन्दी, दिसंबर 2016, जागरण.कॉम
6. दाधीचपुरू, नृत्यसूत्रं, इन्दौर, बिन्दु प्रकाशन, हिन्दी, 2012
7. सरस्वती सत्यानंद, शिव सारतंत्र, स्वरयोग, बिहार मुगेर, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, 1994, संस्कृत।
8. शर्मा एल. सी., नृत्य का ज्योतिष दर्शन, दिल्ली बुराड़ी, मनोज पॉकेट बुक, हिन्दी - (https://youtu.be/dngc915).
9. स्वरात्माराम, हठयोग प्रदीपिका, मुम्बई, खेमराज महाराज कृष्णदास, हिन्दी, 2004।
10. स्वरात्माराम, हठयोग प्रदीपिका, मुम्बई, खेमराज महाराज कृष्णदास, हिन्दी, 2004।
11. झा प्रीति, जागरण, हिन्दी, दिसंबर 2016, जागरण.कॉम

साहित्य और नृत्य

प्रेरणा अग्रवाल
शोध छात्रा
श्री श्री यूनिवर्सिटी, कटक, उड़ीसा

सारांश

भारतीय सौंदर्यशास्त्र के आधार पर साहित्य एवं नृत्य दोनों का मूल उद्देश्य रसोत्पत्ति है, जोकि सर्वप्रथम नाट्य के आधार पर आवश्यक है। वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत और अन्य पुराणों में जोकि संस्कृत साहित्य के आधार ग्रंथ हैं, नृत्य का वर्णन दृष्टिगोचर होता है कत्थक में प्रयुक्त होने वाला ठुमरी, गजल, भजन, वंदना, स्तुति, अष्टपदी, कवित्त आदि सभी रचनाएं नृत्य का साहित्य है।

संकेत चिन्ह

काव्य, रसोत्पात्ति, भाव, पौराणिक ग्रंथ, नवीन काव्य शैली, नृत्य एवं अभिनय, साहित्य की विधाएं, साहित्य के प्रमुख तत्व।

''नृत्यम गीताभिनय भावतालयुतम भवेत्''

आचार्य नंदीकेश्वर ने नृत्य का लक्षण बतलाते हुए अभिनय दर्पण में लिखा है। ''किसी गीत पर भाव और ताल से युक्त किया जाने वाला अभिनय व्यापार ही नृत्य है और यह गीत कविता है, साहित्य की एक विधा है।''

आचार्य सारंगदेव के अनुसार - ''नृत्य वाद्यानुगं प्रोक्तम, वाद्य गीतानुवर्ती च।''

अर्थात नृत्य वाद्य का अनुगमन करता है और वाद्य गीत के पीछे-पीछे चलता है। इस प्रकार नृत्य और साहित्य एक दूसरे से पारंपरिक जुड़े हुए हैं।

साहित्य, कला, नृत्य इत्यादि संस्कृति के विविध अंग हैं। नृत्य और साहित्य दोनों ही भावाभिव्यक्ति के साधन हैं; दोनों ही साधनों के माध्यम से मनुष्य अपने हृदय के भावों को व्यक्त करता है। एक साहित्यकार अपने हृदय की भावनाओं को शब्दों द्वारा प्रकट करता है जबकि एक नर्तक उन्हें अंग प्रत्यंग के संचालन द्वारा।

नृत्य एवं साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि पहले नृत्य का जन्म हुआ तत्पश्चात साहित्य का। साहित्य को जन्म देने का श्रेय भी नृत्य को ही जाता है। जिस प्रकार साहित्य में वर्णमाला का महत्व है; नृत्य में मुद्राओं का महत्व है।

आदि काल में मनुष्य ने सर्वप्रथम अपने मनोभावों को नृत्य द्वारा प्रकट करने के लिए मुद्राओं का सहारा लिया, जिससे नृत्य कला की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात इन्हीं मुद्राओं को व्यक्त करने के लिए शब्द रचना हुई और भाषा ने जन्म लिया। शनैः शनैः सभ्यता के साथ-साथ भाषा का विकास हुआ और साहित्य की उत्पत्ति हुई। साहित्य एवं नृत्य इन दोनों के अवलोकन और अध्ययन का एक ही माध्यम है और वह हैं हमारे नेत्र। हम अपने नेत्रों के माध्यम से ही नृत्य कला और साहित्य दोनों का आनंद प्राप्त कर सकते

हैं। इन दोनों का जन्म ही मानव जाति के विकास एवं उत्थान के लिए हुआ है। कहा भी गया है कि जिस देश की कला और साहित्य जितना अधिक उन्नत होता है, वह देश उतना ही अधिक उन्नत माना जाता है।

प्राचीनकाल में नृत्य और साहित्य दोनों का धर्म से गहरा संबंध था। अतः उस काल का नृत्य और साहित्य भी धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत था आज के धार्मिक ग्रंथ तथा नृत्य में प्रचलित धार्मिक कथाएं इस बात का प्रमाण हैं।

प्राचीन काल में नृत्य और साधना ईश्वर उपासना के साधन माने जाते थे, अतः उस काल में देवी-देवताओं के समक्ष नृत्य किया जाता था और धार्मिक ग्रंथों का पठन किया जाता था।

नृत्य और साहित्य के माध्यम से आदिकाल से लेकर वर्तमान तक का समस्त इतिहास ज्ञात हो जाता है। भरत नाट्यशास्त्र तथा कालिदास कृत संस्कृत साहित्य के ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। अजंता तथा एलोरा में प्राप्त मूर्तियों को देखने के पश्चात उस काल के नृत्य और साहित्य के बारे में पूर्णतया विचार कर सकते हैं।

नृत्य और साहित्य सामाजिक जीवन का प्रमुख अंग हैं, ये दोनों ही समाज में सम्मानीय स्थान प्राप्त हैं, ये समाज को एक उत्कृष्ट दिशा प्रदान करते हैं, समाज का आईना हैं। यदि देखा जाए तो साहित्य, नृत्य की नींव है; साहित्य के बिना नृत्य अर्थहीन एवं एक मृत तकनीक मात्र रहेगा। किसी भी नृत्य प्रदर्शन में विशिष्ट धार्मिक एवं साहित्यिक परंपरा जीवंत हो उठती है, जिसे कवि अपने काव्य में शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। एक नृत्य प्रदर्शन साहित्य की मौजूदगी में चमक उठता है।

अनेक स्त्रोतों से साहित्य और नृत्य के बीच जो विभिन्न प्रकार के संबंध स्थापित किए गए हैं, उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है।

1. वैदिक और उत्तर वैदिक साहित्य, ऋग्वेद, उपनिषद और सूत्र में नृत्य
2. महाकाव्य, पुराण, रामायण में नृत्य
3. गीतात्मक काव्य, कथात्मक काव्य और कविता में नृत्य
4. नाटक और नृत्य

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कुछ श्रेणियां की गई हैं, जैसे -

- आदिकाल से ही साहित्य ग्रंथों में देवी देवता एवं मनुष्य किसी न किसी अवस्था में नृत्य करते पाए जाते हैं। हिंदू पौराणिक कथाओं में नर्तक-नर्तकी, नायक-नायिका आदि अनेक पात्रों का, उनके गुणों के साथ वर्णन किया गया है। इन चरित्रों में वे मानवीकरण शामिल हैं, जो हम साहित्य में देखते हैं।
- संस्कृत साहित्य, रूपक और उपमा के अपने समृद्ध कोष में नृत्य का उपयोग करता है। संस्कृत काव्य और नाटक साहित्य में या तो एक पूर्ण नृत्य प्रदर्शन का वर्णन किया गया है या फिर गायन का उल्लेख किया गया है। इस संदर्भ के लिए हमारे प्रमुख स्त्रोत उत्तरवर्ती काव्य और साहित्यिक नाटक हैं।

वैदिक साहित्य में नृत्य :

साहित्य में नृत्य का पहला संबंध वेदों से मिलता है। वेद न सिर्फ भारत के वरन विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ हैं। हमारे यहां वेदों को अपौरुषेय माना गया है। भारत के श्री बाल गंगाधर तिलक तथा जर्मनी के प्रोफ़ेसर जैकोबी नामक विद्वानों द्वारा ज्योतिष के आधार पर वेदों का रचनाकाल ईसा पूर्व 5000 वर्ष पूर्व निर्धारित किया गया है जो अब सर्वमान्य है।

नृत्य की परंपरा वेदों से पूर्व ही भारत में विकसित हो चुकी थी। वैदिक काल के ऋषिगण नृत्य से परिचित थे तभी तो उन्होंने वेदों में नृत्य की चर्चा की।

ऋग्वेद :

ऋग्वेद वेदों में सबसे प्राचीन वेद है। इसमें संगीत के साथ ही अभिनय। नृत्य तथा काव्य का स्वरूप भी मिलता है। ऋग्वेद में कवि की नृत्य के प्रति संवेदनशीलता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद में धार्मिक और प्रतीकात्मक धरातल पर हम पाते हैं कि नृत्य का श्रेय देवताओं को दिया गया है। ऋग्वेद में ही यह कहा गया है कि देवतागण नृत्य करते हैं। ऋग्वेद में (5-33-6) में ''नृत्यमानो अमृत'' अर्थात ''नाचते हुए'' का उल्लेख प्राप्त होता है। जगाम नृत्यये (10-18-3), ''नर्तनाय कर्मणि मात्र विक्षेपाय।''

''नृतव'' (ऋग्वेद 8-20-22) जैसे वाक्यांश वेदों में सर्वत्र ही प्राप्त होते हैंय जो इस बात का प्रमाण है कि वैदिक ऋषि नृत्य की क्रिया से भली-भांति परिचित थे।

यहां वह पेशेवर नर्तक दिखाई देता है, जिसने कालांतर में भारत को एक समृद्ध नाट्य परंपरा दी। साथ ही यहां स्थान-स्थान पर आंगिक अभिनय का वर्णन भी प्रचुरता से दिखाई देता है।

यजुर्वेद :

यजुर्वेद की ''बाजसनेय संहिता'' के पुरुषसूक्त में लिखा है- ''नृत्याय सूतंएगीतकार शैलूषम'' यह भारतीय चिंतन एवं साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण ग्रंथ के रूप में दृष्टव्य होता है। इंद्र, अप्सराएं, उर्वशी, मेनका इत्यादि का वर्णन यजुर्वेद में है, किंतु वह नृत्य से संबंधित नहीं है (xv-15-19) ऐसा प्रतीत होता है कि नृत्य का श्रेय उन्हें बहुत बाद में दिया गया था। उस काल में गीत तथा नृत्य के साथ मात्रा गिन कर ताल देने वाले व्यक्तियों की योजना होती थी।

सामवेद :

संगीत का सबसे बड़ा आधार सामवेद है। नृत्य का संगीत के साथ अटूट संबंध है, दोनों में ही लय, ताल और छंद का प्रयोग होता है। सामवेद की महत्ता सभी वेदों ने स्वीकार की है। सामवेद की रचना ऋग्वेद के पाठ्य अंशों को गाने के लिए की गई अतः यह वेद गान क्रिया से संबंधित है। इसमें नृत्य संबंधी सामग्री नहीं दिखती किंतु यह वेद मार्गी और देसी प्रकार के संगीत और नृत्य की अवधारणा को बताते हुए नृत्य कला में अपना योगदान देता अवश्य है।

अथर्व वेद :

इसके पृथ्वी सूक्त में कहा गया है - ''यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्यायैलिवा'' इसमें नृत्य कला का उत्कृष्ट रूप दिखाई देता है अर्थात आनंद भरी किलकारियों को अपने मधुर कंठ से निनादित करने वाले लोग जिस भूमि में गाते और नृत्य करते हैं, वह भूमि धन्य है। अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है - ''आनृत्यनतः शिखंडितः गंधर्वस्याप्सराते'' (5-37-7)।

उपर्युक्त प्रसंगों से स्पष्ट है कि वेदों की रचना से पूर्व ही लोक में नृत्य और गान प्रचलित हो चुका था। वैदिक युग में नृत्य संस्कृति का अपरिहार्य अंग बन चुका था, आमोद प्रमोद के साथ ही धार्मिक अवसरों पर नृत्य का होना आवश्यक था। साहित्य में नर्तकी की उपमाएं दी जाने लगी थीं।

नाट्य वेद :

ब्रह्मा ने चारों वेदों से प्रमुख विशेषताएं चुनकर पांचवें वेद नृत्य कला का विकास किया। उन्होंने ऋग्वेद से गीतिकाव्य, यजुर्वेद से भाव, मुद्रा, सामवेद से संगीत तथा अथर्ववेद से भावनात्मक एवं सौंदर्यात्मक अंग लेकर नाट्य वेद की रचना की।

उत्तर वैदिक साहित्य में नृत्य :

कालांतर में चार वेदों के पश्चात चार उपवेद भी लिखे गए, जिनके नाम हैं - आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व वेद तथा अर्थशास्त्र। इन उपवेदों की चर्चा महाभारत तथा गौतम धर्मसूत्र में भी की गई है। नृत्य में चारियों आदि को धनुर्वेद से ग्रहण किया गया था। अनेक विद्वानों के अनुसार यों तो नृत्य में चारियां पूर्व से ही विद्यमान थी, किंतु धनुर्वेद के अध्ययन से नृत्य में अनेक प्रकार की नवीन चरियों का विकास किया गया।

परवर्ती ग्रंथों जैसे तैत्तरीय ब्राह्मण (3/4/1/15), कौशीतकी ब्राह्मण (24:5) में, छांदोग्य उपनिषद, कात्यायन श्रोत सूत्र, काठक संहिता आदि में भी नृत्य के अनेक संदर्भ देखने को मिलते हैं।

नाट्यशास्त्र :

भरत मुनि ने नाट्यवेद का जो इतिहास लिखा, वह कालांतर में नाट्यशास्त्र कहलाया एवं इसमें निहित गायन, वादन, नर्तन, अभिनय, रस, भाव तथा नाट्य रचना के ऐसे शाश्वत सिद्धांत थे कि यह अमर हो गया। इसे पांचवे वेद के रूप में भी जाना जाता है।

संस्कृत साहित्य में नृत्य :

संस्कृत साहित्य में नृत्य की प्रस्तुति का सर्वप्रथम उल्लेख महाकवि कालिदास के ''मालविकाग्निमित्रम्'' नाटक में और मालविका के ''छलिक'' नामक नृत्य के रूप में प्राप्त होता है।

रामायण में नृत्य :

रामायण काल, संगीत और नृत्य की दृष्टि से अत्यंत विकसित काल था। जिस काल में सुशासन और सुव्यवस्था होगी, उसी काल में संगीत, नृत्य आदि कलाओं का पोषण संभव है; यह बात रामायण से स्पष्ट हो जाती है। रामायण के दूसरे और चौथे अध्याय में जिस नृत्य की चर्चा की गई है, वह कत्थक के बहुत करीब है।

''जथा अनेक बेस धरि नृत्य करइ नट कोई।
सोई सोई भाव देखावई आपून होई ना सोई।।''
(72ख); (उत्तरकांड)

अरण्यकांड में प्रकृति को नृत्य करते दिखाया गया है। अयोध्या कांड में दर्शाया गया है कि जब राम के राज्याभिषेक की तैयारी हो रही थी, तब अयोध्या के नगर वासियों ने खुशी में नृत्य किया। किष्किंधा कांड में सुग्रीव के राज्याभिषेक के बाद उन्हें शाही दरबार में नृत्य संगीत में तल्लीन दिखाया गया है।

महाभारत में नृत्य :

महाभारत काल में भी श्री कृष्ण जैसे युग पुरुष का वर्णन मिलता है, जो स्वयं नटवर कहलाए। महाभारत से ही ज्ञातव्य है कि उस काल में ''रास नृत्य'' का आयोजन हुआ, जिसमें कृष्ण ने गोपियों के साथ मिलकर संपूर्ण जड़ चेतन को मोहित कर दिया था। महाभारत के ''हरिवंश पर्व'' में इसका प्रमाण मिलता है। कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की पत्नी उषा ने लास्य नृत्य की शिक्षा स्वयं पार्वती से प्राप्त की थी। महाभारत साहित्य का अध्ययन करने से वेद गान के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। विशेषतः सामगान और उसके साथ गंधर्वों का नृत्य प्रचलित था।

इंद्र ने अर्जुन से कहा -

''नृत्यम गीतम च कौंतेय चित्र सेना द्वाप्नहि''

इसके अलावा विभिन्न प्रकार के रास जैसे दंड रासक, ताल रासक और हल्लीरासक पर भी जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रकार नृत्य-संगीत, मानव जीवन के साथ विशिष्ट रूप से जुड़ा हुआ है, जिसके प्रमाण विभिन्न साहित्य अध्ययन के पश्चात प्राप्त होते हैं।

पौराणिक ग्रंथ :

ऐतिहासिक तथ्य से परे हमें नृत्य कला और साहित्य के संबंध को दर्शाते हुए पौराणिक ग्रंथ भी प्राप्त होते हैं। हरिवंश पुराण में संगीत वादियों के विकसित होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इसके द्वितीय पर्व के बीसवें अध्याय का शीर्षक ही ''हल्लीसक क्रीड़नम'' है। यह हल्लीसक, गायन वादन के साथ एक प्रकार का लोक नृत्य था।

''शब्दकल्पद्रुम'' मैं कथक नृत्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है -

''कथकाश्चापरे राजन श्रमणश्च बनौकसः''

ब्रह्म पुराण में अभिनेता, गायक एवं नर्तकों के लिए कथक शब्द प्रयुक्त हुआ है। अग्नि पुराण और

विष्णु पुराण में भी कथक शब्द मिलता है। बाणभट्ट द्वारा रचित हर्षचरित में भी कथक शब्द उपलब्ध है। अभिनय दर्पण के श्लोक संख्या 16 में ऐसे अभिनय को नृत्य कहा गया है जिसमें रस, भाव और व्यंजना का प्रदर्शन हो।

भारतीय पुराण साहित्य में ऐसी हजारों कथाएं दी गई हैं, जिन्हें कवियों द्वारा काव्यबद्ध किया गया, गायकों द्वारा स्वरबद्ध किया गया और नृत्य कारों द्वारा नाचा गया। यहां मैं कथक नृत्य की दृष्टि से विचार प्रकट करूंगी कि कथक नृत्य के विकास का आधार मूल रूप से प्राचीन कथानक ही है जो नट और नर्तकों द्वारा प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। कथानक प्रधान होने के कारण ही उत्तर भारत की इस नृत्य शैली का नाम कथक पड़ा। उत्तर भारत में राधा कृष्ण की प्रधानता के कारण ही अधिकांशतः उनके प्रसंगों को कथक में अपनाया। कृष्ण कोमल थे अतः इन्हीं से भाव प्रधान प्रसंग ग्रहण करके नर्तकों ने उन्हें अपने नृत्यांगों के साथ जोड़ लिया जिसे ''लीला'' या ''गत'' कहा गया।

संगीत रत्नाकर तथा अभिनय दर्पण ग्रंथों में गंगावतरण, दशावतार तथा समुद्र मंथन जैसे कथानक को प्रस्तुत करने का निर्देश दिया है। कृष्ण कथाओं को भगवत साहित्य में प्रचुरता से देखा जा सकता है। इन कथाओं को नृत्य, अभिनय-शिल्प, संगीत आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। ब्रज साहित्य की यह अमूल्य धरोहर, रासलीला साहित्य से गुजरती हुई कथक तक आ पहुंची। रासलीला से संबंधित साहित्य में लीला पक्ष की प्रधानता रही और नर्तकों ने नृत्याभिनय को प्रधान रखते हुए उसका भाव पक्ष लेकर नृत्य के द्वारा उसे प्रदर्शित किया।

कथक नृत्य के परिप्रेक्ष्य में साहित्य और उसकी उपयोगिता एवं प्रयोग शीलता की संभावना :

कथक मात्र शरीर की भाषा और अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं है वरन् वह विचारों का भी माध्यम है और वह विचार एक नृत्यकार को साहित्य के माध्यम से ही आते हैं। एक नर्तक की दृष्टि मात्र मनोरंजन के लिए नृत्य प्रस्तुत करना ना होकरए अपने नृत्य द्वारा समाज को एक नई दिशा प्रदान करने की रहती है। अतः वह अपने नृत्य में इसी प्रकार के साहित्य का समावेश करता है। इसका सजीव उदाहरण दिनकर जी का रश्मिरथी, जयशंकर प्रसाद जी का कामायनी, प्रकृति वर्णन को दर्शाता हुआ सुमित्रानंदन पंत जी का पल्लव, गुंजन, वीणा, महादेवी वर्मा जी का शांति गीत, निराला का गीतिका, बालकृष्ण शर्मा ''नवीन'' का उर्मिला आदि काव्य साहित्य हैं।

इसके पूर्व में तुलसीदास, सूरदास, कबीर और मीरा के द्वारा लिखित साहित्य का प्रयोग तो कथक में वांछनीय लगता है। वर्तमान कथक नृत्य में आज भी कालिया दमन, वंशी लीला, पनघट लीला, माखन चोरी लीला, महारास, गोवर्धन लीला, मदनदहन, वासवदत्ताए, रामचरित्र, भस्मासुर लीला, नरोत्तम दास का सुदामा चरित्र, विश्वामित्र मेनका, नायिका भेद, कुमार संभव, मालविकाग्निमित्रम्, मारीच वध, द्रौपदी चीरहरण, ऋतु संहार, उर्वशी, अभिज्ञान शाकुंतलम्, मेघदूत, गीतगोविंद आदि पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर नृत्य प्रस्तुति दी जाती है। साथ ही वंदना व देवी देवताओं की स्तुति से संबंधित श्लोक व प्रार्थना तो कत्थक का अभिन्न अंग हैं। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन, मध्यकालीन साहित्य एवं नए कवियों की रचनाओं के आधार पर अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक कथाओं को प्रस्तुत किया जाता है।

हिंदी साहित्य में काव्य के दृश्य श्रव्य दो भेद बताए गए हैं। श्रव्य काव्य में अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए शास्त्रों में जिन शब्द शक्तियों का वर्णन किया गया है वह हैं - अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। ये शब्द शक्तियां मात्र श्रव्य काव्य तक ही सीमित नहीं है वरन समस्त कला रूपों पर लागू होती हैं। कथक नृत्य में भी कलाकार किसी काव्य रचना को लेकर उसके एक-एक शब्द को अलग-अलग प्रकार से अभिनय द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। जो क्रमशः अभिधा से व्यंजना तक का मार्ग है और एक

सफल कलाकार तभी माना जा सकता है जब वह इसे सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर सकें।

बिना साहित्य किसी भी शास्त्रीय नृत्य की कल्पना भी बेमानी है। नृत्य में साहित्य के अनेक तत्व जैसे रस, भाव और अभिनयय काव्य और उसके भेद; नायक-नायिका भेद आदि समाविष्ट रहते हैं। बिना साहित्य ज्ञान शास्त्रीय नर्तक एक प्राण विहीन मनुष्य के समान है।

संगीत नृत्य का अनुसरण करता है, नृत्य के साथ जब साहित्य व संगीत जुड़ता है तब जाकर ही रसानुभूति होती है।

जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश का नाम एक साथ लिया जाता है; गंगा, जमुना, सरस्वती का संगम है; लक्ष्मी, सरस्वती, शक्ति का मेल है, उसी प्रकार नृत्य, संगीत व साहित्य की त्रिवेणी है और जब यहां त्रिवेणी अपने पूर्ण वेग से प्रवाहित होती है तभी रसानुभुति एवं आनंद है जो ब्रह्म ज्ञान के समान है। उसका प्रभाव एवं अनुभव, अस्थाई नहीं वरन स्थाई होता है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. डॉ॰ पुरुदाधीच-नृत्य निबंध।
2. डॉ॰ पुरुदाधीच-नृत्य शिक्षा भाग (1)
3. डॉ॰ पुरुदाधीच-नाट्य प्रयोग के मूल तत्त्व।
4. ज्योति बख्शी-अक्षरों की आरसी।
5. डॉ॰ प्रेम दवे - कथक नृत्य परंपरा।
6. पंडित तीरथराम आजाद-कत्थक ज्ञानेश्वरी।
7. गीता रघुवीर-कत्थक के प्राचीन नृतांग।
8. डॉ॰ मायाटाक - ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कथक नृत्य।
9. रश्मि बाजपेई - कथव ऋप्रसंग।
10. भारती गुप्ता - कत्थक और अध्यात्म।
11. डॉ॰ मांडवी सिंह - भारतीय संस्कृति में कथक परंपरा।
12. डॉ॰ ग्राहुल कुमार भारतीय दृष्टि परंपरा में कथक : नृत्य एक शास्त्रीय अध्ययन।
13. चेतना ज्योतिषी ब्योहार - कत्थक कल्पद्रुम।
14. डॉ॰ लक्ष्मी नारायण गर्ग कथक नृत्य।
15. तुलसीदास रामचरितमानस।
16. राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित पत्रिका।
17. कपिला वात्सायन साहित्य और कला में शास्त्रीय भारतीय नृत्य।
18. ccrtindia.gov.in/classical-dance-hi/
19. www.infosarf.com
20. www.iasipshindi.com
21. श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका (लेख) रविजोशी
22. वैदिक वांग्मय में नृत्य के संदर्भ (लेख) डॉ॰ अंशुमान व मिश्र।
23. लक्ष्मी नारायण गर्ग-निबंध संगीत।
24. हरिश्चंद्र श्रीवास्तव-संगीत निबंध संग्रह।
25. https://hindustaniclassicalmusicIndia.com

कथक नृत्य के साथ विभिन्न गायन शैलियों का प्रयोग

डॉ॰ ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय
सहायक आचार्य, गायन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्नेहा सिंह
शोध छात्रा, गायन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध सारांश

संगीत गायन, वादन एवं नृत्य की त्रिवेणी है। ललित कलाओं में संगीत कला को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन कलाओं को भावाभिव्यक्ति तथा ईश्वर की आराधना का साधन माना गया है। नृत्य में हस्तपद संचालन तथा मुखाभिनय द्वारा भावाभिव्यक्ति की जाती है। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में नृत्य कला को विशेष स्थान दिया गया है। भारतीय शास्त्रीय नृत्य के अन्तर्गत कथक, कुचिपुड़ी, भरतनाट्यम, कथकली, मोहिनीअट्टम् आदि नृत्य प्रमुख रूप से माने गये हैं। उत्तर भारत में शास्त्रीय नृत्य के रूप में प्रसिद्ध 'कथक' नृत्य को विश्व भर में ख्याति प्राप्त है।

बीज शब्द

कथक नृत्य, भावाभिव्यक्ति, गायन शैली, अभिनय, लय, मुद्रा

कथक नृत्य में नृत्य के प्रमुख तीन घटक नृत्त, नृत्य तथा नाट्य का समावेशित रूप देखने को मिलता है। आचार्य नन्दिकेश्वर ने नृत्य को परिभाषित करते हुए बताया कि-

''भावाभिनयहीन तु नृत्तमित्याभिधीयते''

अर्थात् अभिनय रहित नर्तन को 'नृत्त' कहते हैं। इसमें केवल हस्त पद संचालन ही होता है। नृत्त के अतिरिक्त नाट्य भी नृत्य का ही अभिन्न अंग है। नाट्य शब्द का अर्थ है- 'अभिनय'। किसी निश्चित पात्र की भूमिका निभाते हुए उसी प्रकार से उसकी वेशभूषा, तौर-तरीके की नकल प्रस्तुत करना ही 'नाट्य' कहलाता है। नृत्त और नाट्य के संयोग से 'नृत्य' का उद्गम होता है। नृत्य में ताल-लय के अनुसार विशुद्ध रूप से अभिनय एवं भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ हस्त पद संचालन भी सम्मिलित है।

आचार्य नन्दिकेश्वर के अनुसार-

''नृत्य गीताभिनयनं भावतालयुक्त भवेत्''

अर्थात् गीत का भाव ताल युक्त अभिनय ही नृत्य है।

भारतीय शास्त्रीय नृत्य के विद्वानों के अनुसार, प्रदर्शन क्रम में सर्वप्रथम नर्तक द्वारा नृत्त फिर नृत्य तथा अन्त में नाट्य की प्रस्तुति की जाती है। सुश्री शोभना नारायण के अनुसार, कथक नृत्य में प्रस्तुतीकरण के विभिन्न चरणों में साहित्य तथा गायन शैलियों का प्रयोग तीन अंगों में देखने को मिलता है, यथा-

(i) नाट्य अंग, जिसके अन्तर्गत कवित्त तथा प्रहेलिका आदि को रखा गया है

(ii) भाव अंग, जिसके अन्तर्गत ही गायन की विभिन्न शैलियों ध्रुपद, धमार, ख्याल आदि को रखा गया है

(iii) जाति अंग - इसमें त्रिवट, चतुरंग, तराना आदि को सम्मिलित किया गया है।

कथक नृत्य के सन्दर्भ में प्रयुक्त प्रमुख गायन शैलियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

1) वन्दना या स्तुति गान :

जिस प्रकार किसी भी नाट्य के पूर्व मंगलाचरण गाने या किसी नृत्य शैली के प्रारम्भ में इष्ट देव की पूजा करने की प्रथा रही है, उसी प्रकार कथक नृत्य में रंगमंच पर आने के पश्चात् नर्तक सर्वप्रथम इष्टदेव पूजन करता है, इसे ही 'स्तुति' कहा गया है। नर्तक या नर्तकी किसी श्लोक या पद के माध्यम से 'इष्ट-पूजन' करते हैं। 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित 'पूर्वरंग' (जो की नाट्य मंचन से पूर्व की क्रिया होती थी) की विधि के समान ही कथक नृत्य के पूर्व 'स्तुति' का स्थान है। मुगल काल में यह क्रिया नर्तक या नर्तकी अपनी आत्म-संतुष्टि के लिए करते थे, यह प्रदर्शन हेतु नहीं होता था। वर्तमान समय में इष्ट देव की स्तुति स्वरूप श्लोक, वन्दना या पदों पर भी नृत्य प्रस्तुतीकरण की परम्परा है।

वन्दना या श्लोक प्रस्तुति के अनुसार विभिन्न देवी-देवताओं यथा गणेश, कृष्ण, दुर्गा, शिव आदि पर आधारित होता है। वन्दना को धीमी लय में गाने व प्रस्तुत करने की परम्परा है। स्तुति में लय एवं ताल का प्रयोग मुख्यतः नहीं होता है। इस भाग में नर्तक एवं गायक के मध्य अभिनय व गायन के संतुलन का प्रदर्शन होता है। मुगल कालीन पृष्ठभूमि पर आधारित प्रस्तुति में कलाकार सलामी के माध्यम से नृत्य की शुरुआत करते हैं। यह दर्शकों से ताल-मेल बिठाने का मुसलमानी अंदाज है। जिस प्रकार स्तुति में संस्कृत का कोई श्लोक या पद गाया जाता है, उसी प्रकार सलामी के साथ गायक शेर या रूबाई आदि गाता है। सलामी में प्रयोग होने वाले साहित्य की भाषा उर्दू या फिर फ़ारसी एवं मिश्र भाषा होती है। इसके अलावा केवल वाद्यों के साथ नर्तक किसी तोड़े या टुकड़े को प्रदर्शित कर रंगमंच तथा दर्शकों का अभिवादन करता है।

2) ध्रुपद गान शैली :

'ध्रुपद या ध्रुवपद' शब्द की रचना दो शब्दों के मेल से हुई है- 'ध्रुव' तथा 'पद'। इसमें 'ध्रुव' शब्द का अर्थ है- 'स्थिर' तथा 'पद' का तात्पर्य गीत के चरण या पंक्ति से है। ध्रुपद शैली की पृष्ठभूमि भक्तिपरक रही है तथा कथक नृत्य का सम्बन्ध भी धार्मिकता से रहा है, जिसके कारण इसके साथ प्रयोग होने वाली शैली में भी भक्ति रस एवं भाव तारतम्यता विद्यमान रही है। 15वीं शताब्दी में ध्रुपद पर नृत्य किया जाने लगा। मध्य युग में नर्तकों एवं नर्तकियों ने कीर्तन व ध्रुपद पर नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया। प्राचीन काल में उत्तर भारतीय मंदिरों में ध्रुपद पर आधारित कथक नृत्य प्रस्तुत किये जाते थे अतः उसे 'ध्रुपद नृत्य' कहते थे। इसमें संस्कृत के श्लोकों को गाकर भगवान की आराधना की जाती थी और उनको भाव नृत्य के द्वारा प्रदर्शित किया जाता था।[1] यह गायन शैली अपेक्षाकृत गम्भीर है, अतः ध्रुपद की बंदिशें दरबारी, भैरव आदि गम्भीर प्रकृति के रागों में रचित होते हैं। ध्रुपद के साथ पखावज पर चारताल, सूल ताल आदि तालों की संगति की जाती है।

3) धमार :

इस गायन शैली का प्रचार-प्रसार मध्यकाल में हुआ। यह शैली ध्रुपद गायन शैली के समकक्ष है। धमार गायन शैली में होली विषय से सम्बन्धित होते है। यह लगभग सभी रागों में पखावज धमार ताल के साथ गाया जाता है। कथक नृत्य में राधा कृष्ण की होली को प्रस्तुत करने का प्रचलन सदैव ही रहा है तथा धमार शैली का विषय होली होने के कारण इस शैली को कथक नृत्य के लिए उपयुक्त माना गया। धमार के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित है। इनकी रचना तथा अविष्कार 'अष्टछाप' के कवियों द्वारा मानी गयी है। धमार की कुछ ऐसी बन्दिशें भी देखने को मिलती है जिनमें तत्कालीन बादशाह या राजाओं के नाम उल्लेखित होते थें। धमार ताल एवं गायन शैली दोनों ही है तथा इन पर 'कथक' नृत्य किये जाने का प्रचलन भी खूब है।

4) ख्याल :

'ख्याल' एक फारसी शब्द है जिसका अर्थ है- कल्पना। उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में ख्याल गायन शैली को प्रमुख स्थान प्राप्त है। ख्याल को विभिन्न लयों में गाया जाता है एवं उन पर नृत्य भी किया जाता है। ख्याल के दो प्रकार हैं जो गायन में प्रयुक्त होते हैं- विलम्बित ख्याल एवं द्रुत ख्याल या छोटा ख्याल, जबकि कथक नृत्य में केवल छोटा ख्याल ही प्रयोग होता है।

ख्याल गायन शैली का जन्म मुगल काल में हुआ तथा नृत्य पर भी इस शैली का प्रभाव पड़ा। ख्याल की बंदिशे लगभग सभी विषयों पर आधारित होती हैं, यथा- संयोग-वियोग श्रृंगार, भक्ति परक, ऋतु सम्बन्धी आदि। छोटा ख्याल को किसी भी राग एवं ख्याल में प्रयुक्त होने वाले तालों में गाया-बजाया जा सकता है तथा इसके वर्ण्य-विषय में स्वच्छन्दता के कारण नर्तक को अपनी इच्छानुसार राग ताल एवं बन्दिश चुनकर उस पर नृत्य करने में सुविधा होती है। छोटा ख्याल की रचना तीनताल, एक ताल, झप ताल, अद्धा ताल, आड़ा ताल आदि तालों एवं समस्त रागों में पायी जाती है। इनकी रचना ब्रज, अवधी आदि भाषाओं में होती है।

5) ठुमरी :

कुछ विद्वानों के अनुसार ठुमरी 'ठुम' और 'री' इन दो शब्दों के योग से बना है। 'ठुम' शब्द ठुमकत चाल' अर्थात् राधा जी की चाल और 'री' शब्द 'रिझावत' अर्थात् भगवान श्री कृष्ण के मन को रिझाने की ओर इंगित करता है। अतः ठुमरी शब्द में राधा के ठुमक कर चलते हुए कृष्ण के मन को रिझाने की अभिव्यंजना है।[2] कथक नृत्य में भावाभिव्यंजन हेतु प्रयोग की जाने वाली समस्त गायन शैलियों में ठुमरी विधा को सर्वोपरि तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण शैली की संज्ञा दी जा सकती है।

अवध के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह के शासन काल के दौरान ही नृत्य गीत 'ठुमरी' का प्रयोग विशेषकर प्रारम्भ हुआ तथा चलन में आया। ठुमरी के पदों तथा कथक नृत्य दोनों का वर्ण्य-विषय भगवान श्री कृष्ण तथा रास से सम्बन्धित होने के कारण ठुमरी तथा कथक नृत्य का समन्वयन स्वाभाविक है। ठुमरी मुख्यतः एक नृत्य गीत ही है जो कि विकास के क्रम में तथ्य से अलग होकर गायन विधा के रूप में परिणत हुई। ठुमरी एक अत्यन्त कलात्मक विधा है, जिसमें रागों का विशुद्ध प्रयोग नहीं होता बल्कि नाट्य में रसोत्पादन तथा भावाभिव्यंजन को ध्यान में रखते हुए रागों का मिश्रण बड़ी कुशलता से किया जाता है। कथक नृत्य में एक ही शब्द या वाक्य के अर्थ को विभिन्न मुद्राओं या अंगाभिनय द्वारा प्रस्तुत करने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। ठुमरी गायकी में भी शब्दों के समूहों को विभिन्न प्रकार से गाकर प्रस्तुत किया जाता है। इन दोनों के समावेश से ही कथक नृत्य में भाव बताने की प्रथा प्रारम्भ हुई होगी।[3]

कथक नृत्य के साथ गायी जाने वाली ठुमरियों में मुख्यतः मिश्र भैरवी, पीलू, काफी, मिश्र गारा, मिश्र देस आदि रागों का प्रयोग मध्य अथवा द्रुत लय में की जाती है। विलम्बित लय की ठुमरियाँ दीपचन्दी तथा जत्त ताल में निबद्ध होती हैं तथा मध्य अथवा द्रुत लय की ठुमरियों के साथ तीन ताल, अद्धा, पंजाबी, आड़ा चारताल आदि तालों का प्रयोग किया जाता है।

6) दादरा :

यह गायन शैली लोक संगीत से प्रभावित है। दादरा एक गायन शैली होने के साथ ही एक ताल भी है। यह लयकारी प्रधान गीत शैली है। इस शैली में मुख्य रूप से श्रृंगार रस की प्रधानता होती है। दादरा तथा ठुमरी में मुख्य अन्तर 'लय तत्व' का ही माना जाता है, जबकि दोनों ही शैलियों में स्वरोच्चारण

तथा काव्य में निहित भावों में समानता ही दिखाई पड़ती है। दादरा गायन शैली के साथ दादरा ताल अथवा कहरवा ताल का प्रयोग देखने को मिलता है। कथक नृत्य के साथ प्रयुक्त दादरा रचनाएँ मुख्यतः मध्य लय में होती हैं। दादरा के बीच में सौन्दर्य को बढ़ाने की दृष्टि से शेर या पद आदि का प्रयोग भी किया जाता है।

7) ऋतु कालीन गीत :

कथक नृत्य के साथ प्रयोग में आने वाली गायन विधाओं में 'होरी' अथवा 'होली', 'कजरी', 'चैती', 'बारहमासा' आदि ऋतुकालीन गीतों पर भी प्रस्तुतियाँ देखने को मिलती है। राधा-कृष्ण, गोप-गोपियों तथा ब्रज की होरी जैसे वर्ण्य विषय पर आधारित 'होरी' पर 'कथक' नृत्य खूब देखने को मिलता है। कजरी नामक गीत विधा में सावन ऋतु का मनोहारी वर्णन देखने को मिलता है। इसी प्रकार कुछ अन्य गायन विधाएँ जैसे-चैती, झूला, फगुनी इत्यादि गीतों का प्रयोग भी 'कथक' नृत्य के साथ किया जाता हैं। इन गीतों की रचना काफी, खमाज, देस आदि मिश्र रागों तथा लोकधुनों पर आधारित होती है। इन गीतों के साथ दादरा, कहरवा, दीपचन्दी इत्यादि तालों की संगति की जाती है।

8) भजन :

ईश्वर की भक्ति भाव से भरपूर पद या रचनाएँ 'भजन' कहलाते हैं। भजन के नृत्य के साथ वृहद् प्रयोग का कारण इनकी सरल एवं सार्थक शब्द रचना है जो कि नृत्य में भावाभिव्यक्ति को सुगम बनाती है। इस रचना में कई अन्तरे होते हैं। भजन मुख्यतः दादरा, कहरवा, रूपक, अद्धा आदि तालों में निबद्ध मिलते हैं। इनमें राग की शुद्धता महत्वपूर्ण नहीं होती अपितु भाव को मुख्य स्थान प्राप्त होता है। इनका वर्ण्य-विषय भगवान श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन, श्रीराम, शिव, अन्य देवी-देवताओं के रूप, गुण एवं महिमा का बखान, भक्त की भगवान के प्रति आस्था तथा निर्गुण शाखा पर भी आधारित होता है। 'कथक' नृत्य में भजन गायन शैली के माध्यम से भावाभिव्यंजना का प्रचलन रहा है।

9) ग़ज़ल :

कथक नृत्य की भाव प्रस्तुति में ग़ज़ल रचनाएँ खूब प्रयोग में लायी जाती हैं। ग़ज़लों की भाषा अधिकांशतः उर्दू या फारसी या मिश्र भाषा होती है। इनकी शब्द रचना बहुत ही मनोहर तथा हृदय स्पर्शी होती है। ग़ज़ल शैली क्योंकि थोड़ी नफासत और ग़मगीन गायकी का प्रतिनिधित्व करती है। अतः ग़ज़ले रात्रिकालीन रागों जैसे पूर्वी, मारवा, यमन, रागेश्री, बिहाग, किरवानी, बहार, केदार आदि में अधिक सुनने को मिलती है।[4] ग़ज़ले मुख्यतः पाश्तो, रूपक, दीपचन्दी आदि तालों में गायी जाती है। नर्तकों द्वारा मुग़ल कालीन पृष्ठभूमि पर आधारित नृत्य-नाटिकाओं में भाव प्रस्तुति हेतु ग़ज़लों का प्रयोग विशेषतः किया जाता है। संगीत का ज्ञाता होने के साथ ही भाषा के जानकार व्यक्ति द्वारा गाया गया ग़ज़ल अत्यधिक प्रभावशाली होता है।

10) त्रिवट तथा चतुरंग :

जब तराने में तबला, पखावज अथवा मृदंग के बोलों को गायन के आधार पर स्वरबद्ध तरीके से प्रस्तुत करते है तो उसे त्रिवट की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार 'पद', 'सरगम', 'तराना' तथा 'तबले एवं पखावज के बोल' इन चार अंगों से बनी गेय रचनाओं को 'चतुरंग' कहते हैं। इन्हें 'ख्याल' के समान ही गाया जाता है। प्राचीन समय में ये दोनो ही गेय विधाये 'कथक' नृत्य साथ प्रयोग में लायी जाती थी, किन्तु अब इन रचनाओं पर नृत्य का प्रचलन कम हो गया है।

11) तराना :

अधिकतर तीन ताल, एक ताल आदि में निबद्ध 'तराना' गायन शैली में निरर्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इनमें तन, ना, दिर, नोन, यलली इत्यादि अर्थहीन शब्दों के अतिरिक्त तबले या पखावज के बोलों का भी प्रयोग प्रायः देखने को मिलता है। ये

ख्याल के समान ही सभी रागों में गाये जाते हैं। प्रायः ये रचनाएँ मध्य तथा द्रुत लय में पायी जाती हैं। यह गायन शैली 'कथक' नृत्य में ताल प्रधान नृत्य की प्रस्तुतीकरण हेतु उपयुक्त शैली मानी जाती है।

निष्कर्ष :

कथक नृत्य के साथ प्रयुक्त विभिन्न गायन शैलियों के विषय में चर्चा करते हुए हम पाते हैं कि प्राचीन काल से ही अनेक गान विधाओं जिसमें प्रबन्ध पर 'कथक' नृत्य का प्रारम्भ हुआ, से लेकर वर्तमान तक विभिन्न गायन शैलियों पर नृत्य किया जाता रहा है। 'भाव प्रधान' नृत्य 'कथक' में अनेक प्रकार की शास्त्रीय तथा उपशास्त्रीय गायन शैलियाँ यथा-ध्रुपद, धमार, ठुमरी, ख्याल, भजन आदि समाहित हैं। शास्त्रीय नृत्य शैली कथक की उत्पत्ति तथा कालक्रम में हुए विकास में विविध गायन शैलियों का प्रभाव उस पर पड़ा। वर्तमान काल में संगीत एवं नृत्य में नित्य नवीन प्रयोग हो रहे हैं। गायन शैलियों की बनावट, स्वरों के लगाव, राग व ताल के स्वरूप इत्यादि में अनेक परिवर्तन देखने को मिलते हैं, जिनका प्रभाव 'कथक' नृत्य पर भी देखने को मिल सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. गर्ग, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण, कथक नृत्य (बारहवाँ संस्करण), जनवरी, 2021, संगीत कार्यालय, हाथरस-204101 (उ॰ प्र॰), पृ॰ 494-495
2. शर्मा, प्रो॰ स्वतंत्र, भारतीय संगीत : एक ऐतिहासिक विश्लेषण, द्वितीय संस्करणः 2014, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ॰-385
3. छायानट, कथक विशेषांक, अंक 140-141 (संयुक्तांक), उत्तर प्रदेश, संगीत नाटक अकादमी, लेखः डॉ॰ वन्दना चौबे, पृ॰-09
4. त्रिवेदी, डॉ॰ आम्रपाली, कथक नृत्य शैली में प्रयुक्त गायन की विभिन्न विधाएँ (प्रथम संस्करण : 2015), नैतिक प्रकाशन, साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ॰प्र॰), पृ॰ 56-57, 145

थाती

Culture of Punjab : Music, Dance, Fairs and Festivals

Dr. Harjinder Kaur Sandhu
Assistant Professor
Khalsa College of Education Ranjit Avenue, Amritsar (Punjab)

Abstract

Punjab, the centre of India, is such a state where you can find a perfect mixture and varieties of traditions and cultures.The culture of Punjab is indisputable and well-known around the world. Different cultures of Punjab have been marked and very well distinguished by different ages like the middle age and modern era.Another important aspect about the culture of Punjab is that it influences all the Punjabi people across the world. Even if some Punjabis are not staying in Punjab even then they are highly driven by the strong cultural side of Punjab.This article exclusively deals with cultural aspects such as Music, Dance, Fairs and Festivals of Punjab.

Keywords

Culture, Music, Dance, Fairs and Festivals.

Introduction :

The culture of Punjab is famous and one of the oldest in the world. While the people of Punjab are known for their valour, philosophy, poetry, high-spiritedness and determination, their culture is multi-coloured. The idea of treating guests as gods is well-known among the natives and can be seen in the way huge langars are prepared to serve the community at the famous Sikh temple, Golden Temple. Celebrates many festivals like Dussehra, Baisakhi, Karva Chauth, Basant Panchami, Gurpurab, Teeyan, Tikka, Jor Mela and many more. The state of Punjab is a famous tourist destination in India because of its vibrant culture, festive-vibe, finger-licking food, and rich history. Foreigners and tourists who visit India come to discover the cultural vibrancy of Punjab, which can be seen in its music, dance, food, and pompous wedding celebrations.

Music of Punjab :

The first thing that comes to our mind when we hear about the culture of Punjab is the famous music of Punjab. The music in Punjab is different from rest of the world. There is a different essence in the music of Punjab. Whenever you hear Punjabi songs, you feel strongly connected to Punjabi culture and their traditions. Since Punjab is divided into East Punjab and West Punjab the music in both the sides of Punjab is also different from each other. Let us discuss the types of music available in Punjabi culture.

Devotional Music :

Music is a medium through which you can connect with God. This is a strong belief of Indian religion. It is believed that if you want to connect yourself to God then you must learn the art of music. The songs which are written and sung and dedicated to God are known as devotional music. The same culture persists in Punjab. Through devotional songs Punjab is feel that they are very well connected to God.

- **Sufi Music :** This is one of the most popular forms of devotional music in Punjab. This genre of song was inherited from the famous Sufi Poems. Different famous Sufi poems have been sung in the form of Sufi songs. Some of the famous Sufi poets whose compositions are sung till date are Rumi, Khwaja Ghulam Farid, Hafiz and many more. Harshdeep Kaur is one of the new yet very successful Sufi singers of Punjab. Qaawali is a famous type of Sufi music. This type of music is common in India and Pakistan.
- **Sikh Music:** This is also a common type of devotional music of the Punjabis. The singing of the sacred hymns from the main text book of the Sikhs, Guru Granth Sahib is known as Sikh music. Through these music different life stories of Guru Nanak Ji is explained. The local Punjabi people also mention this as kirtan.
- **Hindu Music :** This form of music is nearly common in each and every corner of India. This song refers to songs that are sung for Hindu culture and religion. This is mostly known as Bhajans. There are separate Bhajans dedicated to all the Hindu Gods. For a particular God there is a particular Bhajan and so on. This is also popular in Punjabi culture. Bhajans are a common type of devotional Punjabi music.

Classical Music of Punjab :

This is also a huge part of Punjabi music culture. Classical music is popular in nearly every state. They are generally separated in different types of classical music through some gharanas. In Punjabi culture there are two types of classical music. The two gharanas are Patiala Gharana and Sham Chaurasia Gharana.

Folk Music :

Punjab has a rich store of folk music. The folk music is the music of body and soul and its charm consists solely in the rhythm It is emotional and sweet. Punjab's folk music deals with sentiments of love-lorn men and women, cruelty of mothers-in-law, cross relationship (Devar-Bhabhi, Nanad-Bhabhi) Jokes, satires and natural beauty. Songs related with different themes depict folk music of Punjab.

- **Songs of the spinning wheel :** Charkha, the spinning wheel had been a constant companion of the fair and theme of their songs. Trinjan, the colourful feminine meet at the spinning wheel was the centre of their love songs sung in the sweet memory of their Mahis (husbands).

- **Songs depicting a sister's love for brother :** A sister's love for her brother is a typical theme of the folk songs in Punjab. Such songs have been there since long.
- **Love songs :** Love songs related with popular folk tales were sung. The important folk songs were related with Heer-Ranjha, Sohni-Mahiwal, Sassi-Punnu, Puran and Mirza-Sahiban.
- **Songs of Chivalry :** These songs were generally related with the battle fields and the bravery. Guru Hargobind, the sixth Guru, started Dadh singing to infuse enthusiasm among the Sikhs.
- **Instruments :** Few of the musical instruments that are used along the songs of Punjabi folk music are Dhol, Dhadd, Chimta, Tumbi, Sarangi, Gagar or Algoze.These instruments are very rhythmic and hence enhance the folk musicto a different level.

Punjabi Songs :

Music and songs are the inevitable part cultural representation and network of society. Same in the case of Punjab and Punjabi music. Punjabi songs since decades are representation of Punjabi culture, Punjabi heritage, and celebration and with new generation songs since last two decade it also explicit signifier of fun. It is a mirror of the Punjabi lifestyle.Lyrics – The words in the song, gives meaning to the song. The lyrics are the mirror of the feeling and lifestyle the song want to portray. The songs of particular community or region reflects there thinking and their life style. Since years, Punjabi music has given as the treasure of songs depicting and reflecting the folklore, tradition and rich culture of Punjab and Punjabi heritage. People around the world have been dancing and enjoying on these numbers along with melodious heart throbbing dhol beats. People all around the globe grooved over these songs since generations. There are different singers who sing Punjabi songs and have made a huge change in the Punjabi culture.

Folk Dances of Punjab :

Music, singing and dancing were all amusements much enjoyed by the people, in particular at the fairs. Like folk songs, the folk dances are also an outburst of emotions. Punjabi folk dance is the bodily culmination of man's inner happiness. As the water sprouting from a spring or a fountain paves its way, in the same way the inner happiness of human beings makes them dance.

- **Bhangra :** Traditionally, this dance was associated with the harvesting season and associated with agriculturist class. Starting with slow drum beats with which the dancers keep time, the tempo rises suddenly, the drum beats faster and louder, and the dancers go wheeling round.
- **Tecan and Bagi :** When the married girls came to their paternal villages in the month of Sawan, they celebrated the occasion through dance and music.
- **Giddha :** This folk dance was confined to the women. When the men folk accompanied the barat (marriage procession) to the house of the bride, the ladies of the village

danced in joy to celebrate the occasion which was popularly known as giddha. The giddha caught momentum singing stanzas popularly known as bolian.

- **Jhumer :** It was a dance of ecstasy, a loving response to nature's caresses. This type of dance form originated from Sandalbar area of Punjab. The main style of this dance form is slowly swaying one's hands and body in the rhythm of the music. This dance form is especially performed in weddings. During weddings the three generation of a family- father, son and grandson performs this dance. Exclusive styled for male dancer Jhumar is a gorgeous form of Punjabi dance.
- **Kikli :** his is also a famous form of folk dance in Punjab exclusively for women. A wide variety of songs along with clapping is used as the main rhythm for this dance. The main attraction of this dance is that the dancers need to focus on their act. It is a beautiful piece of dance form of Punjab.
- **Gatka :** This is a special type of dance form where swords as a dance prop. This type of dance form is exclusively designed for male dancers. There is a special training that male dancers must undergo in order to perform this dace form.

Fairs and Festivals in Punjab :

Punjab is a colorful state. It participates in almost every festival that take place in the entire country. There are different fairs that take place throughout the year in Punjab. The people of Punjab welcome all the religions by enthusias-tically participating in their respective festivals. Apart from all these festivals Punjab has some festivals that are exclusively celebrated in Punjabi style. Punjabi festivals are so colorful that you will a different enthusiasm while participating in any of these festivals. All the festivals in Punjab are celebrated in pomp and grandeur.Festivals of all religions are celebrated in Punjab.Someof the famous festivals and fairs of Punjab are mentioned here.

Fairs :

The fairs were a prominent feature of the social life of the people of the Punjab. Everybody, young and old, father, mother and children participated in them.The people enjoyed many fairs which took place periodically in various parts of the land of the Five Rivers. In the fairs, the conduct of the people was admirable. Keenes writes, "Few things perhaps show better the good behaviour - one may almost say the good breeding of the ordinary native than the sight of a crowd of villagers going to or returning from a fair in Upper India. The stalwart young farmers are accompanied by their wives; each woman in her coloured wimple, with her shapely arms covered nearly to the elbow with cheap glass armlets.The principal Sikh fairs in the Punjab were Diwali and Baisakhi at Amritsar. Two large fairs were held at Tarn Taran. Religious fairs were also held at Goindwal, Khadur, Dera Baba Nanak and at other places.

The fairs of Punjab are linked with culture and reflected the various phases of its life. Fairs of the Punjab may be divided into four types :

- **Seasonal Fairs :** Basant Panchami was the most famous of the seasonal fairs.It heralds the advent of spring. Before partition the main fair was held at the samadhi of Haqiqat Rai. Kite flying was organised on this occasion. Baishakhi fair was celebrated at the advent of summer and at the time of harvest gathering. Punjab's famous bhangra and gidda are inextricably linked with it.
- **Mystical fairs :** Many fairs in the Punjab were held near thetombs and shrines of pirs. People believed in the mystical powers ofthe pirs and sought their blessings. Some rituals were observed on thatday. Parsad was prepared and distributed. The most famous mysticalfairs were Chhappar fair, the Jaraq fair and the Roshni fair.
- **Fairs held in honour of Sikh Gurus:** The Punjab, the land of Sikh Gurus, held fairs in the honour of its Gurus. The important amongsuch fairs were Jorh Mela of Fathegarh Sahib, Masya fair of Tarn Taranand Maghi fair of Muktsar.
- **Fairs connected with Festivals :** Every festival related to fair. On Diwali fair at Amritsar, on Holi at Anandpur Sahib, on Baishakhi at Anandpur Sahib and on Maghi the fair took place at Muktsar.

Festivals :

The land of Punjab has a rich cultural history of celebrating various festivals and fairs with grandeurand enthusiasm. The festivals of Punjab are famous for their vibrancy and colour.Festivals constituted a special feature in the cultural life of the Punjab, the main festivals of the Punjab were as under :

- **Baishakhi :** This festival was celebrated on the first day of the month of Baishakh (April). Farmers have cash in their hands and hence they are in a full mood and spirit of celebration. The main reason behind celebrating this festival is that farmers want to thank their Sikh Guru for the harvest of the season.
- **Basant Panchami :** It is a Hindu festival celebrated with great enthusiasm all over the country, especially in Punjab. The main festival of Punjab, this colorful festival marks the beginning of spring in India. The day of the festival is said to be extremely auspicious and Goddess Saraswati is worshiped on that day. Basant Panchami is also considered auspicious for getting married, buying a house, or starting something new.
- **Nirjala Ekadashi :** It was celebrated on theeleventh day of thebright half of Jeth (May, June). Chhabils were put up.
- **Teeyan :** Teeyan, a women's dance festival, is a festival celebrated to welcome the arrival of the monsoon (July-August). Young Indian women

wear bright and colorful clothes, perform folk dances, and ride on swings tied to trees for the Teej festival in Punjab. The songs accompanying these Teej dances show that women do not hesitate to sacrifice their lives for their lovers and pray after the dance for the well-being of their spouses.

- **Raksha Bandhan :** Rakhi festival was celebrated in Bhadon(August-September) on the day of full moon. Raksha bandhan is also called Rakhi, Rakhri, and Raksha Purnima. In various historic Sikh texts, the festival is mentioned as Rakhardi or Rakhari. It is celebrated as Rakhrhya which is the Punjabi name of the festival of Raksha Bandhan.
- **Gugga Naumi :** Gugga Naumi is an important religious festival celebrated in Bhadon (August- September) in parts of Himachal (especially the Una district), Punjab and Rajasthan. It is observed on the 9th day of the Krishna Paksha (waning phase of moon) in Bhadrapad month. Gugga Naumi is normally celebrated at a traditional time in North India known as "the 9th Bhadon", which falls between August and September each year.
- **Dussehra :** This festival was celebrated in big way. It cameafter nine Navratras in the month of Assu or Kartik (October-November).
- **Diwali :** The most famous festival of both the Hindus and the Sikhs was celebrated on the dark day (amavasya) of Kartik. Although this festival is not a part of Punjabi religion yet Punjab celebrates Diwali. Since the time when Guru Hargobind was released from his captivation in Amritsar Diwali is celebrated by the Punjabis. In the present-day Diwali is celebrated just as any other state celebrates Diwali. Every house is decorated with lights and colors. Fire crackers are an important part of this celebration.
- **Lohri :** It was celebrated on the last day of Poh (December-January). Lohri is a famous festival of North India, Punjab and Haryana. It is celebrated a day before Makar Sankranti. Generally, on the night of this festival, the family and the people of the neighbourhood sit together in an open place by lighting a fire and make a circle around it and celebrate the festival of Lohri by eating rewdi, peanuts, lava etc. This festival usually falls on 12 or 13 January every year. This is mainly a festival of Punjab.
- **Maghi :** Next day of the Lohri was the day of Maghi festival in Punjab.
- **Holi :** This festival was celebrated on the full moon day of Phagun (Feb.-March). Next day of Holi, Holla Mohalla was celebrated by theSikhs at Anandpur Sahib.
- **Holla Mohalla :** Hola Mohalla is the fair organized from the next day of Holi in Sri Anandpur Sahib, the holy shrine of Sikhs. Hola Mohalla is very important for Sikhs. In Punjab, Holi is celebrated as a symbol of manhood. That is why Dasam Guru Govind Singh ji used the masculine word

Hola Mohalla for Holi. Hola Mohalla festival is organized with great enthusiasm and enthusiasm in the Sikh community. In which every Sikh participates happily.

- **Guruparabs :** Besides these festivals, Guruparabs were celebrated in honour of the Sikh Gurus as festivals. Gurpurab is a matter of spirituality for Sikhs. The Sikh community celebrates the birth anniversaries of highly revered Sikh Gurus. The festival begins in the form of a religious procession with the chanting of sacred hymns. People visit gurudwaras, offer prayers, seek blessings, and enjoy sweet and holy langar on this auspicious Punjabi festival.

Punjab is are a high spirited and liberal people from India who celebrate every event and festival with zest. They are now found in many parts of the world, but their culture is still imbibed in them. They celebrate their festivals across the globe and welcome others to be a part of their culture, making them loved all over the world.

References :

1. http://www.discoveredindia.com/punjab/culture-in-punjab/music-in-punjab/folk-music.htm
2. https://egyankosh.ac.in/bitstream/123456789/38960/1/Unit-3.pdf
3. https://en.wikipedia.org/wiki/Music_of_Punjab
4. https://www.punjabonline.in/about/profile/culture
5. Khurana, S. (2020). Portrayal of violence in punjabi songs and its effect on youth: a study. PJAEE, 17(6).4223-4227.

राजस्थानी कालबेलिया और लोकनृत्य परंपरा

डॉ॰ हर्षा त्रिवेदी
सहायक प्राध्यापिका
विवेकानंद इंस्टीट्यूट ऑफ प्रोफेशनल स्टडीज़-TC, दिल्ली

भारतीय ग्रामीण परिवेश में लोक नृत्य एवं लोक गीत परंपरा प्राचीन है। जिसके माध्यम से क्षेत्रीय लोग अपना मनोरंजन किया करते थे। लोक अर्थात जनसाधारण के मनोरंजन के ऐसे साधन; जो व्यक्ति मात्र की पहुंच में हो और किसी भी विशेष अवसर पर उनका आयोजन किया जा सके। लोकनृत्य परंपरा का उद्भव कब और कहां से हुआ? यह निश्चयपूर्वक कहना तो संभव नहीं है; लेकिन आज की जनजातियों के नृत्य को देखने से यह कहा जा सकता है कि लोकनृत्य संपूर्ण विश्व में किसी ना किसी रूप में आज भी प्रचलन में है जो अपने समाज के विश्वास, अस्मिता और अदम्य इच्छा शक्ति के कारण बचा हुआ है । कहा भी जाता है कि सब कुछ जीत लेने और अंत तक हिम्मत न हारने में कोई फर्क नहीं है। लोक कलाओं की वंशावली में कालबेलिया नृत्य अपने समय और समाज का इक़बालिया बयान है।

राजस्थान के लोकनृत्य की बात की जाए तो इसे हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :

1. **क्षेत्रीय नृत्य :** जिससे किसी क्षेत्र विशेष की पहचान होती है।
2. **जातीय नृत्य :** विशेष जाति समुदाय द्वारा किए जाने वाले नृत्य।
3. **व्यवसायिक नृत्य :** ऐसे नृत्य जिनसे आय प्राप्त होती है और जो व्यवसायिक रूप से प्रचलित हैं।

राजस्थान के क्षेत्रीय नृत्यों में गैर, गीदड़, चंग, कच्छी घोड़ी, ढोल, बम, घुडला आदि को लिया जा सकता है।

जातीय लोक नृत्य में भील, मीणा, गरासिया, बंजारा कालबेलिया आदि विशेष जातियों द्वारा किए जाने वाले गवरी, गैर, चकरी, कालबेलिया आदि नृत्य शामिल हैं।

व्यवसायिक लोक नृत्यों में भवाई, तेरह ताली, कच्छी घोड़ी आदि सम्मिलित है।

कालबेलिया जनजाति एवं नृत्य :

राजस्थान के जनजाति समाज में 6 जनजातियों का स्थान प्रमुख है जिसमें भील, मीणा, गरासिया, डामोर, सहरिया और कथौड़ी जनजाति है। कालबेलिया और बंजारा जनजाति भी राजस्थान में पाई जाती है; लेकिन बहुत कम क्षेत्रफल में होने और घुमंतू होने के कारण इनकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया और न ही इन्हें समाज की मुख्य दिशा धारा में लाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न किया गया। चुकिं लोकनृत्य किसी समाज और समुदाय विशेष के सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश का प्रतिबिंब होते हैं, अतः कालबेलिया नृत्य को समझने से पूर्व का लबेलिया जनजाति का परिचय नितांत आवश्यक है।

कालबेलिया जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है- दो शब्दों 'काल' और 'बेलिया' से मिलकर बना है। 'काल' अर्थात स्वयं महाकाल भगवान शिव और

'बेलिया' अर्थात भगवान शिव का वाहन नंदी बैल। यह समाज नाथ संप्रदाय को मानता है। शिव इनके आराध्य है। इन्हें भोलेनाथ का वंशज माना जाता है। भोलेनाथ का वंशज होने के कारण यह लोग कानों में कुंडल, रुद्राक्ष और भगवे वस्त्र धारण करते हैं; जोकि भगवान शिव के स्वरूप को स्पष्ट करता है; साथ ही सांप को भगवान शिव से अलग रखकर नहीं देखा जा सकता, इसीलिए कालबेलिया जनजाति के लोग सांपों का पालन पोषण करते हैं।

इन्हें 'सपेरा जनजाति' के नाम से भी पुकारा जाता है। कालबेलिया नृत्य की सांस्कृतिक प्रथा के पीछे अनुष्ठान कार्यों और प्रतीकात्मक चरित्र (Symbolic Character) की खोज महत्वपूर्ण बात रही है । पिछले चार दशकों में इस नृत्य शैली के लोकप्रिय होने के पीछे एक मुख्य कारण राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति का 'लोक' नृत्य रूपों को तेजी से बढ़ावा देना भी रहा है। पिछले 40 सालों में राजस्थान में बढ़ते पर्यटन उद्योग ने भी इस कला के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया । राष्ट्रीय दर्शकों के लिए तेजी से एक मार्केटिंग योग्य उत्पाद के रूप में इसे चित्रित किया गया है। राजस्थान के लक्जरी होटल, डेजर्ट सफारी कैंप, या स्थानीय रेस्टोरेंट इत्यादि में इस नृत्य का प्रदर्शन शुरू हुआ। परिणामस्वरूप उन्हें 'पारंपरिक' राजस्थानी प्रदर्शन कलाओं के मुख्य प्रतिनिधियों में से एक के रूप में देखा जाने लगा है।

1980 के दशक से लोक कलाओं में राष्ट्रीय रुचि ने कुछ कालबेलिया परिवारों को अपनी आजीविका स्थानांतरित करने में सक्षम बनाया। गुलाबी सपेरा को अन्य कालबेलिया कलाकारों द्वारा अग्रणी और प्रथम कालबेलिया के रूप में व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है। संगीत नाटक अकादमी के सौजन्य से कालबेलिया महिलायें सन् 1989 से बड़े राष्ट्रीय मंचों पर इस नृत्य का प्रदर्शन करने लगी थीं । सन् 1985 में संयुक्त राज्य अमेरिका में गुलाबी सपेरा के पहले प्रदर्शन के बाद कई कलाकारों, संगीतकारों, नर्तकियों को वैश्विक स्तर पर मौका मिलने लगा।

सन् 2003 में, कालबेलिया जनजाति ने सरकार से उनके नृत्य को दर्जा देने का अनुरोध किया। इसके पीछे समुदाय की आर्थिक स्थिति को बढ़ाने एवं अपनी 'विशिष्टपहचान' को बनाए रखने की मंशा थी। जयपुर में कालबेलिया नृत्य विद्यालय की शुरुआत ने स्थिति को अधिक मज़बूत किया। गणतंत्र दिवस परेड में भी इन्हें शामिल होने का मौका मिला है।

सापों को कालबेलिया जनजाति के लोग अपनी बीन पर नचाने में सिद्ध हस्त हैं। यह जनजाति अधिकांशतः राजस्थान के अजमेर, चित्तौड़, उदयपुर, जयपुर और जोधपुर आदि जिलों में पाई जाती है। लेकिन इनकी सबसे अधिक आबादी पाली जिले में है। इन्हें अनुसूचित जनजाति का दर्जा प्राप्त है। इस जनजाति के लोग सामान्यतः अन्य समाजों से कटे हुए रहते हैं और अस्थाई रूप से डेरा डालकर या तंबू बांधकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर निवास करते हैं। अलग-अलग स्थान पर रहने के कारण इन्हें विभिन्न प्रकार की वनस्पति और वहां के जीव जंतुओं की विशेष जानकारी रहती है और इसी जानकारी के कारण यह कई तरह के आयुर्वेदिक उपचार में भी सिद्धहस्त हैं; जोकि इनकी आमदनी में मदद करता है; साथ ही शिव भक्त सांपों में इनकी विशेष आस्था है और सांप हत्या इनकी जाति में पूर्ण रूप से निषेध है। सामान्यतः यह लोग एक बेंत से बनी टोकरी में सांप अधिकांशतः नाग को बंदकर घर-घर लेकर घूमते हैं और भीख मांगकर अपनी आजीविका चलाते हैं। अगर गांव में किसी के घर सांप या नाग निकलता है; तो उसे पकड़ने हेतु भी इन्हें बुलाया जाता है। यह लोग बिना सांप को मारे उसे पकड़कर ले जाते हैं। इनका मुख्य व्यवसाय सांपों को पकड़ना, सर्पदंश का इलाज, सांप का जहर निकालना और सांप के जहर का व्यापार करना है। सन् 1972 के वन्यजीव संरक्षण अधिनियम के अस्तित्व में आने के बाद से यह जनजाति अपने सांप पकड़ने और उसका जहर निकालकर बेचने के पारंपरिक पेशे से दूर हो गई है।

कालबेलिया नृत्य :

कालबेलिया नृत्य राजस्थान का लोकनृत्य है; जो संपूर्ण विश्व में अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। यह नृत्य कालबेलिया जनजाति द्वारा किया जाता है। कालबेलिया जनजाति द्वारा किए जाने वाले नृत्यों को मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. **पणिहारी :**

यह नृत्य भीख मांगते समय किया जाने वाला नृत्य है; जोकि विशेषकर महिलाओं द्वारा किया जाता है। 'पणिहारी' शब्द से तात्पर्य है- 'कुएँ पर पानी लेने जाने वाली महिलाएँ'; जो अपने सिर पर एक या कई मटके एक साथ रखकर कुएं से पानी भरकर लाती है। इसी पर राजस्थान का पणिहारी गीत प्रचलित है। और इसी गीत पर कालबेलिया जाति की महिलाओं द्वारा पणिहारी नृत्य किया जाता है। इस नृत्य में प्रमुख रूप से बांसुरी और ढोलक का प्रयोग किया जाता है। कालबेलिया महिलाएं अपने सर पर कई सारे मटके एक साथ रखकर यह नृत्य करती हैं।

2. **इंडोणी :**

घड़े और सिर के बीच रखी जाने वाली कपड़े की बनी गोलाकार वस्तु को 'इंडोणी' कहा जाता है। उसी के नाम पर इस नृत्य का नाम है। पुंगी, खंजरी आदि वाद्ययंत्रों के प्रयोग के साथ गोलाकार घूमते हुए यह नृत्य किया जाता है। नृत्य करने वाले नर्तक अपनी विभिन्न भावभंगिमाओं के माध्यम से कामुकता का प्रदर्शन करते हैं; साथ ही इसी तरह के कलात्मक कपड़े पहनते हैं।

3. **बागड़िया :**

यह नृत्य भीख मांगते समय किया जाने वाला नृत्य है। कालबेलिया द्वारा घर-घर जाकर पुंगी या बीन के माध्यम से सांपों को नचाकर भीख मांगते समय यह नृत्य किया जाता है। यह केवल स्त्रियों के द्वारा किया जाने वाला नृत्य है और इसका प्रमुख वाद्ययंत्र 'चंग' होता है।

4. **शंकरिया :**

यह प्रेम आधारित नृत्य है; जो जोड़े में या युगल रूप से किया जाता है। युगल नृत्य होने के कारण इसमें अद्भुत अंग संचालन देखने को मिलता है।

कालबेलिया नृत्य सभी राजस्थानी नृत्यों में सबसे कामुक नृत्य की श्रेणी में माना जाता है; क्योंकि इसमें सांप की तरह शरीर को लचकदार तरीके से घुमा-घुमाकर नृत्य की भावभंगिमाएं बनाई जाती हैं। यह नृत्य मुख्यतः महिलाओं द्वारा किया जाता है। पुरुष इसमें विभिन्न प्रकार के पारंपरिक वाद्ययंत्र बजाने का कार्य करते हैं। यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होने वाला एक लोकनृत्य है। जब यह सभी वाद्ययंत्र एकसाथ बजते हैं तब एक प्रकार के अद्भुत संगीत का संचार करते हैं। बचपन से सांपों के साथ रहने, उन्हें पकड़ने और उनका जहर निकालने के कार्य के कारण कालबेलिया नृत्य की अधिकांश भावभंगिमाएं भी सांपों की तरह ही हैं। जिस तरह एक नागिन लोचदार तरीके से चलती है। उसी प्रकार कालबेलिया जाति की महिला नर्तकी नागिन की तरह ही भावभंगिमाएं करते हुए लोचदार नृत्य करती हैं। इसलिए इस नृत्य को 'सपेरानृत्य' भी कहा जाता है। इस नृत्य के गीत अधिकांशतः पौराणिक चरित्रों या कहानियों पर आधारित होते हैं। कालबेलिया लोग गीतों की रचना और नृत्य के अनुसार इन गीतों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने में माहिर होते हैं।

इनके गीतों में हलेरिया, दूल्हा आरती, गीत चंदन, पर्वगीत, जलवायु गीत, पाशगीत प्रेम गीत, काल गीत एवं गाथा गीत प्रमुख है । 'काल्योकूदपड़यो' नामक प्रसिद्ध गीत वैसे तो नागपंचमी को गाया जाता था लेकिन इसकी अपार लोकप्रियता की वजह से अब ये गीत हर उत्सव में गाया जाने लगा है। वैसे पौराणिक चरित्रों में भगवान शिव, भोमिया (जैनदेवता),

भर्तृहरि, गोपीचन्द, प्रेमी निहालदे, सुल्तान इत्यादि की चर्चा होती है।

कालबेलिया नृत्य के प्रमुख वाद्ययंत्र :

इस नृत्य का प्रमुख पारंपरिक वाद्ययंत्र है 'पुंगी' (बीन), जोकि लकड़ी से बना होता है। इसका उपयोग सांप पकड़ने हेतु इस जनजाति द्वारा किया जाता रहा है; साथ ही कुछ अन्य वाद्ययंत्र जैसे ढोलक, खंजरी, मोरचंग, मुरलिया आदि भी उपयोग में लिए जाते हैं।

कालबेलिया पोशाक :

नृत्य के समय एक पारंपरिक पोशाक पहनी जाती है। ऊपरी शरीर पर यह महिलाएं अचकन पहनती है; जिसे अंग रखा भी कहा जाता है। सर पर ओढ़नी, निचले शरीर पर यह एक लंबा और घेरदार लहंगा पहनती है। जिस पर काले एलाल और अधिकतर चटकीले रंगों का प्रयोग होता है। इन पर लाल, सफेद, धब्बेदार या धारीदार चाँदी या चमकीले तारों से कढ़ाई की हुई होती है। इनकी पोशाक पर कई बार कांच का काम भी देखने को मिल जाता है।

कालबेलिया आभूषण :

कालबेलिया नृत्य के समय महिलाओं द्वारा कुछ विशेष आभूषण और पारंपरिक गहने भी पहने जाते हैं। इनके अधिकतर आभूषण चांदी से बने होते हैं। जिसमें कानों में बड़े-बड़े झुमके तथा ऊपर की ओर कई बालियां पहनी जाती है। साथ ही बोरला और नाक में बड़ी नथ, गले में कंठ, हंसली, हाथों में सफेद चूड़े के बीच में चांदी के कुछ कड़े, हथफूल, कमरबंद और पैरों में मोटे चांदी से बने हुए कड़े होते हैं। इनके अधिकांश आभूषण बहुत भारी होते हैं। गले में पहने जाने वाली हंसली करीब एक किलो चांदी से बनाई जाती है; जो बीच से मोटी और किनारों से थोड़ी पतली होती है। कानों में पहनने वाले झुमके भी काफी वजनी होते हैं।

कालबेलिया नर्तक और गोदना :

गोदना अर्थात आज के समय में जिसे 'टैटू' के नाम से जाना जाता है। गोदने की परंपरा विश्वभर में प्रचलित है। बूढ़े, बच्चे, जवान या किसी उम्र से इसका कोई लेना देना नहीं है। कई लोग परंपरा के चलते गोदना गोदवाते हैं तो कुछ लोग किसी विशेष त्योहार के अवसर पर। कुछ प्रजातियों में यह श्रृंगार के रूप में प्रचलित है; तो आज की पीढ़ी इसे शौक से गुदवाती है। महिला और पुरुष वर्ग से भी इसका कोई सरोकार नहीं है। दोनों में यह प्रचलित है। इस परंपरा में राजस्थान की कालबेलिया जनजाति अत्यंत निपुण है। यह कार्य अधिकांशतः कालबेलिया महिलाएं करती हैं और इसके लिए अलग-अलग प्रकार की सुइयों का प्रयोग किया जाता है। कालबेलिया नर्तक अपने शरीर पर कई प्रकार की आकृतियां विशेषकर सांपों या नागों से संबंधित आकृतिया ंबनाते हैं। जिससे नृत्य के समय इनका शरीर आकर्षक लगता है। इस हेतु किसी भी तेल के काजल को तेल या पानी में मिलाकर एक विशेष लेप बनाया जाता है। जिसमें सुइयों को डुबोकर शरीर में चुभाकर विभिन्न प्रकार की लुभावनी आकृतियां बनाई जाती हैं। इसके पश्चात सूजन को कम करने हेतु हल्दी या गोबर के लेप को लगाया जाता है। जिससे गोदना जल्दी ठीक हो जाता है। पहले यह परंपरा केवल ग्रामीण क्षेत्रों तक सीमित थी; लेकिन वर्तमान में शहरों में उसे बहुतायत में अपनाया जा रहा है। कालबेलिया नृत्तकों के लिए इसका संबंध परंपरा, मान्यता और आस्था से रहा है। कालबेलिया महिला नर्तकियों की मान्यता है कि माथे पर बिंदी गुदवाना बुद्धि को बढ़ाता है; वही ठोड़ी में गोदना जिसे 'मुटकी' कहते हैं, दांतो को मजबूत करने का साधन है। कानों में गोदने को 'झुमका' और नाक में गोदने को 'फुल्ली' कहते हैं। गले में गुदवाने को यह मधुर आवाज से जोड़ते हैं। इसी तरह गोदना परंपरा का कालबेलिया नृत्य में एक विशेष स्थान है।

आज से 30-40 वर्ष पूर्व तक कालबेलिया नृत्य की कोई अपनी विशेष पहचान नहीं थी। इसका मुख्य कारण था इस समुदाय में महिलाओं को बाहर नृत्य प्रदर्शन का न तो अधिकार था और न ही

अनुमति। केवल अपने मनोरंजन और किसी खुशी के मौके पर कालबेलिया जनजाति द्वारा यह नृत्य किया जाता था। 2010 में यूनेस्को द्वारा अमूर्त सांस्कृतिक विरासत (ICH) की प्रतिनिधि सूची में इस नृत्य को दर्जा मिलने के बाद विश्वभर में इसकी ख्याति बढ़ी है।

कालबेलिया नृत्य और अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कलाकार गुलाबो / गुलाबी सपेरा :

सन् 1980 के दशक के उत्तरार्ध में, कालबेलिया (कालबेलिया) समुदाय की कुछ महिलाओं ने पेशेवर नर्तकियों के रूप में काम करना शुरू किया। वैश्विक मंचों पर इस तरह के प्रदर्शनों की सुर्खियों में लगातार बढ़ोत्तरी हुई।

अंतरराष्ट्रीय विश्व संगीत समारोह और राष्ट्रीय (भारतीय) लोक मेले कालबेलिया नृत्य और इस नृत्य की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त नृत्यांगना गुलाबों / गुलाबी सपेरा को अलग रखकर देखना असंभव है। जहां कालबेलिया नृत्य की विश्व में पहचान गुलाबो/ गुलाबी सपेरा के नाम से है; वही गुलाबो की पहचान कालबेलिया नृत्य से। एक ऐसी नृत्यांगना जिसका जीवन, संघर्ष की जीती जागती मिसाल है। गुलाबों से पहले यह नृत्य केवल मनोरंजन का साधन हुआ करता था, जिसका न कोई व्यवसायिक महत्व था न कोई पहचान। अपने गाँव, समाज और देश से निकलकर कालबेलिया नृत्य को विश्व स्तर पर पहचान दिलाने में गुलाबों की महत्वपूर्ण भूमिका है। एक ऐसी बहादुर नारी जिसने मौत को भी मात दे दी।

सदियों से कालबेलिया जनजाति की स्थिति बहुत दयनीय थी। जिसके चलते इनके बीच एक प्रथा प्रचलित थी कि लड़की का जन्म होते ही उसे जिंदा दफन कर दिया जाए; क्योंकि इनके पास रहने और खाने के साधनों का अभाव था। ऐसे में लड़की को संभालना और उसका पालन पोषण अत्यंत कठिन था। एक पुत्री को फिर भी अपना लिया जाता था; लेकिन दूसरी कन्या का जन्म होते ही उसे एक गड्ढा खोदकर उस पर घास डालकर मिट्टी से ढक दिया जाता था। इस तरह जीते जी दफन करने की प्रथा अत्यंत क्रूर है; लेकिन उनका मानना था कि एक माता के गर्भ से उसे धरती माता के गर्भ में डाल दिया गया है। गुलाबो भी इसी प्रथा का शिकार हुई; लेकिन गुलाबों के पिता चामुंडा माता के अनन्य उपासक थे और उनका मानना था कि सभी देवियों का पूजन कन्या रूप में ही किया जाता है; तो किसी कन्या की इस तरह से निर्मम हत्या कैसे की जा सकती है? समाज से विद्रोह के कारण उन्हें अपने गांव और समाज से दूर अजमेर आकर निवास करना पड़ा। जब गुलाबों का जन्म हुआ तो उनके घर में पहले से तीन बेटियां और तीन बेटे थे। सातवें नंबर पर गुलाबों का जन्म हुआ।

गुलाबों के जन्म के वक्त उनके पिता घर पर नहीं थे। समाज के लोगों ने मिलकर गुलाबों को ले जाकर दफन कर दिया। जब उनकी माता को होश आया तो उन्होंने अपनी बहन से इस बारे में पूछा। बहन के यह बताने पर कि गुलाबों को दफन कर दिया गया है, वह फूट-फूट कर रोने लगी। उन्होंने अपनी बहन से विनती की कि मुझे उस जगह ले जाओ जहां मेरी बेटी को दफन कर दिया गया है, साथ ही गुलाबों की माँ ने अपनी बहन से कहा कि तुम्हारे सिर्फ पांच बेटे हैं, मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी बेटी जीवित है। आज से वह तुम्हारी बेटी है। गुलाबों की मौसी इस बात से पूर्णतया परिचित थी कि दफन किए जाने के पाँच-छः घंटे बाद रात को 12:00 बजे उस स्थान पर जाने से कोई फायदा नहीं; लेकिन अपनी बहन के ज़िद्द करने पर वे दोनों रात के 12:00 बजे वहां पहुंची। यह एक मां की मातृत्व शक्ति और प्रकृति का अद्भुत चमत्कार ही था; जो गुलाबो/गुलाबी सपेरा उन्हें जीवित अवस्था में मिली। स्वाभाविक है कि जिस समाज ने गुलाबों / गुलाबी को जीवन मिलते ही मृत्यु की गोद में पहुंचा दिया उसके आगे का जीवन कितना कष्टप्रद रहा होगा? लेकिन गुलाबो / गुलाबी सपेरा साहस के साथ आगे बढ़ती रही और अंततः कालबेलिया नृत्य को अंतर्राष्ट्रीय

पहचान दिलाने में सफल रही। फ्रेंच लेखक रॉबिन (Robin) और वेरानिक (Veronique) ने गुलाबो पर एक किताब लिखी है जो ***GulabiSapera, danseuse gitane du Rajasthan*** शीर्षक से प्रकाशित है। लोकनृत्य में गुलाबो के योगदान एवं लोकप्रियता को देखते हुए वर्ष 2011 में उन्हें टी॰वी॰ सीरियल बिगबॉस में प्रतिभागी के रूप में शामिल होने का अवसर मिला। गुलाबो के साथ ही राजबाला सपेरा का नाम भी कालबेलिया नृत्य के संदर्भ में लिया जाता है।

निष्कर्ष :

कालबेलिया नृत्य को एक ऐसा सांस्कृतिक उत्पाद माना जा सकता है जो राजस्थान में स्थानीय परिस्थितियों और आर्थिक वास्तविकताओं के बीच अपनी जैविक संरचना में अनूठा है । इसका संरक्षण, दस्तावेजीकरण, फिल्मांकन, प्रचार-प्रसार एवं प्रशिक्षण न केवल इस समाज के हित में होगा अपितु भारत की सांस्कृतिक बहुलता एवं छविकरण में भी यह अपनी नवीनता के साथ सहायक सिद्ध होगा। भारत में वैश्विक उत्तर-औपनिवेशिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रवादी विकास के नव-प्राच्यवादी सहसंयोजन के रूप में विकसित होता हुआ कालबेलिया नृत्य अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए भी उपयुक्त है । प्रदर्शन कलाओं की अंतर्राष्ट्रीय गतिशीलता और भारतीय नृत्य की समकालीन वास्तविकताओं पर ध्यान दिया जाना जरूरी है।

अंत में इतना ही कहना चाहूंगी कि प्रतिनिधित्ववादी सांस्कृतिक प्रथाओं की अनदेखी उचित नहीं है। राष्ट्रीय लोक विरासत के रूप में भी इसका संरक्षण आवश्यक है । ये सांस्कृतिक प्रथाएँ ही प्रकाश के वे अंतःकेंद्र हैं जो पवित्र, निर्मल विचारों और मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिये साहित्य और संस्कृति के माध्यम से सच्चा बयान प्रस्तुत करते हैं। एक राष्ट्र के रूप में हमें ऊर्जावान, प्रज्ञावान और अग्रगामी बनाते हैं। यह भी सिखाते हैं कि दृष्टि के विस्तार में हम एक हैं।

सहायक ग्रंथ-सूची :

1. Chand, Attar. 1991. Rajiv Gandhi: His Mind and Ideology. Delhi: Gian Publishing House
2. Grodzins-Gold, Ann. 2011. "Awakening Generosity in Nath Tales from Rajasthan."In Yogi Heroes and Poets: Histories and Legends of the Naths, edited by David N. Lorenzen and Adrian Muñoz,91–108. Albany: State University of New York Press.
3. Samar, Devi Lal. 1979.Folk Entertainments of Rajasthan. Udaipur: Mangal Mudran.
4. Verma, Vijay. 1987.The Living Music of Rajasthan. New Delhi: Office of the Registrar General.
5. Kalbeliya Dance from Rajasthan: Invented Gypsy Form orTraditional Snake Charmers' Folk Dance?-Ayla Joncheere,Congress on Research in Dancedoi:10.1017/S0149767717000055.
6. A Tradition of Transience:The Kalbelia Dance - K.S. Mochish,2016.Discover India Project (DIP)
7. राजस्थान के लोकनृत्य - देवीलाल सामर, गींडाराम वर्मा, भारतीय लोककला मण्डल, उदयपुर, 2019
8. राजस्थानी लोकगाथाएँ - डॉ॰ कृष्ण कुमारा शर्मा, डॉ॰ रमेश भानावत, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2019
9. राजस्थान के प्रचलित लोकनृत्य - पन्नालाल मेघवाल, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2022
10. राजस्थान की लोक नृत्य परम्पराएं - पृथ्वी सिंह बूंदवाल, रचना प्रकाशन, जयपुर, 2019
11. https://www.kalbeliyaworld.com/artists-and-buddies/raki_and_carolina/

उत्तर बंगाल के लोकनाट्यों में संगीत पूंज

डॉ॰ जयंत कुमार बर्मन
सहायक आचार्य (गायन), संगीत विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

सारांश

भारत के विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न धाराओं की लोक कलाएं हैं। इस देश का एक अभिन्न अंश उत्तर बंगाल के पारंपरिक लोक कलाओं में से एक महत्वपूर्ण कला है ग्रामीण लोकनाट्य और उस पर आधारित संगीत। समाज के सुख-दुःख, रहन-सहन, उचित-अनुचित, समस्याएँ-समाधान, खुशी - आनंद, उत्सव-शोकये सभी चीजें लोकनाट्य के चर्चाओं में दिखाई देती हैं। इसलिए उत्तर बंगाल के लोकनाट्य को समाज का दर्पण कह सकते है। यहाँ के ग्रामीण लोकनाट्य को 'गान' शब्द से जानते हैं जैसे कुशान गान, बिषहरी गान, पद्मपुराण गान, दोतरा गान, चोर चुन्नी गान, मेचेनी गान आदि। समय के साथ-साथ इन सभी लोकनाट्य और संगीत का चर्चा कम होती जा रहीं हैं। लोकनाट्य प्रस्तुत करने वाले और कराने वाले दोनों पक्ष की नई पीढ़ी शिक्षा हेतु गाँव से बहार निकलकर शहर के तरफ पलायन कर रहे हैं। फलस्वरूप आज उत्तर बंगाल में लोकनाट्य और लोकनाट्य संगीत की कमी आ रही है। लोकनाट्य संगीत धीरे-धीरे अपने स्वरूप बदल रहे हैं और कुछ क्षेत्र में लोकनाट्य के साथ-साथ यह लोक विधाएं लगभग समाप्त होती जा रही है। लोकनाट्य संगीत का प्रचार और प्रसार तथा नई पीढ़ियों के साथ एक सेतु तैयार करने के प्रयास के स्वरुप उत्तर बंगाल के ग्रामीण लोकनाट्य में उपयोग किये गए भिन्न-भिन्न रूपों के कुछ लोकगीत वाणी का संकलन और उसके अर्थ की संक्षिप्त चर्चा इस शोधपत्र में किये गए है। आशा करते है यह शोधपत्र आने वाले शोधकर्ताओं के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण साबित होगा।

सूचक शब्द

उत्तर बंगाल, लोकनाट्य, लोक संगीत, लोकनाट्य संगीत, लोकगीत वाणी

भूमिका :

उत्तर बंगाल के जनजीवन में लोकचित्र अभिनय द्वारा मंच प्रदर्शित होता है। उत्तर बंगाल के आदिवासी लोकनाट्य को 'गान' कहते है। लोकनाट्य में दो तरह के गीतों की चर्चा होती है। लोकनाट्य से जुड़े हुए चरित्र आधारित गीत और दर्शकों के मनोरंजन के लिए चरित्र बहिर्भुत गीत इस क्षेत्र के आदि भाषा राजबंशी-कामतापुरी में लिखित गीत बहुत ही सुन्दर और सुरीली है। इस गीत में जो वाद्य यन्त्र प्रयोग होते हैं वह सभी इस क्षेत्र में पाए गए प्राकृतिक उपादानो से तैयार होती है। समय के अनुकूल यह बहुत ही मूल्यवान गीत परंपरा धीरे-धीरे विलुप्त होते जा रहे हैं। साथ ही साथ लोकनाट्य संगीत से जुड़े हुए कलाकार भी दिन प्रति-दिन कम होते जा रहे हैं। उत्तर बंगाल के लोक संस्कृति में लोक नाट्यों की लंबी और बहुसंख्य परंपरा पाई जाती है।

उत्तर बंगाल का भौगालिक परिदृश्य :

'उत्तर बंगाल' - भारत के पश्चिम बंगाल के मालदह, दक्षिण दिनाजपुर, उत्तर दिनाजपुर, जलपाईगुरी, कालिम्पोंग, दार्जिलिंग, कोचबिहार और अलीपुरद्वार। 'उत्तर बंगाल' नाम का कोई स्वतंत्र क्षेत्र या भूखंड पश्चिम बंगाल अथवा भारतवर्ष के मानचित्र में नहीं है पर 'उत्तर बंगाल' यह शब्द अंग्रेजों के समय से शुरु है और आज तक चला आ रहा है। संभव साल 1920 के प्रारंभ से राजनैतिक और व्यव्सायिकरण हेतु ब्रिटिश सरकार ने एक अखंड राजनैतिक नियंत्रण सीमा तैयार की थी जिनमें देश विभाजन से पहले का बंगलादेश और उसके अंतर्गत राजशाही, बगुरा, रंगपुर साथ ही पश्चिम बंगाल के छः जिले तथा सिक्किम और भूटान के पहाड़ी अंचल के कुछ अंश जुड़े हुऐ थे। यही अखंड भौगोलिक सीमा तथा विशिष्ट स्थान उस समय 'उत्तर बंगाल' नाम से प्रचलित हुआ। स्रोतोस्वीनी गंगा (फाराक्का) नदी को बीच में रखते हुए एक काल्पनिक सीमा रेखा तैयार की गई थी। गंगा के उत्तर भाग को 'उत्तर बंगाल' और गंगा के दक्षिण भाग को 'दक्षिण बंगाल' के नाम से लोग स्वीकार करने लगे।

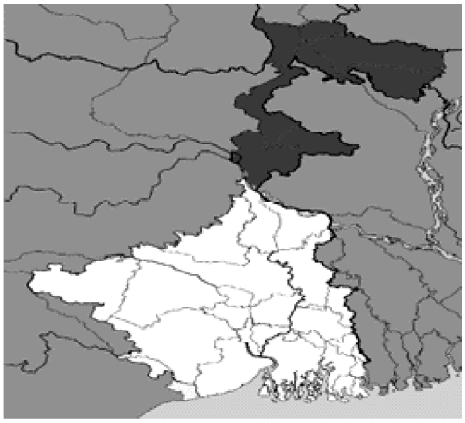

पश्चिम बंगाल की मानचित्र : हरा रंग की अंश है उत्तरबंगाल

लोकनाट्य में भिन्न-भिन्न कलाकार व गायक :

गिदाल : 'गिदाल' या संगीतकार की भूमिका बहुत महत्म्पूर्ण है। यह चरित्र लोकनाट्य में प्रधान भूमिका निभाते हैं। मूलगिदाल को छोड़कर और और भी दूसरे गिदाल लोकनाट्य में होते है। उनका विवरण इस प्रकार से है-

दोहार : 'दोहार' भी गिदाल का अंश है। क्योकि यह कलाकार भी मूल गिदाल और गायक के साथ-साथ गीत को पकड़ते हैं। हर एक चरित्रों के संगीत में दोहार 'धुया' (साथ में आलाप) पकड़ते हैं। दोहार जितने भी होते है वह सभी मंच के बीच में ही बैठते हैं। लोकनाट्य चलते समय गीत की जरुरत के हिसाब से ये लोग भी मूल गिदाल के साथ संगीत में हिस्सा लेते हैं और अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।

पाली या पाइल : कुशान गान में तीन से चार व्यक्ति कलाकार पाली या पाइल के हिसाब से रहते हैं। दायाँ और बयाँ पाली मूल गायक के पीछे-पीछे ही गीत को पकड़ते हैं और मूल गायक के तरह ही करते हैं। पाली को भी गीत के साथ-साथ अभिनय जानना बहुत जरूरी होता है।

दोयारी : दोयारी मूल गिदाल का मुख्य सहायक कलाकार है। ये कलाकार कुशान में हास्य कौतुक भी करते हैं और लोकनाट्य चलते समय दर्शकों के सामने मूल गिदाल द्वारा किये हुए प्रश्न का उत्तर भी देते हैं।

उत्तर बंगाल के लोकनाट्य गीत : लोकनाट्य के बारे में डा॰ आशुतोष भट्टाचार्य का कहना है कि ग्रामीण लोकसमाज में जनसाधारण के जीवन को लेकर नाट्य रूपों की रचना होती है ये लोकनाट्य को 'गान' कहते हैं। जैसे 'कुशान गान', 'बिषहरी गान' या 'पद्मपुराण गान', 'दोतरा गान', ये सभी उत्तर बंगाल के लोकनाट्य हैं।

सरस्वती वन्दना : संगीत शास्त्र की देवी सरस्वती की वन्दना के माध्यम से मूल गायक भक्ति के साथ पाला शुरू करते हैं। सरस्वती संगीत की देवी है। इस

कारण उनके ऊपर श्रद्धा निवेदन करने बाद ही संगीत का कार्यक्रम शुरू किया जाता है। संस्कृत श्लोक के बाद 'हाक' सुर अर्थात 'जय आहा हा' बोल के मूल गायक तथा गिदाल सुर पकड़ते हैं। उनके साथ बाकी 'पाली' (पार्श्व गायक) सुर को मूल गिदाल के साथ-साथ पकड़ते हैं। गिदाल बीच-बीच में दोहारी की सहायता से गीत का 'भान्गाती' या व्याख्या करते हैं।

वंदना गीत : ओ एसो मा, ओ माँ जगत 'जननी'..... आरे ओ ओ हे।

अर्थ : इस गीत में गायक कह रहे है- जगत जननी देवी माता तुम स्वर्ग से एकबार आओ हमारे निर्दय संसार मे। पूर्व में बन्दना करते है सूरज को, उत्तर में पर्वत, दक्षिण में सागर और पश्चिम में पीर पयगम्बर, तेत्रिश कोटि देवता बंदन करते है।

लोकनाट्य आलकाप बैठकी गीत : स्वामी मोरुक ..... पिरिति छोले ना रे

लोकनाट्य डोमनी : गीत-भाजोऊ तोहारोऊ सुरातिया..... बिछिया गे भोजोऊ।

अर्थ : गरमी के दिन हैं तेज धूप तप रही है एक मोहल्ला के घर में गृहणी को पानी देने के लिए गृहकर्ता आदेश करता है पर गृहणी पानी नहीं लाती है गृहकर्ता पानी न देने का कारण पूछता है तब गृहणी गभीर दुःख के साथ गाती है।

लोकनाट्य साईकेल सरी गीत : शुन गे साईकल सरि .... शुन गे साईकल सरि।

लोकनाट्य गंभीरा गीत : गंभीर के चोथा दिन का शिव बंदना ... चरने प्रणाम।

लोकनाट्य खन गीत-आसर वन्दना :

बंदिमाता बिना पानी जगत माता जननी ..... हिमालय पर्वत।

लोकनाट्य चोर चुन्नी गीत-चोरी जुर्म है, चोरी को पेशा के हिसाब से अपनाते हुए चोर का परिणाम क्या होता है, और समाज में चोरों का स्थान कैसे है और उस तरफ साधू का मरियादा भी क्या है, अंत में चोरी पेशा जो सही नहीं है यह इस 'चोर चुन्नी' कहानी का मूल आधार है।

(दक्षिण खारिजा, बेरुबारी, जलपाईगुरी से मिले हुए वह गीत)

सोइस्याफुली जांगिया .....होबो तुई ढक

लोकनाट्य गमीरा गीत-गमीरा के हर एक गीत में यौवन यंत्रणा की बात की गई है। आज से बहुत साल पहले लड़कियों की छोटी उम्र में शादी कर देने की प्रथा थी। कभी बाल-विवाह में दुल्हा उम्र में छोटा या बड़ा होता था। समाज की उस प्रथा से लड़कियों या कम उम्र की दुल्हनों के मन में जो भाव आया है वह इस गीत में है।

आई मोक बेचेया खा गे ..... आई मोक मोटे शभाय ना

लोकनाट्य मेचेनी गीत-तिस्ताबुरी आसिलेक माओ ..... कईलाशपूरी ।

लोकनाट्य हुदुम गीत-हुदुम देओ हुदुम देओ हामाक कने पानी देओ

हुदुम घर पांच भाई कारो चेटोत पानी नाइ ..... पानी कनेक ढ़ाली देओ।

लोकनाट्य कुशाणगीत-मंगलाचरण श्लोक - जय आहा आहा .....

राम-लक्ष्मण पुर्वजंग रघुवरंग सीतापति सुन्दरम।
काकुत्स्थंग करुनामयंग गुणनिधिंग बिप्रपियंग।।

चित्र : रामायण आधारित लोकनाट्य 'कुषाण' के गीत

लोकनाट्य कुशाण खोसा गीत :

ओ प्राण कुकिला रे, एकबार आसिया, एकबार देखा दिया

तोरे जोन्ये नारीर मन मोर थाके झुरिया।।

लोकनाट्य विषहरि बंदना गीत :

नम नम हर सुता स्वरूपे जगत माता, नाम धर देवी पद्मावती।

हलाहल विषहरि बसिले पातालपुरी, रक्खा करीले नागेर बसती।।

लोकनाट्य हुलिर पाला गीत :

बेटियालिला करेछे गप, पचागरेर हाटेर पथत

मोर बेटिर नाखा काहय गे न ह्य।

लोकनाट्य फुल फुटानी गीत :

तुई दुइये चाईरे घशेक देहा, हाटेर हाट आनि दिम तोकबाहारेर फता।

लोकनाट्य नलुया चलुयार गीत :

चिगिरी निगिरी पाटते, रुन्मांदी चोंग मांदि प्रोंगे...

तो बाक नुक्चाबाय, हाछु हाजेक पातते रिबांता।।

लोकनाट्य मदनकाम गीत :

उत्तर बंगाल के कूचबिहार जिले के घोक्साडानगा गाँव के श्री काशीनाथ और हरेन बर्मन का मिथ है कि- भिगुमुनी यज्ञ में देवाधि-देव महादेव शिव पधारे, उपस्थित दक्खराज को सभी देवगणों ने प्रणाम किया पर शिव ने नही किया। शिव के ऐसे व्यवहार से दक्खराज अपमानित हो जाते हैं और शीघ्र ही नए यज्ञ का आयोजन करते हैं इस यज्ञ में महादेव आमंत्रित नहीं थे इसलिए शिव ने पार्वती को वहां जाने से मना किया पर पार्वती ने शिव की नहीं सुनी और वह यज्ञ में गई वहाँ पति निंदा सुनकर पार्वती यज्ञ में अपनी आहुति देती हैं। इससे संपूर्ण जगत शिव के गुस्से से अस्थिर हो जाता है। देवता पार्वती की देह खंड-विखंड करते हैं और एक खंड उत्तर बंगाल के (वर्त्तमान आसाम) कामख्या में जाकर रख देते हैं। वहां से शिव की दृष्टि हटाने के लिए देवताओ के महिमा से पार्वती भग्न खंड कामरूप आकार धारण कर लेती है। शिव का काम बस में लाने के लिए नगर देवता लिंग काट देते है और लिंग महिलाओं के माथे के ऊपर घूमाने लगते हैं। उसके पश्चात् समस्त नगरवासी लिंग को दूध, नाडू, धुप धुना, बांश, फूल आदि देकर पूजा करते हैं। इसी के साथ शुरू होता है कामदेव या मदन कामेर गान।

रामे वन्दिलाम हे वन्दिलाम देवगन
जोर हस्ते प्रणाम करंग ठाकुर मदनकाम।।

काम वन्दंग कामाख्या वन्दंग स्वर्गीराजार धाम
आगे वन्दंग सरस्वती पीछे मदनकाम।।

चित्र : कामदेव नृत्य गीत

लोकनाट्य नयनेस्वोरी बोस्टोम बाऊदिया गीत :

नयन सोरी तालपातार खंजुरी हाते

टोक नागी बोईरागी साजे

लोकनाट्य अम्बल सरि पिछल बाउदिया गीत :

पिछल बाउदिया, एमोन कोइनया देखिया आसिनु

पाटी पारा चुल, अम्बल सरि

लोकनाट्य शीतल सरी जानक पाला गीत :

कांगे निछु नांगल जोंगाल, हाते निछु पिनाठी

हाल बाईबा जाछु रे मुई, ओई जल्पोई डांगी

लोकनाट्य सोना राय गीत :

गाईले बारुक गाई गरु गोलात बारुक धान,
देओयाने दरबारे पौक बाताभरा पान।

गाईले बारुक गाई गरु जंगले बारुक नाऊ,
गिरिघरेर शत्रु दुश्मन बनेर बाघे खाउक।

लोकनाट्य गोरखनाथ गीत :

थूबे, घ्याग बांदोंग घ्याग बांदोंग घ्यागेर चरण,
घ्यागेर भीटर टाका थुइछि डाकाईते कारोण।

लोकनाट्य बांश खेलार गीत :

बांश बारी धान पार कोरिया दे, आबो गे हे हत्ती गेले मोर
दोसोरे आछे ओगे, सोगाय आछे, जोरे जोरे मुई नारी, एकेले गे हे।

लोकनाट्य शाईटोल विषहरि गीत :

ओठो ओठो भाला कतो निद्रा जाओ, आमी आसियाछि चोइतन्य ना पाओ।
आजी प्रभाते जाया दिघी सरोबर, ओइखाने होइबे मीलोन तोमार आमार।।

लोकनाट्य कात्यायनी बत्तेर गीत :

उशाबाली हातोट जाय रे कांखे निया डेली
ओकी भाल बओ करे मोर उषा रे।।

लोकनाट्य शिकारेर पथे मधुकर गीत- चरित्र करमचाँद दृमि ..... आमी बातुल।

लोकनाट्य कदमतला गीतः आइजो बंदंग, आनन्द बंदंग ..... रथे कोरिया भर।

लोकनाट्य कलमशरी : बंदना गीत-बंदना कोरेची हाम ..... दिमो राम दोहाई।

लोकनाट्य दुबुला बाली गीत- दुबुला की माया नागैलेन बंधू, बंधू कोरिया पिरिति

लोकनाट्य पाँचकोन्या भाग्यधर गीत :

भाग्यधर आरे ओ होरे मोर दारुण बिधाता ..... छाती फाटीया जाय रे।।

लोकनाट्य नया गाओ गीत :

जन्जालू कय खान्जालू दा, तुई कमों मानुष,
निदाने पोरिया डाकि करह उद्धार।।

लोकनाट्य कानाई धामाली बन्दना गीत :

बन्दे माता सुरधुनी पतिता पावनी पुरातनी ..... सुरासर नरेर जननी ।।

लोकनाट्य मधुमाला पाला गीत :

प्रभु निरंजन तोमार पड़े जानैलाम प्रणाम।।

लोकनाट्य भारी गान गीत :

श्री राम बलेन राबन की भाबिस बसे
मरण निकट तोर युद्ध देबे एसे।।

लोकनाट्य गुंजारा बीबी या सात सतिनेर गीत :

अशोकपुर शहर के आमीर बादशाह आमरुद की सात बीबियाँ थी पर कोई संतान नहीं थी। इस कारण उनका जीवन दुःख भरा रहता था। राजमहल में कालू नाम का कर्मचारी भी दारू पीकर बादशाह को 'आटकुरा' अर्थात अक्षम बोलने लगता है। इस घटना के घटित होने के बाद लोकनाट्य शुरू होता है।

ओ एसो मा हे मा जननी मोरे, दीनहींन कान्गालेर डाके।
एसो मा सरस्वती कर दया, चरने स्मरण नीलाम देओ पदछाया।।

गाजी पीर बाबा ने बादशाह को एक फल दिया जिसे सातों रानीयों को बाट कर खाना था ताकि सातों रानीयों के पेट में संतान आ जाए। छोटी रानी को बादशाह ज्यादा प्यार करते थे इस कारण बड़ी रानी 'हरिपा' ने छोटी रानी गुंजरा को वह फल खाने को नहीं दिया बल्कि फल काखोसा दिया। पीर बाबा की कृपा से रानी ने गर्भ तो धारण कर लिया पर बड़ी रानी ने गुंजरा को फिर धोखा दिया और शिशु बदल कर उसकी गोद में कुत्ते का शावक डाल दिया। प्रसव के समय गुजरा रानी की आँख बंधी हुई थी तभी रानी गुंजरा गाने लगी।

की हैल बिधि एइ छिल कपाले .... दुई नयन भरिया।।

निष्कर्ष :

उत्तर बंगाल का सदियों से प्रचलित लोकनाट्य संगीत कला की प्रस्तुति लोकसमाज में आज भी जारी है। यह कला कुछ जगह में आज भी रीति-रिवाज के साथ जुड़े हुए हैं। राजवंशी समुदाय में

किसी व्यक्ति के शादी के समय बिषहरी या मनसा देवी के लोकनाट्य गीत की चर्चा आज भी जारी है। वर्तमान में इसकी चर्चा बहुत ही कम होती जा रही है। लोग बच्चों के उच्च शिक्षा के लिए शहर ले जाते है, और शहर में ही बस जाते हैं। नई पीढ़ी इसको पेशा के रूप में नही अपनाना चाहती है। अतः हम सभी कलाकारों का यह कर्तव्य बनता है की उत्तर बंगाल की इस लोक-धरोहर को संरक्षण एवं संवर्धित करने हेतु हर संभव प्रयास किया जाए ताकि इस पारंपरिक लोक कला को लिखित रूप में जिंदा रखा जा सके। कुछ निर्णय ऐसा लिया जाए जिससे जो लोक- कलाकार अभी जिंदा हैं उन्हें कुछ काम तथा उचित सम्मान मिले ताकि वो अपने आने वाली पीढ़ियों को कुछ संदेश दे सके कि वह कौन हैं एवं उनकी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति-संस्कार कितना समृद्धशाली तथा उन्नत रही है।

सन्दर्भ सूचि :

1. भकत, द्विजेद्र नाथ, (2015) कुशान गान, लावण्य भकत, बनमाली प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 17-29
2. राय, दीपक कुमार (2014), तीस्ता बूरी, सोपान पब्लिकेशन, कोलकाता-84, पृष्ठ संख्या 58-62
3. भट्टाचार्य, सचुंद्रा (2012), राजबंशी ब्रत कथा, अरूणीमा विश्वास, गांगचिल पब्लिकेशन्स, कोलकाता-700111, पृष्ठ संख्या-48
4. दास, तरुण कुमार (2016) उत्तबंगेर पाला गान, तल्लितला बाईलेन, कूचक्तबहार, पृष्ठ संख्या- 13-22, 49, 59-61, 78, 95, 114, 138, 150, 185, 194
5. दे, सरकार दिग्विजय, कोचबिहारेर लोकनाटक, अणिमा प्रकाशनी कोलकाता-9, पृष्ठ संख्या- 49-58, 23
6. राय, बुद्धदेव, मनिमाला, विश्वप्रिया (2013), बांगलार लोकनृत्य ओ वाद्य समिक्षा, मीरा नाथ सेलर्स, कोलकाता-82, पृष्ठ संख्या 54-55
7. बर्मन, जयंत कुमार (2018), भवाईया स्वरलिपि, बंगिय साहित्य संसद, कोलकाता, ISBN: 9789386508560, पृष्ठ संख्या 165-16

अवध की सोज़ख़्वानी परम्परा और संगीत

डॉ॰ निष्ठा शर्मा
असिस्टेन्ट प्रोफेसर संगीत गायन
महात्मा गाँधी बालिका विद्यालय (पी0जी0) कॉलेज, फिरोजाबाद
(सम्बद्धः डॉ0 बी0आर0 आम्बेडकर, विश्वविद्यालय, आगरा)

सारांश

भारतीय सभ्यता और संस्कृति की कला सोज़ख्वानी का इतिहास अवध में नवाब शुजाउद्दौला के समय से मिलता है। कहा जाता है कि लखनऊ तर्ज की सोज़ख्वानी कला का आरम्भ ख्वाजा हसन मौदूदी से हुआ। नवाब आसिफुद्दौला के समय अवध की संगीत कला अपने उत्कर्श पर थी। अतः पुरानी सोज़ख्वानी कला भी अपनी विशेषताओं के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। सोज़ख्वानी पारम्परिक रूप से उर्दू, अरबी और फारसी भाषा में होती है। पैगम्बर मोहम्मद के पोते इमाम हुसैन की याद में मुहर्रम के दिनों में अपनी भावनाओं का प्रदर्शन सोज़ गायन के द्वारा किया जाता है। हिन्दुस्तानी संगीत के गायक कलाकार जो इन दिनों रियाज या प्रदर्शन नहीं करते है, वो सोज़ की संगीतमय प्रस्तुतियां करते हैं, किन्तु सोज़ख्वानी बिना किसी संगत के ही होती है। सोज़ की काव्य रचना अधिकांशतः किसी धुन पर या राग पर आधारित होती है। सोज़ख्वां गायक इसे सस्वर पाठ के रूप में मानते है। नवाबी युग में मीर अली, मोलाई, अहमद अली, मेंहदी बख्श, गुलाम मुर्तुजा, गौहर अली, मंझू साहब तथा मेंहदी खाँ आदि प्रसिद्ध सोज़ख्वां हुए। आधुनिक युग में भी भारत रत्न उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ, बेगम अख्तर तथा रामपुर सहसवान घराने के उस्ताद भारत रत्न गुलाम मुस्तफा खाँ आदि अनेक गायक कलाकारों ने अनेक सोज़ गाये। गुलाम मुस्तफा खाँ के पुत्र व पौत्र भी तथा अन्य वर्तमान युग के गायक इस गायकी का निर्वहन कर रहे हैं।

मुख्य शब्द

नैसर्गिक, सोज़ख्वानी, मरसियाख्वानी, शोहरत, नियमबद्धता, पुरसोज़, कलाविज्ञ

परिचय :

अवध की संस्कृति में मुगल व फारसी संस्कृति का अद्भुत समन्वय था। इसके साथ ही आर्य संस्कृति के नैसर्गिक सौन्दर्य एवं आंचलिक विशेषताओं को भी इसने ग्रहण किया। अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अवध की संस्कृति व कला जिस नवीनतम रूप को लेकर विकसित हुई उसकी आभा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक विद्यमान रही।[1] अवध की संस्कृति एक विस्तृत विषय है- अथाह और रोचक। अवध की इस संस्कृति में सोज़ख्वानी कला अपनी विशेषताओं को लिये हुए प्रसिद्ध रही है।

सोज़ख्वानी :

अवध की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सोजख्वानी संगीत के संदर्भ में उल्लेखनीय है कि हजरत इमाम

हुसैन की याद में मुहर्रम में शियाओं द्वारा किये गये विलाप को ही नोहा, मरसिया, सोज या मातम कहते हैं। असल में मरसिया को सुर देकर गाया जाये तो सोज कहते हैं। प्रायः सोजख्वानी शुद्ध हिन्दुस्तानी संगीत पर आधारित है। अतः स्वरबद्ध मर्सियाख्वानी ही सोजख्वानी है। इसका रिवाज हिन्दुस्तान के उन सभी शहरों में था जहाँ शिआ लोग रहते थे 'चूंकि दिल्ली में भी शाही खानदान का मजहब सुन्नी था इसलिये वे खास चीजें जिनका सम्बन्ध विशेषकर शियाओं की संस्कृति से था, यहाँ विकसित न हो सकी। इसलिये इन कलाओं को प्रोत्साहन प्रायः लखनऊ शहर और यहाँ के पुराने शिआ दरबार में ही मिला।[2] कहते हैं अवध में नवाब शुजाउद्दौला के समय से सोजख्वानी का इतिहास मिलता है। फैजाबाद में नवाब की पत्नी बहू बेगम के महल में महफिलें होती थीं और जवाहर अली खाँ मरसिया सुना करते थे। सन् 1775 ई0 के बाद लखनऊ में सोजख्वानी की उन्नति प्रारम्भ हुई।[3]

कहा जाता है कि लखनऊ तर्ज की सोजख्वानी कला का आरम्भ ख्वाजा हसन मौदूदी से हुआ।[4] अवध दरबार में नवाब आसफुद्दौला के शासन काल में क्योंकि सम्पूर्ण संगीत कला अपने विकास की ओर थी अतः सोजख्वानी ने भी पुरानी सोजख्वानी को इतना उन्नत कर दिया कि अवध की सोजख्वानी ने अपनी विशेषताओं के साथ अपना अलग ही स्थान बनाया व प्रसिद्ध हो गई। ऐसे ही समय में तानसेन के वंशज नासिर खाँ लखनऊ आये और उन्होंने अपनी दक्षता से इस कला में प्रसिद्धि प्राप्त की। आपने मीर अली हसन व मीर बंदा हसन को सोजख्वानी की तालीम दी। नसीरूद्दीन हैदर के समय में दोनों ने ही इस विधा में यश अर्जित किया। मुहम्मद करम इमाम के अनुसार मीर अली लखनऊ सोज़ख्वानी की मरसिया गायकी के पिता कहे जाते हैं। इनके शार्गिदों में लखनऊ के ही मोलाई और अहमद अली तथा रूदौली के मेंहदी बख्श प्रसिद्ध सोजख्वाँ थे। इनके सभी सोज रागों में स्वरबद्ध होते थे। शरर के अनुसार मंझू साहब तथा अन्य बुजुर्गों ने भी सोजख्वानी कला में शोहरत पाई। कहा जाता है कि राग सागर का उद्गम लखनऊ का सोज ही था, जिसका श्रेय मंझू साहब व सज्जाद हुसैन को जाता है। ये अट्ठारह और बीस रागों में बंधे होते थे।[5]

नसीरूद्दीन हैदर के काल में मीर अली हसन व उनके भाई मीर बंदा हसन तथा नवाब सालार जंग के बेटे नवाब कासिम अली खाँ व गुलाम मुरतुजा गाज़ीउद्दीन हैदर के शासन काल में तथा नवाब अमजद अली शाह के काल में मीर अहमद अली और गौहर अली तथा नवाब वाजिद अली शाह के काल में सैय्यद मिर्ज़ा उन्स आदि ने सोजख्वानी में बहुत प्रसिद्धी पाई। इन लोगों ने पूरे हिन्दोस्तान में इस परम्परा को प्रचलित कर लोकप्रिय किया। मेहदी खाँ लखनवीं सोज़ख्वाँ सोज़ पढ़ने आये। मेंहदी खाँ ने नूर का गला पाया था, सोज शुरू किया रिखब पंचम और निखाद तीनों सुर इस खूबी से लगाते थे कि शाह भी बेचैन होकर बेसाख्ता कहने लगे कि क्या रिखब लगी है। अनीसुद्दौला कह उठे कि वाह री पंचम और और निखाद के सुर पर फड़क उठे। परज के बाद बिहाग का सोज, बिहाग के बाद जंगला, फिर काफी और फिर यमन कल्याण आदि। ऐसा लगता है कि हर सोज में आकर रागिनी ने जन्म लिया है, गला है कि आरगन की तरह सुर दे रहा है।[6]

अवध की यह सोजख्वानी परम्परा हैदराबाद तथा ग्वालियर, वाराणसी व रामपुर आदि अनेक स्थानों में प्रचलित हुई। हैदराबाद में दूल्हा साहब तथा रामपुर में वली हैदर द्वारा अवध की यह सोज़ख्वानी परम्परा प्रसिद्ध हुई तथा इन्होनें बड़ी शोहरत पाई। किन्तु आज सोज़ख्वानी परम्परा साहित्यिक व सांगीतिक दोनों रूप से समाप्ति पर है केवल इसका धार्मिक स्वरूप ही शेश रह गया है। मोहर्रम का समय शोक के रूप में मनाया जाता है क्योंकि इस महीने में पैगम्बर मोहम्मद के पोते इमाम हुसैन मृत्यु को प्राप्त हुए थे। अतः इन शोक भावनाओं को विशेष रूप से शिया मुसलमान सोज़, नोहा, मरसिया का सस्वर पाठ करके प्रदर्शित करते हैं। इस परम्परा की वजह से हिन्दुस्तानी संगीत कलाकार अपनी आस्था का पालन करते हुए रियाज़ अथवा प्रदर्शन भी नहीं करते। किन्तु इमाम हुसैन की याद में दुःख को प्रदर्शित करते हुए सोज और मरसिया के काव्य रूप की संगीतमय प्रस्तुति करते हैं। इस सोज़ गायन का

प्रदर्शन बिना किसी संगत के किया जाता है। पूर्व में सोज़ख्वानी की परम्परागत तालीम दी जाती थी। परम्परागत सोज़ गाने वाले संगीतकार परिवार वालों के पास सोज रचनाओं का संग्रह है। ये सोज धुन पर व किसी राग पर आधारित होते हैं। गायक कलाकार इस प्रस्तुति को गायन का हिस्सा न मानकर सस्वर पाठ के रूप में ही मानते हैं। आधुनिक युग में गजल और ठुमरी दादरा की ख्याति लब्ध गायिका बेगम अख्तर ने भी अनेक सोज़ गाये जिनमें 'सफर हो फलक से अब बादशाह आलम का, उदासी ख्याल है।' इसी प्रकार भारतरत्न उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ ने भी मोहर्रम की सभाओं में सोज़ गायन किया है। रामपुर सहसवान घराने के उस्ताद पद्मविभूशण गुलाम मुस्तफा खान ने भी 'ग़म-ए-शय जिसने गवारा न किया' आदि अनेक सोज़ गाये हैं। खाँ साहब के साथ उनके बेटे मुर्तुजा मुस्तफा, कादिर मुस्तफा, रब्बानी मुस्तफा, हसन मुस्तफा और नाती फैज़ मुस्तफा भी इस परम्परा का निर्वहन कर रहे हैं। वर्तमान में लखनऊ के मोहम्मद रजा भी बताते हैं कि उन्होने अपने दादा मोहम्मद अली खान से सोज कला को सीखा। दादाजी के साथ वो बैठकर तानपुरे पर रियाज करते थे।

मीर अली हसन और मीर बंदा हसन द्वारा गाये गये प्रभावशाली सोज हजारों या यूं कहे कि अनगिनत शिआओ ने अपनाये जिसका असर उनके घर की महिलाओं पर भी खूब पड़ा। महिलाओं ने इस कला को अपने गले में ऐसा उतारा कि मर्द पीछे रह गये। सिकन्दर जहाँ (उस्ताद खुर्शेद अली की पुत्री) तथा रूप कुमारी आदि अनेक सोजख्वाँ हुई। धार्मिक परम्परा के कारण सोजख्वानी ने अवध के मर्द और औरतों पर ऐसा प्रभाव डाला कि वे रागों पर आधारित सोज़ख्वानी करने लगे और साथ ही संगीत में भी दिलचस्पी हो गई। धार्मिक परम्परा होने के कारण यह आम जनता में इस कदर रच बस गई जिससे कि इसमें संगीत की नियमबद्धता वैसी ही रही जबकि अन्य कलाओं में परिवर्तन हुये। इस सोज गायन में राग समय सिद्धान्त का पालन किया जाता था। इस प्रकार के सफल प्रयास का श्रेय उस्ताद नासिर खाँ को जाता है जो उस समय के बड़े संगीतज्ञ थे। तत्पश्चात् हैदर खाँ (हैदरी सिड़े) जो कि निपुण कलाविज्ञ थे। हैदरी खाँ ने सोजख्वानी के लिये कुछ ऐसे रागों का चुनाव किया जिसमें शोक व संताप का अधिक प्रभाव था। राग परज में सबसे पहले हैदरी खाँ ने ही सोजख्वानी की बुनियाद डाली।[7] कहते हैं कि हैदरी चूने वाली तवायफ ऐसा दिलकश सुरीला सोज गाती थीं कि उनकी ड्योढ़ी के बाहर तक पाँच छः सौ लोग खड़े होकर सुनते थे। यह कहा जाता है कि उनसे पहले और न बाद में ऐसा सोजख्वाँ कोई नहीं हुआ।

शरर लिखते हैं कि एक साल चहल्लुम के मौके पर चंद दोस्तों के साथ मैं ताल कटोरा की कर्बला में गया था और वहीं एक शिविर में रात बिताई, दो बजे रात को एकाएक आँख खुली तो एक ऐसे मनोहर गीत की आवाज कानों में आयी जिसने सब दोस्तों को जगाकर बेचैन कर दिया। हम सब उस आवाज को सुनकर उत्सुकतावश शिविर से बाहर निकले और देखा औरतों का एक झुण्ड ताजिया लिये हुये आ रहा है। सबके बाल खुले हुये हैं और सिर नंगे हैं। बीच में एक औरत हाथ में शमा लिये है। उसकी रौशनी में एक लम्बे कद की खूबसूरत औरत कुछ पन्नों में से पढ़कर मर्सियाख्वानी कर रही है और दूसरी कई औरतें उसके साथ गलेबाजी कर रही हैं। उस वक्त उन नंगे सिर सुंदरियों और उस पुरसोज़ गीत ने जो समाँ पैदा किया उसे मैं बयान नही कर सकता। नाजुक अदाओं का यह समूह जैसे ही कर्बला के फाटक में दाखिल हुआ उस लम्बी हसीन औरत ने परज की धुन में यह मर्सिया शुरू किया :-

जब कारवान-ए-शहर मदीना लुटा हुआ,
पहुँचा करीब शाम के कैदी बना हुआ।
नेज़े पे सर हुसैन का आगे धरा हुआ,
और पीछे-पीछे बीसियों का सर खुला हुआ।

लखनऊ के उस्ताद खुर्शेद अली खाँ की पौत्री सिकन्दर जहां बेगम और रामपुर सहसवान घराने के उस्ताद गुलाम दस्तगीर खाँ से साक्षात्कार द्वारा प्राप्त लखनवी सोज़ को लेखिका द्वारा स्वरलिपिबद्ध किया गया, जो निम्न है -

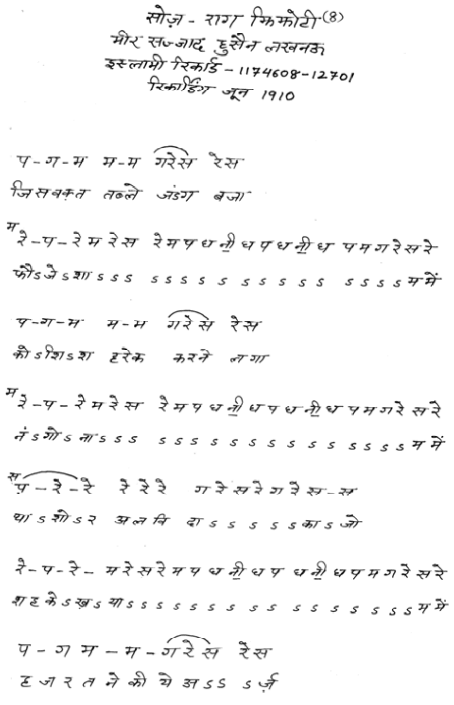

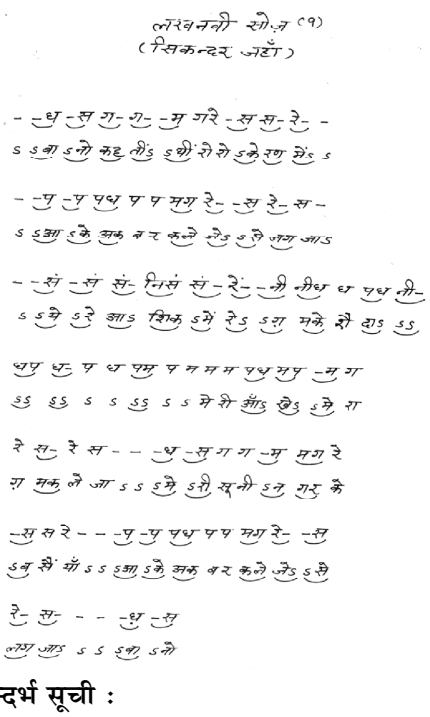

सन्दर्भ सूची :

1. सहाय, जगदीश, (1982) अवध में नवाबी शासन का इतिहास, पृष्ठ-217, अवध प्रकाशन, फैज़ाबाद
2. शरर, अब्दुल हलीम (1971) पुराना लखनऊ, अनु0 - नूर नबी अब्बासी, पृष्ठ-169, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली।
3. कुमारी, मीना (1994) छायानट - अंक 67, पृष्ठ-46 उ0प्र0 संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ।
4. Mishra Susheela (1991) Musical Heritage of Lucknow Page 54 Harman Publishing House, New Delhi.
5. चौबे, सुशील (1976) हिन्दुस्तानी संगीत के रत्न, पृष्ठ-30 उ0प्र0 हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ।
6. खाँ, इसरार हुसैन (1936) हुनर मन्दाने अवध, पृष्ठ-35
7. कुमारी, मीना (1994) छायानट - अंक 67, पृष्ठ-47 उ0प्र0 संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ।
8. रामपुर सहसवान घराने के उस्ताद गुलाम दस्तगीर खाँ से प्राप्त सोज़।
9. लखनऊ घराने के उस्ताद खुर्शेद अली खाँ की पौत्री श्रीमती सिकंदर जहाँ से सुनकर लेखिका द्वारा स्वरलिपि बद्ध किया गया सोज़।

छत्तीसगढ़ी का समृद्ध लोकसाहित्य

डॉ॰ सरोज चक्रधर
सहायक प्राध्यापक-हिंदी
शासकीय नवीन कन्या महाविद्यालय, गोबरा नवापारा, रायपुर, छत्तीसगढ़

किसी भी राष्ट्र, राज्य या समाज के वैभव की पहचान उसकी संस्कृति, उसके लोक साहित्य एवं लोक जीवन से होता है। छत्तीसगढ़ राज्य एक जनजातीय बहुल प्रदेश है और यहाँ का सांस्कृतिक वैभव लोक के माध्यम से झंकृत होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक लोकाचार छत्तीसगढ़ की पहचान है। दैनंदिनी जीवन में भी अनेक लोक क्रियाएँ हैं, जो छत्तीसगढ़ को वैभवशाली बनाती हैं। अपनी भाषा, अपने लोक की बात को चरितार्थ करते हुए छत्तीसगढ़ी को राज्य में राजभाषा का दर्जा दिया गया है। 28 नवंबर 2007 वह महत्वपूर्ण दिन बना जिस दिन छत्तीसगढ़ी ने राजभाषा का दर्जा प्राप्त किया। अपनी मातृभाषा को इस तरह सम्मान मिलना छत्तीसगढ़ के लोगों के लिए सुखद अनुभूति है। छत्तीसगढ़ सांस्कृतिक, साहित्यिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से समृद्ध एवं सम्पन्न राज्य है। भौगोलिक स्वरूप में छत्तीसगढ़ अपेक्षाकृत छोटा है, लेकिन विपुल प्राकृतिक संपदा एवं बहुरंगी सांस्कृतिक विभूतिमानो देश-दुनिया को मोह लेती है। छत्तीसगढ़ के लोक साहित्य की गमक अलग ही है। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य क्या है और इसका भावार्थ क्या है, यह प्रस्तुत आलेख में समझने का प्रयास किया गया है।

लोकसाहित्य शब्द में दो शब्द समाहित हैं- एक लोक और दूसरा साहित्य। लोक का एक अर्थ होता है- संसार और साहित्य का अर्थ होता है- साथ होने का भाव। आशय यह है कि छत्तीसगढ़ी भाषा में छत्तीसगढ़ का संसार समाया है। लोकसाहित्य में हम इस संसार के सुख-दुःख, माया-मोह, आसक्ति-विरक्ति, उत्साह-निराशा, हास्य-रुदन आदि सभी प्रकार के भाव का अनुभव कर लेते हैं। 'लोक' शब्द एक का न होकर समूह का द्योतक होता है। इसमें सामूहिक अवचेतन की भावना प्रबल रहती है। दुनिया के सभी भाषाओं का लोकसाहित्य वहाँ रहने वाले लोगों की सामूहिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम होता है। अपनी-अपनी संस्कृति, परंपरा और पहचान के आधार पर जनमानस इसमें कुछ बदलाव करते रहते हैं। मनुष्य का ललित कला के प्रति नैसर्गिक झुकाव रहता है। कहा गया है - 'शिशु जितना प्राचीन और कुछ नहीं। लोकसाहित्य भी शिशु साहित्य है, मानव मन में इसका स्वतरू जन्म हुआ।'[1]

छत्तीसगढ़ के ख्यातनाम लेखक श्री प्यारेलाल गुप्त ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन छत्तीसगढ़' में लिखा है- 'छत्तीसगढ़ी भाषा अर्धमागधी की दुहिता एवं अवधी की सहोदरा है।'[2] छत्तीसगढ़ी भाषा का जन्म अर्धमागधी से नवीं-दसवीं शताब्दी में हुआ और धीरे-धीरे इसका विकास होता गया। किसी भी भाषा और उसके लोकसाहित्य में गहरा संबंध होता है। छत्तीसगढ़ी का लोकसाहित्य अत्यंत समृद्ध और विकसित है। साहित्य की कई विधाएँ इसमें समाहित हैं। छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य में छत्तीसगढ़ की लोककलाएँ, लोक-संस्कृति, लोक-संगीत, लोकनृत्य, लोकगाथा, लोककथा, लोकनाट्य, पहेलियाँ, मुहावरे, लोकोक्तियाँ

आदि की सौंधी गंध रची-बसी है। 'कला की उत्पत्ति जीवन के मृदुल वंश अंश से है। इसका जन्म रस में और परिणीत आनंद में है।'[3]

अर्धमागधी अपभ्रंश से निकली पूर्वी हिंदी की बोली छत्तीसगढ़ी अपने विस्तृत साहित्य एवं विश्व प्रसिद्ध लोक-संस्कृति के बल पर एक भाषा की प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी है। इसकी लिपि देवनागरी है। लिपि किसी भी भाषा का आधार होती है। भाषिक अभिव्यक्ति के दो रूप होते हैं- मौखिक और लिखित। लोकसाहित्य मौखिक अभिव्यक्ति में मुखर होकर प्रकट होता है। भाषा ही संस्कृति और संस्कार का संवाहक होती है। छत्तीसगढ़ी भाषा के साहित्य में विशेष रूप से लोकसाहित्य में छत्तीसगढ़ी संस्कृति की मोहक गंध समाई है। छत्तीसगढ़ी लोक की यात्रा में लोक की कच्ची गंध से लेकर वैदिक काल के परिपक्व दर्शन का अनुभव भी हम भाँति.भाँति प्रकार से कर सकते हैं। वर्तमान संक्रमणकालीन परिदृश्य में पुरातन लोक का आधुनिकीकरण भी प्रारंभ हो चुका है। यातायात, पर्यटन, व्यापार आदि की सुविधा का भाषा, संस्कृति एवं सभ्यता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। आवश्यकता है तो अपने पुरखों की निधि को सहेजने की। किसी भी क्षेत्र का लोकसाहित्य वाचिक परंपरा के माध्यम से युगों-युगों तक बना रहता है तथा अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।

लोकसाहित्य के प्रभाव का अध्ययन शरीर और मन के आधार पर किए जाने की भी आवश्यकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में यह कारगर हो सकता है। लोक का संबंध प्रकृति और धरती से होता है, जिसमें रहकर कोई भी मनुष्य पोषण पाता है और वृद्धि करता है। लोकतत्व लोक की मिट्टी, धूप, हवा और हरियाली को सँजोए रखता है तो वहीं परंपरा, संस्कार और संस्कृति से संभूत होता है। मानव-मन की भीतरी परत में इसकी गहरी पैठ होती है। विभिन्न प्रकार की आधि-व्याधियों में इसका प्रयोग 'नेचुरोपैथी' के रूप में करना काफी लाभप्रद हो सकता है। लोक से जुड़ा किसी भी मरीज को ठीक करने में उत्प्रेरक का काम करता है। इस प्रकार के नवाचार का प्रयोग मरीज में एक नई आशा, विश्वास, जीजिविषा, आनंद के साथ-साथ रोग-प्रतिरोधक क्षमता को विकसित करने में भी योगदान देता है। प्रकृति और लोक का सान्निध्य नैराश्य भाव तथा नकारात्मकता को दूर करता है। सकारात्मक ऊर्जा के संचार में लोक का बड़ा महत्व हैए फिर लोकसाहित्य में तो हृदय के तार को झंकृत करने का गुण विद्यमान होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य और कला का प्रयोजन जीवन के लिए उपयोगी है। दर्शन में कला का उद्देश्य प्रदर्शन न मानकर आनंद माना गया है। जहाँ भावना से संतोष प्राप्त होता है, वहीं सौंदर्य है तथा वही साहित्य उत्कृष्ट माना गया है।

जिन विद्वानों ने आदिम-जाति की रीति और नीति का निपुण अध्ययन किया है, उन्होंने पाया है कि भावावेग की अभिव्यक्ति का पहला मानवीय प्रयास नृत्य और गीत के माध्यम से ही हुआ होगा। संगीत और भाषा के समान ही नृत्य मानवीय अभिव्यक्ति के प्रयत्न में सबसे प्राचीन है। छत्तीसगढ़ी लोकगीत में मनुष्य के जन्म से लेकर मरण तक के संसार का दर्शन हो जाता है। छत्तीसगढ़ी लोकगीत में छत्तीसगढ़ी लोकजीवन रचा-बसा होता है। छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य की सबसे संपन्न और लोकप्रिय विधा है- छत्तीसगढ़ी लोकगीत। इसका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है -

लोकगीत :

1. संस्कार गीत - सोहर गीत, बिहाव गीत, मृत्यु संस्कार गीत।
2. पर्वगीत-उत्सव (धार्मिक) गीत, भोजली, जंवारा, गौरी-गौरा गीत, माता सेवा, छेरछेरा गीत, फाग गीत, राउत नाचा के गीत।
3. ऋतुगीत - बरखा गीत, बारहमासा गीत।
4. श्रम गीत या मनोरंजक गीत - ददरिया, करमा, नचैड़ी।

5. खेलगीत - अटकन-मटकन, कबड्डी, खो-खो, फुगड़ी, घोर-घोर रानी।
6. अन्य गीत - पंथी गीत, देवार गीत, बसदेवा गीत, लोक भजन।

उदाहरण : ''जइसे के मालिक लिहेव दिहेव
तइसे के देवो अशीष
रंग महल का बैइठव मालिक,
जुग जुग जीवो लाख बरीश।''[4]

लोकगाथा :

लोकगाथाओं में भरथरी, पंडवानी, श्रवण कुमार, गोपी चंदा की कहानी, लोरिक चंदा, ढोलामारू, फूलबासन आदि आंचलिकता का पुट लिए हुए हैं। लोकगाथाओं में छत्तीसगढ़ की गौरवगाथा है तो वहीं कल्पनाशीलता भी है। सांसारिकता तथा आध्यात्मिकता का सम्मिलन इन गाथाओं में देखने को मिलता है। इसमें मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान का सागर भी समाहित होता है। लोकगाथाओं में छत्तीसगढ़ के लोक, समाज, संबंध, संस्कार, त्यौहार, परंपरा, रीति-रिवाज आदि सबका चित्रण मिलता है। लोकगाथाओं को लोक संस्कृति पोषित करता है। शास्त्र सम्मत कथाओं में कल्पना का मिश्रण कर एक मोहक संसार की रचना करने में कलाकार सक्षम होते हैं।

कबीर के भजन में उलटबाँसी का यह उदाहरण देखा जा सकता है -

''बूझो बूझो गोरखनाथ अमृतबानी,
बरसे कमरा भीगे रे पानी जी।''[5]

- **भरथरी :**

भरथरी की कहानी लोक में बहुत प्रचलित है। इसमें राजा भरथरी और रानी पिंगला की वियोग गाथा का वर्णन किया गया है। श्रृंगार रस के संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों की प्रधानता इसमें है। आंचलिक परंपरा में आध्यात्मिक लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित राजा भर्तृहरि का जीवनवृत्त, नीति और उपदेश भरथरी लोकगाथा में गुँथा हुआ है। एकतारा, हारमोनियम, मंजीरा, बाँसुरी, तबला भरथरी लोकगाथा के प्रमुख वाद्य यंत्र हैं। सुरूजबाई खांडे इस लोकशैली की प्रसिद्ध गायिका हैं। समय के साथ इसमें बदलाव भी देखने को मिल रहा है। भरथरी में गायन और नृत्य का मेल होता है।

भरथरी में सतनाम पंथ का प्रभाव भी देखने को मिलता है। कई पदों में सतनाम का उल्लेख इस प्रकार उद्धरित है -

'सतनाम सत्यनाम, सत्यनाम सार
गुरु महिमा अपार,
अमृत धार बोहाई दे
होई जाही बेड़ा पार
सतगुरु नाम लखाई दे।'[6]

साथ ही आत्मा की परमात्मा से मिलने की तड़प भी देखने को मिलती है। प्रस्तुत पद में प्रतीकात्मक रूप में इस विरह को दर्शाया गया है -

'घोड़ा रोवय घोड़सार मा ओ
घोड़ा रोवय घोड़सार मा
हाथी रोवय हाथीसार मा
मोर रानी ये ओए महल मा रोवय
मोर राजा रोवय दरबार मा,
दरबार म ओ भाई ये दे जी।'[7]

कहने का अभिप्राय यह है कि परमात्मा के वियोग में मनरूपी घोड़ा, बुद्धिरूपी हाथी, इन्द्रिरुपी रानी और आत्मारूपी राजा सभी इस शरीर रूपी महल में रो रहे हैं, सिसक रहे हैं। आध्यामिकता, अलौकिकता, रहस्य और रोमांच इसकी रोचकता को कई गुना बढ़ा देता है। लोकगाथा और लोककथा लोकमानस की मूल भावना को स्थूल प्रतीक के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।

- पंडवानी

पांडवों की कहानी का छत्तीसगढ़ी रूपांतर है- पंडवानी। इसका प्रमुख वाद्य यंत्र तंबूरा है। पंडवानी

के दो प्रकार हैं- बैठे साज और खड़े साज। इसमें हुंकार भरने वाले को ''रागी'' कहते हैं। पंडवानी की दो शाखा है- वेदमती और कापालिक। तीजनबाई और रितु वर्मा इस विधा की विश्वप्रसिद्ध गायिका हैं। उदाहरण -

''रथ ला हांकत हे भगवान।
घोड़ा सरपट सेना करिस पयान, पैदल रटपट ।।''[8]

- **लोरिक चंदा :**

लोरिक चंदा, लोरिक और चंदा की प्रेम-गाथा है। इसे चंदैनी गायन के रूप में गाया जाता है। इसका प्रमुख वाद्य यंत्र टिमकी और ढोलक है।

लोककथाओं को घर की दादी-नानियों के मुँह से सुनकर घर के बच्चे बड़े होते हैं। महाभारत, रामायण, पुराणों की उपकथाओं में यह पिरोई हुई है। प्रकृति, जीव-जंतु, पशु-पक्षियों की विविध कहानियाँ मानवीकरण के माध्यम से विस्मय में वृद्धि कर देती हैं। 'दार भात चुरगे, मोर कहानी पुरगे' कहकर कहानी का समापन बड़ा रोचक और आनंदमय लगता है।

लोकनाट्य :

छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य में 'नाचा' प्रमुख लोकनाट्य है। नाचा के द्वारा सामाजिक विसंगति, विषमता, विद्रूपता, कुरीति एवं आडंबर में तीखी चोट की जाती है। नाचा के अंतर्गत 'गम्मत' का विशेष महत्व है। प्रहसन और व्यंग्य इसके प्रमुख स्वर हैं। 'रहस' एक आनुष्ठानिक नाट्य विधा है। रहस का शाब्दिक अर्थ रास या रासलीला होता है। इसमें भगवान कृष्ण की लीलाओं का अभिनय किया जाता है। इसके आयोजन के लिए किसी विशेष तिथि की आवश्यकता नहीं होती है। विवाह, मेला, गणेश पर्व आदि किसी भी उत्सव में इसका आयोजन किया जा सकता है।

छत्तीसगढ़ी पहेली, मुहावरों और कहावतों में मनुष्य के बुद्धि कौशल का अनोखा दर्शन होता है। यह बुद्धि को माँजने का एक अच्छा औज़ार है। कहावत पूर्ण वाक्य होता है जबकि मुहावरा वाक्यांश होता है । इनमें छत्तीसगढ़ की संस्कृति के विभिन्न रंग चित्रित होकर मन को प्रसन्न कर देते हैं ।

जनऊला :

छत्तीसगढ़ी भाषा में पहेली को 'जनऊला' कहा जाता है। जनऊला मनोरंजनपरक विधा है जिसमें खाली समय को व्यतीत करने के लिए एक व्यक्ति प्रश्न पूछता है और दूसरा उसका उत्तर देता है। 'छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य में धंधा, जनऊला या पहेलियाँ गद्य या पद्य, तुकांत और अतुकांत सभी रूपों में सहस्त्राधिक संख्या में मिलती है।'[9]

उदाहरण :

1. नानचून टूरा, कूद-कूद के पार बाँधे।
   उत्तर - सूजी (सुई)
2. नानचून बियारा म, खीरा बीजा।
   उत्तर - दांत
3. काँटे मा कटाय नहीं, भोंगे मा भोंगाय नहीं।
   उत्तर . छइयां (छाँव)

हाना :

छत्तीसगढ़ी में कहावत या लोकोक्ति को 'हाना' कहा जाता है। हाना का अर्थ होता है - 'लोक में प्रचलित उक्ति'। हाना किसी भी राज्य के लोकजीवन को समझने में मदद करता है।

उदाहरण :

1. आदमी-आदमी म अंतर, कोनो हीरा त कोनो कंकर

अर्थ : कोई व्यक्ति हमारी सहायता करता है तो कोई हमारे लक्ष्य को हासिल करने में रूकावट बनता है।

वाक्य में प्रयोग : हर मनखे के गुन स्वभाव ह दूसर ले अलग रहिथे। एक झन पिता के दू झन बेटा हे ए एक अमीर अउ दूसर गरीब या एक योग्य अउ दूसर अयोग्य। आदमी.आदमी म अंतरए कोनो हीरा त कोनो कंकर।

2. एक ठन आमा के सौ लबेदा

अर्थ : एक ही चीज़ की माँग अधिक होना।

वाक्य में प्रयोग : जब ले गरमी के दिन आए हे गन्ना जूस के पीअइया मन जादा होगे हे, गन्ना घलो नइ पूरत हेए त अइसने ल तो कहे गेहे एक ठन आमा के सौ लबेदा।

3. एक धान के दू भूंसा

अर्थ : फायदे पर फायदा होना।

वाक्य में प्रयोग : रामा के उपर भगवान के बड़ किरपा बरसत हे, तभे तो एकर एक धान के दू भूँसा होवत हे, अइसन भाग हमन कहां पाबो रे भइया।

मुहावरा :

मुहावरे को भाषा का श्रृंगार भी कहा जाता है। मुहावरे का अर्थ होता है - अभ्यास। बार-बार प्रयोग में लाने से कोई शब्द समूह अपना सामान्य अर्थ छोडक़र किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाता है, तब वह मुहावरा कहलाता है। भाषा में इसका प्रयोग करने से भाषा की सुंदरता, गंभीरता और भाव बढ़ जाता है।

उदाहरण :

1. अंगरा बरसना

अर्थ : धूप तेज होना।

वाक्य में प्रयोग : गरमी के दिन म अइसे अंगरा बरसथे के गोड़ हाथ हा जरे लागथे।

2. आज-काली करना

अर्थ : टालमटोल करना।

वाक्य में प्रयोग : बिकट दिन होगे तोला आज काली करत हुए, मोर पईसा ल देयके बिचार नइ हे का?

3. रोटी असन पोना

अर्थ : तड़ातड़ मारना।

वाक्य में प्रयोग : लक्ष्मीन ह अपन बेटा राजू ल फोकट के रोटी असन पो दिस।

लोकसाहित्य की दृष्टि से हीरालाल काव्योपाध्याय की 'ए छत्तीसगढ़ी डायलेक्ट ऑफ़ हिंदी' का नाम सबसे ऊपर है। ''इसके पंचम खंड के छब्बीसवें से तीसवें अध्याय तक छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य के विभिन्न पक्षों के उदाहरण मिलते हैं। छब्बीसवें अध्याय में 57 मुहावरेदार वाक्यांश और उपयोगी शब्द तथा 54 छोटे-छोटे वाक्य दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त 42 मुहावरेदार वाक्य भी इसी अध्याय में हैं। सत्ताइसवें अध्याय में ग्रामीण वार्तालाप का नमूना है। अट्ठाईसवें अध्याय में 34 कहावतें और 48 पहेलियाँ संगृहीत हैं। उनतीसवें अध्याय में छत्तीसगढ़ी की रावत जाति के द्वारा गाए जाने वाले 40 दोहे तथा जनमानस में बसे ददरियों अथवा मुक्तकों के 40 उदाहरण भी हैं। तीसवें अध्याय में श्रीरामचंद्र की कथा, ढोला की कहानी और चंदैनी की कहानी के रूप में छत्तीसगढ़ी लोककथा के तीन सुदीर्घ उदाहरण भी दिए गए हैं।''[10]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य में छत्तीसगढ़ी लोकजीवन की समग्र झाँकी, मानव का इतिहास, विश्वास और ज्ञान के विकास की लंबी यात्रा समाहित है। छत्तीसगढ़ प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों के तीज-त्यौहार, संस्कृति एवं परंपरा को संरक्षित करने के उद्देश्य से ''मुख्यमंत्री छत्तीसगढ़ी पर्व सम्मान निधि योजना'' एवं ''मुख्यमंत्री आदिवासी परब सम्मान निधि योजना'' शुरू की गई है। योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों के तीज-त्यौहारों की संस्कृति एवं परंपरा को संरक्षित करना है साथ ही इन त्यौहारों, उत्सवों का मूल स्वरुप में भावी पीढ़ी को हस्तांतरण तथा सांस्कृतिक परंपराओं का अभिलेखन करना है।

हमारे लोक-पर्व और लोक-संस्कृति प्रकृति से जुड़े हैं। हमारे पुरखों ने अपने अनुभवसिंचित तीज-त्यौहारों को सँजोया है। छत्तीसगढ़ के तीज-त्यौहार हरेली से शुरू होकर फाल्गुन में होली तक चलते हैं। कोई मनुष्य तीज-त्यौहारों का संरक्षण और संवर्धन करता है तो प्रकृति से भी जुड़ता है। वर्तमान परिदृश्य में जलवायु परिवर्तन एक बड़ी चुनौती है। ऐसे में

लोकसाहित्य का उद्गम-स्थल ''प्रकृति'' को संरक्षित रखना और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

संदर्भ-ग्रंथ सूची :

1. डॉ॰ पालेश्वर प्रसाद शर्मा, छत्तीसगढ़ के तीज त्यौहार और रीति-रिवाज, अरपा पॉकेट बुक्स, बिलासपुर, 2005, पृ॰-19
2. प्यारेलाल गुप्त, प्राचीन छत्तीसगढ़, पं॰ रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय प्रकाशन, रायपुर, 1973, पृ॰-21
3. मदनलाल गुप्त, छत्तीसगढ़ की संस्कृति एवं लोक आयाम के विभिन्न स्वरुप, भारतेंदु साहित्य समिति प्रकाशन, बिलासपुर, 2003, पृ॰-98
4. मदनलाल गुप्त, छत्तीसगढ़ की संस्कृति एवं लोक आयाम के विभिन्न स्वरुप, भारतेंदु साहित्य समिति प्रकाशन, बिलासपुर, 2003, पृ॰-70
5. परदेशीराम वर्मा, मेरा छत्तीसगढ़, वैभव प्रकाशन, रायपुर, 2011, पृ॰-20
6. परदेशीराम वर्मा, मेरा छत्तीसगढ़, वैभव प्रकाशन, रायपुर, 2011, पृ॰-37
7. परदेशीराम वर्मा, मेरा छत्तीसगढ़, वैभव प्रकाशन, रायपुर, 2011, पृ॰-21
8. डॉ॰ पालेश्वर प्रसाद शर्मा, छत्तीसगढ़ के तीज त्यौहार और रीति-रिवाज, अरपा पॉकेट बुक्स, बिलासपुर, 2005, पृ॰-35
9. डॉ॰ बिहारीलाल साहू, छत्तीसगढ़ी भाषा और लोकसाहित्य, भावना प्रकाशन, 2003, पृ॰-165
10. डॉ॰ नरेंद्र देव वर्मा, छत्तीसगढ़ी भाषा का उद्विकास, छत्तीसगढ़ हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृ॰-12

इक्कीसवीं सदी में भोजपुरी की गीत परंपरा : अश्लील और श्लील का परिदृश्य

डॉ॰ धीरेंद्र प्रताप सिंह
पोस्ट डॉक्टोरल फ़ेलो
भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली एवं
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

शोध सार

भोजपुरी की गीत परंपरा में प्रतिरोध, राग-विराग, संयोग-वियोग, संस्कार और जन सरोकारों की चेतना प्रवाहित होती रही है। वहीं इक्कीसवीं सदी के भोजपुरी गीतों में अपसंस्कृति का प्रवेश तेजी से हुआ है। बाज़ार विज्ञापन और स्त्री देह पर केन्द्रित होकर भोजपुरी गीत अश्लीलता का वाहक बन रहे हैं। जिस भोजपुरी की पहचान कबीर, भिखारी ठाकुर, रसूल मियां, महेन्द्र मिसिर, रघुवीर नारायण, धरीक्षण मिश्र, मोती बी॰ ए॰, परगन राम और आगे चलकर गोरख पांडेय, राम जियावन दास बावला, अंजन जी, पांडेय कपिल, भोलानाथ गहमरी, कैलाश गौतम, तारकेश्वर मिश्र राही, शारदा सिन्हा, भरत शर्मा व्यास, मालिनी अवस्थी जैसे गायक-गायिकाओं, गीतकारों के साथ बनी, उसे इस दौर के तमाम नायक-नायिकाओं और एलबम के लिए गीत लिखने और गाने वाले गीतकारों ने मटियामेट किया। जो फूहड़ और अश्लील गीत और गायकी के साझेदार रहे, उनमें से अधिकांश अब अश्लीलता से मुक्त भोजपुरी की वकालत कर रहे हैं, यह स्वागत योग्य है। प्रस्तुत शोध पत्र, इक्कीसवीं सदी के संदर्भ में भोजपुरी के गीत गवनई में व्याप्त अश्लील और श्लील के परिदृश्य से रूबरू होता हुआ, उन भोजपुरी गीतों की पड़ताल करता है, जो अश्लीलता से परे भोजपुरी की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत को आगे बढ़ा रहे हैं। उन गीतों के विविध आयामों की परख है, जो भोजपुरी गीतों के वास्तविक मायने और महक को बताते हैं। भोजपुरी गीत परंपरा में श्लील शब्द के संदर्भ में कहना है कि अश्लीलता से मुक्त भोजपरी में जो गीत लिखे और गाए गए हैं, वस्तुतः उन्हें ही श्लील कहा गया है। श्लील का अर्थ होता है, जो अश्लील न हो। जिसमें स्त्री देह का नग्न प्रदर्शन शामिल न हो। जो लैंगिक, जातीय-धार्मिक भेदभाव से परे सुन्दर, श्रेष्ठ, सभ्य और संघर्षरत समाज का घोतक हो।

मुख्य शब्द

इक्कीसवीं सदी, भोजपुरी गीत, परंपरा, अश्लील, श्लील, परिदृश्य।

भोजपुरी गीतों के संदर्भ में डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय का यह कथन उल्लेखनीय है, ''हमारी ऐसी धारणा है कि भारतवर्ष में ग्राम गीतों की संपत्ति में संसार के अन्य देशों में सबसे अधिक धनवान है और भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा भोजपुर प्रांत की उर्वरा भूमि इस विषय में सबसे अधिक समृद्धिशालिनी है। भोजपुरी भाषा में ग्राम गीतों का अनंत भंडार भरा पड़ा है।''[1] सुपरिचित भोजपुरी गीतकार पाण्डेय कपिल और

भगवती प्रसाद द्विवेदी ने 'धार के खिलाफ' नाम से भोजपुरी गीतों का एक संकलन इक्कीसवीं सदी के शुरुआती वर्ष यानी 2001 ई॰ में संपादित किया। इस संकलन के प्राक्कथन में भगवती प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, ''भोजपुरिया समाज में त गीत केंद्रीय विधे भर ना, बलुक जिनगी के धड़कनो ह। इहेन ओजह बा कि पैदाइश से लेके मउवत ले कवनो संस्कार गीत के बेगर पूरा ना होला। इहां तो मउवतो पर गीत बा आ गारियो गवाला गीते में असल में लोकजीवन की जीवंतता के निशानी ह गीत। चाहे सुख होखे भा दुःख, हँसी होखे भा विषाद, सिंगार-अहवात-मिलन होखे भा बिछोह हरेक रंग-रूप, रस-गंध के सवदगर एहसास भोजपुरी गीत करावत आइल बाड़न स।''[2]

सुनील कुमार पाठक ने अपनी पुस्तक 'छवि और छाप' में लिखा है, ''भोजपुरी लोकगीतों में भोजपुरी क्षेत्र की पूरी लोक-आस्था, लोक प्रकृति, लोक मनभावना, लोक परंपरा, लोक संस्कृति, लोक व्याप्तियां, लोक धर्म, लोक संस्कार, लोक मर्यादाएं और सीधे तौर पर कहें तो पूरी लोक आत्मा मुखरित मिलती है।''[3] डॉ॰ तैयब हुसैन अपने लेख भोजपुरी लोकगीतों में प्रतिरोध के स्वर में लिखते हैं, ''भोजपुरी लोकगीतों में बच्चों के खेल गीत, मौसम गीत, श्रम गीत और कुछ जाति विशेष के गीत तथा पैदा होने से मृत्यु तक के संस्कार गीत हमारा ध्यान अपनी ओर खींचते जैन संझा पराती (प्रभाती), सोहर, झूमर, सोहनी रोपनी और जंतसार गीत, कजरी, होरी, चैता और बारहमासा, इन सबके विश्लेषण से यह बात छनकर आती है कि इनमें खुशी के स्वर क्षणिक हैं और दुःख के शाश्वत।''[4] हरिश्चंद मिश्र जी का कहना है, ''भोजपुरी लोकगीतों में शृंगार रस में संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष अधिकाधिक ग्रहण किया गया है। इसी से प्रेम का सच्चा एवं सहज स्वरूप प्रस्तुत होता है। भोजपुरी लोकगीतों में वियोगजनित वेदना इतनी तीव्रता तक पहुंचती है कि करुण का पोषक बन जाती है।''[5]

भोजपुरी गीतों की एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत होने के बावजूद इक्कीसवीं सदी के शुरुआत में ही भोजपुरी एलबम और द्विअर्थी गानों ने ऐसी दस्तक दी कि भोजपुरी धाराप्रवाह ढंग से अश्लीलता की ओर मुड़ गई। उसके बाद तो दर्जनों चर्चित गायक-गायिका और गीतकार इस परंपरा में जुड़ते हैं, जिन्होंने द्विअर्थी गाना ही नहीं बल्कि खुले तौर पर स्त्री देह का वस्तुकरण किया। मनीष जैसल ने 30 दिसंबर, 2017 को भोजपुरी की चर्चित गायिका कल्पना के संदर्भ में 'चोली का साइज बताने वाली कल्पना को भी, भोजपुरी में अश्लीलता अब अच्छी नहीं लगती।' शीर्षक से एक लेख में लिखा है, ''कल्पना पटवारी आज जिस भिखारी ठाकुर के मंच से भोजपुरी में अश्लीलता को खत्म करने की बात कर रही हैं, उन्हें अपना एल्बम और उसके गीत को याद कर लेना चाहिए। एक महिला होने के नाते भी अगर वो अपने गाये गाने पर विमर्श करें भोजपुरी सिनेमा आज जिस निचले स्तर पर है वह कभी नहीं होता। भोजपुरी गीतों में चोली, कजरा, चुम्मा, हुक, लेजर वगैरह की जब भी चर्चा होगी तो असम में जन्मी इस लोक गायिका के योगदान को भुला पाना आसान नहीं है।''[6]

भोजपुरी गीतों की अश्लीलता के संदर्भ में दिनेश लाल यादव निरहू के हवाले से अभिषेक श्रीवास्तव लिखते हैं, ''उस समय तक कम से कम केवाड़ी बंद कर के जो कुछ करना था किया जाता था। थोड़ा शर्म लिहाज बचा था। सात साल बाद कलकत्ता से दिनेश ने जब टेरी मारी, तो लोक संस्कृति की देह पूरी तरह उघड़ गयी। दिनेश लाल यादव का पहला सार्वजनिक परिचय था खुशबू राज के साथ उनका गाना 'निरहुआ सटल रहे।' इसके बाद वे निरहुआ कहलाए! इस समय तक मंचीय बिरहा या दंगल का कल्चर धीमा पड़ चुका था। पुराने बिरहा धुरंधर जा चुके थे। दादा पंधारी, उस्ताद हैदर अली जुगनू, बुल्लू दादा, ये सब के रहते जो आँख का पानी बचा था, 2000 के बाद धीरे-धीरे मर गया। भोजपुरी वालों को मनोज तिवारी की राह पर चलना अब आसान लग रहा था।

उधर पैसा था। ग्लैमर था। इसके लिए जितनी नंगई चाहिए थी उतनी सामाजिक रूप से स्वीकार्य और अर्जित हो चुकी थी। इस नयी परिस्थिति में निरहुआ को ऊपर चढ़ने में बहुत समय नहीं लगा।''[7] दूसरी ओर कुछ गीतकार और गायक-गायिका अपने आरंभिक दौर में भोजपुरी क्षेत्र की सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध लिखे और गाये, धार्मिक और देवी गीतों की रचना किए और उसे गाये, लेकिन उनमें से तमाम गीतकार और गायक-गायिका बड़ी जल्दी ही सस्ती और आसान लोकप्रियता की लहर में अश्लीलता पर उतर आए।

अश्लीलता की सीढ़ी चढ़कर आगे बढ़े तमाम गीतकारों और गायकों ने अश्लीलता के आरोपों को लेकर बड़ा ही सतही बयान दिया। 'लोग सुनते ही क्यों हैं?' ऐसा नहीं कि यह प्रश्न वाजिब नहीं है, लेकिन इस प्रश्न को उठाने वाले इसके हकदार नहीं। जन दवाब में ही सही लेकिन फूहड़ और अश्लील गीत और गायकी के जो साझेदार बन चुके हैं, उनमें से अधिकांश अश्लीलता से मुक्त भोजपुरी की वकालत कर रहें हैं, यह स्वागत योग्य है। भोजपुरी सिनेमा के चर्चित नाम रवि किशन जैसे अभिनेता, जिनके ऊपर खुद फूहड़पन और अश्लीलता का आरोप लग चुका है, 21 जून 2021 को NEWS 18 को दिए गए एक साक्षात्कार में बड़ी ही महत्वपूर्ण बात कहा, 'हम एगो फिल्म में काम कइलीं नाम रहे पंडित जी बताईं बियाह कब होई.. जेकरा में लहंगा अउर रिमोट वाला गाना रहे जेकरा खातिर हम क्षमा चाहेलीं.. लेकिन एलबम के नया दौर में जे गाना परोसल जात बा उ ठीक नइखे.. लोग कहेलन का हो का इहे बा भोजपुरी.. बड़ा खराब लागेला.. एकरा रोकना जरुरी बा। अइसन गाने गावे से पैसा गाड़ी, घोड़ा खूब होई लेकिन समाज इहो पूछी कि पैसा कमौउल, भोजपुरी साहित्य के कहां पहुंचवला, भाषा के कहवां पहुंचवला बुरा लगत होई जानेलीं हम लेकिन न्यूज़ 18 के दर्शक सबन से अपील बा कि एकरा रोके के होई परसेप्शन सेट नइखे होए दीं कि यही भोजपुरी बा।''[8] मनोज तिवारी मृदुल के भी कई गीतों पर अश्लीलता का आरोप लगा है। जिसमें उनके द्वारा गाए गए, 'बेबी बीयर पी के... और 'कुरती के टूट बा बटनियां' आदि गीतों का नाम लिया जाता है। हालाँकि, मनोज तिवारी मृदुल ने भोजपुरी को अश्लीलता से मुक्त करने के संदर्भ में 21 मई, 2022 को नवभारत टाइम्स को दिए एक इंटरव्यू में कहा, ''देखिए, गलतियां तो हुई हैं। उस कारण बहुत से लोगों का मन भी थोड़ा सा हटा। मैं भी उसमें शामिल हूं। मुझे लगा कि यार, ठीक नहीं हो रहा है। अभी हम भी दोबारा इसी शर्त पर जुड़ रहे है कि एक नई शुरुआत की जाए और पहले जिन भी कारणों से हमारी अच्छी चीजें भी दब गईं और वही वल्गैरिटी और अश्लीलता आगे आई, उसे हमें खत्म करना है।''[9]

वस्तुतः अब सोशल मीडिया में स्वीकार्यता ही लोकप्रियता समझी जा रही है। सोशल मीडिया में अधिक से अधिक लाइक, कमेंट और व्यूअर संख्या के ख़ातिर सस्ती और सतही गतिविधियां बड़ी तेजी से शामिल होती जा रही हैं। भोजपुरी के तमाम गीत और गाने भी इसी चपेट में हैं। बावजूद इसके यह समझा जाना चाहिए कि भोजपुरी का लोकरंग केवल वही नहीं है, जो सोशल मीडिया या मुख्यधारा की मीडिया में अश्लील गानों, फिल्मों और एलबम के रूप में प्रचारित है और दिख रहा है। अश्लीलता के समानांतर भोजपुरी की श्लील परंपरा भी ख़ूब समृद्ध हो रही है। भोजपुरी गीत परंपरा में श्लील शब्द के संदर्भ में कहना है कि अश्लीलता से मुक्त भोजपुरी में जो गीत लिखे और गाए गए हैं, वस्तुतः उन्हें ही श्लील कहा गया है। श्लील का अर्थ होता है, जो अश्लील न हो। जिसमें स्त्री देह का नग्न प्रदर्शन शामिल न हो। जो लैंगिक, जातीय-धार्मिक भेदभाव से परे सुंदर, श्रेष्ठ, सभ्य और संघर्षरत समाज का द्योतक हो।

भोजपुरी की श्लील परंपरा में सुपरिचित लोक-गायिका चंदन तिवारी जिस तरह से भोजपुरी लोक गीतों की समृद्ध परंपरा को ''पुरबिया तान'' नाम से सामने ला रहीं हैं, वह सुने जाने योग्य है। कबीर, भिखारी ठाकुर, महेंद्र मिसिर, रसूल मियां, कैलाश गौतम जैसे बेहतरीन गीतकारों के गीतों को चंदन

तिवारी ने बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से गाया है। अभी किशोयवय की गायिका मैथिली ठाकुर ने मिथिला और भोजपुरी के लोक संस्कार के गीतों को गाकर भोजपुरी को खूब़ मान दिया है। मैथिली ठाकुर का अपना 'यू-ट्यूब चैनल'[10] भी है। इस चैनल पर मैथिली और भोजपुरी की मिठास और महक बिखरी हुई है। नेहा सिंह राठौर ने राजनीतिक विसंगतियों पर प्रहार के गीतों के अलावा दांपत्य और पारिवारिक संस्कार से भी संबंधित कई मनोहर गीतों को लिखा भी है और गाया भी है।

इस बीच कई हिंदी फिल्मों में, मसलन 'आर्टिकल 15' (2019) फ़िल्म के लिए शकील आज़मी का लिखा गीत 'कहब त लग जाई धक से...[11], 'भीड़' (2023) फ़िल्म में डॉ॰ सागर द्वारा लिखा गीत खुनवा पसीना शहरिया में भईया/कौड़ी के भाव में बिकायल बा/चल उड़ चल सुगुणा गांवबा के ओरिया/ जहाँ माटी में सोना हेराइल बा.../[12]और 'महारानी 2' (2022) वेब सीरीज में डॉ॰ सागर द्वारा लिखा और जिसे शारदा सिन्हा ने गाया है, ''सेनुरा धुंआइ गइले/ रहिया अन्हार भइले/पियवा हमार होइ गए निर्मोहिया...''[13] जैसे भोजपुरी के सुंदर और प्रतिरोध के गीत सुनने को मिले हैं।

कैलाश गौतम के गीत तो भोजपुरी गीतों की थाती की तरह है। 'अमौसा क मेला' और 'गान्ही जी' जैसे गीत भोजपुरी की मिठास और प्रतिरोध दोनों की बानगी है। गान्ही जी गीत का एक अंश गौरतलब है, ''सिर फूटत हौ, गला कटत हौ, लहू बहत हौ, गान्हीजी / देस बंटत हौ, जइसे हरदी धान बंटत हौ, गान्हीर जी / बेर बिसवतै ररूवा चिरई रोज ररत हौ, गान्ही जी / तोहरे घर करामै मालिक सबै कहत हौ, गान्ही जी /''[14] हिंदी के कवि माने जाने वाले गोरख पांडेय ने प्रतिरोधी चेतना से लैस भोजपुरी में एक से बढ़कर एक गीत लिखा। उनका एक गीत खूब़ लोकप्रिय है, ''समाजवाद बबुआ, धीरे-धीरे आई/ समाजवाद उनके धीरे-धीरे आई/हाथी से आई/ घोड़ा से आई/अँग्रेज़ी बाजा बजाई/समाजवाद/नोटवा से आई/वोटवा से आई/बिड़ला के घर में समाई/ समाजवाद/गांधी से आई/आँधी से आई/टुटही मड़इयो उड़ाई/समाजवाद।''[15]

तारकेश्वर मिश्र राही का एक बहुत ही मार्मिक भोजपुरी गीत यहाँ उल्लेखनीय है, ''खेत बारी बट जाई/अरे अंगना दुवरवा, पाई पाई विरना/हो कईसे भाई के सनेहिया बाटल जाई विरना/कईसे भाई के सनेहिया बाटल जाई विरना/''[16] यह गीत पारिवारिक बंटवारे में भाई-भाई के बीच के संवाद का है। दहेज की आग में भोजपुरी क्षेत्र भी खूब़ जलता है। दहेज से प्रताड़ित बेटियों और बाप के लिए भोजपुरी में बहुत ही मार्मिक गीत मौजूद हैं। भरत शर्मा व्यास के लिखे और गाए एक गीत के बोल आज भी बहुत विचलित करते हैं। वह गाते हैं, ''जनती जे जारल जईबू आग में दहेज के पाप नहीं करती बेटी ससुरा में भेज के/''[17] चंदन तिवारी ने 'पुरबिया तान'[18] नामक अपने यू ट्यूब चैनल के जरिए भोजपुरी की विरासत को खूब़ गमकाया है। भोजपुरी के तमाम ख्यातिलब्ध और गुमनाम गीतकारों की बेजोड़ गीतों को वह सुमधुर ढंग से गा रहीं हैं।

विगत वर्षों में कुछ युवा गीतकारों ने भोजपुरी गीतों की श्लील परंपरा में महती योगदान दिया है। युवा गीतकार सुशांत शर्मा की एक रचना 'बारहमासा' का एक गीत खूब सुना और पसंद किया जा रहा है, ''कहियो आवऽ न हमारा मकान चिरई...''[19] एक दूसरे गीत में सुशांत गाते हैं, ''लोहे की टंगुलिया से बगिया में बाबा, कटिहा न अमवा के सोर हो..''[20], तथा ''असमान में दरार परे तो परे...''[21] मार्मिक और बेजोड़ संदेशपरक गीत हैं। पिया और प्रेम को लेकर नेहा सिंह राठौर के एक गीत से भोजपुरी गीतों की श्लील परंपरा का परिचय मिलता है। गाने का बोल है, ''हमरी राजा जी के गलिया पर तिल ए सखि / हमरे पियवा बिना निक नइखे लागत ए सखि...''[22] श्लील परंपरा में युवा पीढ़ी के अग्रज गीतकार मनोज भावुक के गीतों और गजलों में बड़ी कसक और प्रेम भावों की सुंदर व्यंजना है। अपने काव्य संग्रह 'चलनी में पानी' के गीत खंड में उनका एक गीत उल्लेखनीय है, ''नेह तहरा से लागल अंजोर हो गइल/सांच मानऽ जिनिगिया

में भोर हो गइल/''[23] एक अन्य गीत में लिखते हैं, ''पिरितिया लगा के भुला त न जइबऽ/हिया में समा के परा त न जइबऽ।''[25]

दरअसल, अब यह बात हाशिए पर जा रही है कि गीतों की दुनिया में भोजपुरी का रंग कितना स्वस्थ और चटक रहा है। वह कितना जनपक्षधर और संयोग-वियोग के सुंदर शब्दों का तान रही है। हाशिए पर ही सही लेकिन आज भी भोजपुरी के अनेक गीतों का राग-रंग और तान बेहद मर्मस्पर्शी और जनपक्षधर है। इक्कीसवीं सदी में तकनीक प्रदत्त यू-ट्यूब और फेसबुक के जरिए भोजपुरी लोक की परंपरागत और उसी परंपरा को आगे बढ़ा रहे नए गीतों की उपस्थिति सुखद है। जिसमें शारदा सिन्हा, भरत शर्मा व्यास, मालिनी अवस्थी के अलावा नए लोगों में चंदन तिवारी, मनोज भावुक, मैथिली ठाकुर, नेहा सिंह राठौर, सुशांत शर्मा, डॉ॰ सागर आदि ने भोजपुरी गीतों के वास्तविक रंग को खूब़ चटक किया है।

संदर्भ :

1. उपाध्याय, डॉ॰ कृष्णदेव (1999) भोजपुरी लोक-गीत भाग-2, पृ॰-2 इलाहाबाद (प्रयागराज) : हिंदी साहित्य सम्मेलन।
2. पांडेय कपिल & द्विवेदी, भगवती प्रसाद (सं॰) (2001) धार के खिलाफ़ (भोजपुरी गीत-संकलन), पृ॰-3 पटना : अखिल भारतीय भोजपुरी साहित्य सम्मेलन।
3. पाठक, सुनील कुमार (2015) छवि और छाप, पृ॰-167 नई दिल्ली : ग्रंथ अकादमी।
4. कुशवाहा, सुभाष चंद्र (सं॰) (2009) लोकरंग-1, पृ॰-168 दिल्ली : सहयात्रा प्रकाशन।
5. मिश्र, हरिश्चंद (2018) भोजपुरी लोकगीतों में श्रृंगार एवं करुण रस का स्वरूप। हिंदुस्तानी त्रैमासिक, भोजपुरी पर केंद्रित विशेषांक (अंक-3-ए जुलाई-सितंबर 2018), पृ॰-49 प्रयागराज : हिंदुस्तानी एकेडमी।
6. https://www.google.com/amp/s/www.ichowk.in/lite/cinema/became-popular-with-double-meaning-songs-kalpana-patowary-is-now-against-vulgarity-in-bhojpuri-film-industry/story/1/9345.html
7. https://champaranupdates.com/%E0%A4%A8%E0%A4%BF%E0%A4%B0%E0%A4%B9%E0%A5%81%E0%A4%86-%E0%A4%B8%E0%A4%9F%E0%A4%B2-%E0%A4%B0%E0%A4%B9%E0%A5%87-%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE-%E0%A4%87%E0%A4%B8-%E0%A4%AC%E0%A5%80%E0%A4%AE/
8. https://hindi.news18.com/news/entertainment/bhojpuri-ravi-kishan-shares-his-views-on-removing-vulgarity-from-bhojpuri-cinema-watch-video-ashas-3629015.html
9. https://navbharattimes.indiatimes.com/entertainment/interviews/first-bhojpuri-ott-platform-chaupal-launched-manoj-tiwarisays-we-shall-try-to-remove-vulgarity-through-this-app/articleshow/91702124.cms
10. https://youtube.com/@maithilithakur
11. https://youtu.be/S77JjT0FqaA
12. https://youtu.be/Sd68k9wgQnI
13. https://youtu.be/qb6iplb4ERY
14. गौतम, श्लेष (सं॰) (2017), कैलाश गौतम समग्र, खंड-2, पृ॰ 190, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन।
15. वर्मा, जीतेन्द्र (सं॰) (2009), गोरख पांडेय के भोजपुरी गीत, पृ॰-1, नई दिल्ली : राष्ट्रीय पुस्तक न्यास।
16. https://www.maina.co.in
17. https://youtu.be/oyYdvOwo3Yk
18. https://youtube.com/@ChandanTiwari
19. https://youtu.be/74apgUjbyuw
20. https://youtu.be/MhJSKs5bNBE
21. https://youtu.be/i3HgS_umD1s
22. https://youtu.be/YiHOD9gwPBQ
23. भावुक, मनोज (2010) चलनी में पानी, पृ॰-48, दिल्ली : नवशीला प्रकाशन।
24. वही, पृ॰-49

उत्तराखण्ड के लोकगीतों में देवलोक व जनलोक सम्बन्ध : एक अवलोकन

डॉ॰ अर्चना डिमरी
व्याख्याता इतिहास विभाग,
कन्या गुरूकुल परिसर, देहरादून।

शोध सारांश

लोकगीत सम्पूर्ण विश्व में गाये जाते हैं वो किसी भी क्षेत्र विशेष सम्बन्ध में वहाँ के जन-जीवन के सरलतम पक्षों को रखते हैं लोग गीतों में लोक जीवन की छाप तो दिखती ही है, साथ ही वो क्षेत्र के जन-जीवन के सांस्कृतिक, सामाजिक व धार्मिक पक्षों को भी सरल रूप में दृष्टिगोचर करने में सहायक भूमिका का निर्वाह करते हैं। माना जाता है जब से मनुष्य ने सामाजिक जीवन को जीना शुरू किया यानि नियमों में रहकर अनुशासित जीवन को जीने का रूप उसने अख्तियार किया तब से उसने प्रकृति के साथ समंजस्यता निभाने का प्रयास भी किया और उसी के फलस्वरूप देवी-देवताओं की परिकल्पना को अपने जीवन में आत्मसात करने का प्रयास भी शुरू कर दिया।

मुख्य शब्द

उत्तराखण्ड, लोकगीत, सामाज, संस्कृति, वेद

उत्तराखण्ड में लोकगीतों में देव व जनलोक के सम्बन्ध को बहुत ही सरल रूप में दर्शाया गया है जोकि हमें इस बात को बताता है कि मनुष्य अपने जीवन में अपने आराध्य के रूप में और साथ ही अपने जीवन में अनुशासन बनाये रखने के लिये भय दण्ड के रूप में किसी को अपना सर्वमान्य स्थान देता है और यही यहाँ के लोकगीतों में भी देखने को मिलता है। यहाँ के लोकगीतों में गणेश, शिव, विष्णु, दुर्गा, नन्दा के साथ ही साथ कुलदेवता/कुलदेवी, धण्डियाल मुस्लिकसैद आदि लोक देवी देवताओं का आह्वान भी देखने को मिलता है। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से देव व जनलोक के सम्बन्ध को समझने का प्रयास किया गया है और साथ ही इस बात को भी उजागर करने का प्रयास किया गया है कि कैसे जनसामान्य सुख समृद्धि बढ़ाने, रोग व्याधियों से मुक्ति पाने, भूत-प्रेतों, प्राकृतिक विपदाओं से दूर रहने के लिये देव-लोक व जनलोक के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं और संयमित जीवन की परिपाटी पर चलाने का प्रयास करते हैं ताकि प्रकृति व जनसामान्य के बीच समंजस्यता बनी रहे। इस शोध पत्र के माध्यम से इस बात पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा कि कैसे लोकगीतों की परम्परा से लोकसंस्कृति के संरक्षण के साथ ही साथ प्रकृति व सामाजिक मूल्यों व संस्कारों का भी संरक्षण सरल रूप में प्राप्त किया जा सकता है और किसी क्षेत्र में लोक देवता के रूप में किसी भी धर्म विशेष से सम्बन्ध बनाये जा सकते हैं। यहाँ पर सैदगीतों का जिक्र विशेष रूप से किया जायेगा।

इतिहास हमें बताता है कि मनुष्य पाषाणकाल से ही प्राकृतिक शक्तियों के साथ अपने सम्बन्धों को बनाने के लिये प्रयास करता रहा है। उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के असफल प्रयास भी किये पर जब उसे प्रकृति की शक्तियों का अन्दाजा लगा तो उसने प्रकृति के रूपों के साथ अलग-अलग कल्पनाओं का सहारा लेकर अपने लिये नियम बनाने शुरू कर लिये। माना जाता है कि जब पाषाण युग में मानव ने दैवीय व दानव शक्तियों की शुरूआत करली थी तब वो उन्हें खुश करने के लिये अनेक प्रकार के अनुष्ठान, पूजा आदि करता था। यहाँ एक और बात स्पष्ट करना जरूरी है कि ऋग्वेद में भी प्रकृति के रूप में देवी-देवताओं की स्तुति ऋचाओं में संकलित मिलती है। प्रकृति के विभिन्न देवीय शक्तियों के रूप में आकाश, पृथ्वी, इन्द्र, सूर्य, वायु आदि की स्तुति की गई है। (ओम प्रकाश 2001:13) ऋग्वैदिक काल की शुरूआती चरण में आर्यों द्वारा पशुपालन के लिये जगह-जगह भटकाव दिखता है। इसी यायावर जीवन के लिये उन्हें प्राकृतिक शक्तियों से प्रभावित होना पड़ता था। शायद यही कारण कि उनके सभी देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक रहे। ऋग्वैदिक काल में लोगों द्वारा पशु, धान्य, आरोग्य सन्तति आदि की कामना हेतु देवताओं की पूजा करते थे। (शर्मा, रामशरण, 81, 1995) ऐसे ही उत्तराखण्ड में भी वृक्ष, मंदिरों, पूजा, देव आह्वाहन के रूप में देखने को मिलते हैं वृक्ष, मंदिरों में अश्वत्थ, वट, पवन, देवदास आदि वृक्षों में चाराओं और वेदिका बनाकर उसकी पुष्प, जल, और बलि के द्वारा पूजा-अर्चना की जाती रही है। (कठोच, यशवंत सिंह, 73, 1996) देवताओं से उचित न्याय करने की कभी अपेक्षा देखने को मिलती है। इसलिये आपसीवाद-विवादों में देवता को न्याय करने के लिये आह्वानित किया जाता था। जब कभी दो पक्षों में खेत या अन्य विषय सम्बन्धी विवाद हो जाता है तो उनमें से एक पक्ष न्याय हेतु देवता के पास जाता था। वह उक्त देवता को न्याय हेतु पुकारता तथा अपने शत्रु के अनिष्ट करने की माँग करता। उत्तराखण्ड जौनसार-बावर में यह प्रथा थी कि कोई भी व्यक्ति अपने दुश्मन के खेत की मिट्टी या मकान का पत्थर महासू देवता (जौनसार के अतिलोकप्रिय देवता) को अर्पित कर देता था और अनिष्ट की अशंका से खेत मन मकान का मालिक अपना खेत या स्थान छोड़ देता था। (एटा किन्सन ई.टी. 1998 340) उत्तराखण्ड में लोकदेवता भी व्यक्ति को अनुशासन, नियमों का पाठ पढ़ाते हैं यहाँ लोकदेवता की पूजा सर्वोपरि मानी जाती है। ऐसे ही न्याय के देवता के रूप में कुमाऊँ के घरों में 'गोलू देवता' की पूजा अर्चना की जाती है। गोलू देवता व्यक्ति को समाज में किस प्रकार नियम, अनुशासन, नीतियों का पालन करना चाहिये इसकी शिक्षा देते हैं। गोलू देवता सत्य और न्याय के प्रतीक माने जाते हैं। (नौटियाल 1981:126) इस संदर्भ में बद्रीदत्त पाण्डे कहते हैं कि कभी पड़ोसी से अत्याचार, अन्याय होने पर गोलू देवता के मंदिर में घात डाली जाती है और उनसे प्रार्थना की जाती है कि वह अन्यायी के घर में घुसकर उसे दण्ड दे। इस तरह यदि घर में कोई बीमार या तंग हो गया हो तो उसे घात लगना कहते हैं। (पाण्डे, बद्रीदत्त 1990: 664) गोलू देवता के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वो गरीब और शोषित व्यक्ति की दुःख, परेशानी को अवश्य सुनते हैं, व्यक्ति अपनी फरियाद लेकर गोलू देवता के पास जाता है। (बिष्ट, 2004:249) गोलू देवता को लेकर एक प्रचलित लोकगीत :

गौतिमामहाराजा तुमरौ नाम लिनो
दुदाधारीकृष्ण अवतारी तुमरौ नाम छ
राजवंशीदेवछा जसकारी नमक को मांगी
बुथुहालराई, बाथु झालराई,
माताकालिक (बलूनी, 2005:55)

गोलू देवता को कृष्ण का अवतार व राजवंशी बताया गया है जिसमें उन्हें न्याय व सत्य का देवता बताते हुए लोकगीतों में अन्याय के विरूद्ध लड़ने वाला देवता माना गया है, जिससे लोगों के मन में

उनके प्रति प्रेम, सम्मान के साथ ही गलत काम करने पर उनके द्वारा दण्ड दिये जाने का भय भी देखने को मिलता है जो समाज में आमजनों को अनुशासन, संयम, नियमों से जीवन-यापन करने की सीख देता है। ऐसे ही लोकदेवता को जनसामान्य के मध्य अवतरित करने के लिये जागरगीतों को गाया जाता है। जागरगीतों के अन्तर्गत ही घडयाली (देवी-देवताओं की गाथा का बखान करने वाला जो गीत/गाथा गा-गाकर डमरू बजाया जाता है) लगती है, यानि शुरूआत होती है। जागरगीत भक्ति के महाकाव्य है जिन्हें धामी (जागरी गीत गाने वाला) गाते हुए देवी-देवता विशेष के पूजा-अर्चना, परिचय वंशावली एवं महान कृतित्व का वर्णन करता है। (नौटियाल, शिवानन्द, 198; 73-74) 'जागर' शुद्ध संस्कृत शब्द है, जो जागत के साथ धल्प्रत्यय लगाकर बना है जिसका अर्थ होता है- जागरण/कालिदास के 'रघुवंश' और महाभारत के जागर पर्व प्रसंग में जागर शब्द का उल्लेख आया है। रात में जागरण कर या किसी अन्य माध्यम पर देवी शक्ति के आह्वान, अवतरण और नृत्यमयी पूजा के किए गए अनुष्ठान तथा गीतों को जागर कहा जाता है। (चातक, गोविंद, 1996: 19) जागर स्तुति गीत माने जाते हैं, जिनमें देवताओं के अवर्णनीय गुण, शौर्य, वीर्य, पौरूष और अद्भुत शक्तियों का गान किया जाता है जनपदीय परम्परा में जागर असुप्त अवस्था के प्रतीक है। इनका गान देव विशेष का आह्वान है। स्थानीय देव जिनमें नागराजा, नरसिंह, हत्या, आछरी, भैसें, निरंकार आदि प्रमुख माने जाते हैं। इन देवों का अपना विशेष महत्व है यहाँ के लोग जीवन में। (बाबूलकर, 1956; 100-101) लोक देवी-देवता के पूजन में सर्वप्रथम जागरी स्थानीय भूम्याल का स्मरण करता है, उदाहरण :

जैजस के धरतीमाता
जैजस के कुरम द्यवता
जैजस के भूमि का भूम्याल
जैजस के गंगामाई
जैजस के पंचनाम द्यवता (नौटियाल, 990: 73)

अर्थात् हे! धरती माता हे! कुरम देवता, हे! भूमि के भुम्याल हे! गंगामाई, हे! पंचनाम देवतों यहाँ आकर इस देव पूजन को सबके लिए कल्याणकारी बनाओ।

उत्तराखण्ड के जागर गीतों में सैदजागर भी लगाये जाते हैं जोकि हिन्दू मुस्लिम के सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध दर्शाते हैं। साथ ही ऐतिहासिक परंपराएं संकेत देती है कि पहाड़ के हरिजन/शिल्पकार/दलित वस्तुतः निरंकारी हैं- उनकी पूजाओं में कबीर का नाम आता है, पहाड़ में प्रचलित झाड़-फूंक के मंत्रों में कबीर की गिनती सिद्धों में की गयी है। (बडथ्वाल, 1995:83) पहाड़ों में लोकप्रिय धर्मया भय की पूजा का प्रावधान है वैसे तो भगवान को महान देवता माना जाता है लेकिन यह भी स्वीकृत विश्वास है कि 'भगवान' ने अनिष्टकारी दुरात्माओं को छूट दे रखी है कि वे मानव को हानि पहुँचा सकते हैं, इन बुरी आत्माओं के कोप को शान्त करने के लिये सभी प्रयास करते हैं। (एटकिन्सन, 1884, 56) यहाँ यह माना जाता है कि जब किसी पर मुस्लिम आत्मा का प्रभाव पड़ता है तब उसके प्रभाव से मुक्त करने के लिये बाबा आदम को याद किया जाता है। सैद्वाली नामक गीतों को गाकर और मंत्र पढ़कर प्रभावित व्यक्ति के ऊपर से उस आत्मा या प्रेतात्मा के प्रभाव को दूर किया जाता है। सैद्वाली गीत का उदाहरण :

बाबा आदम को सलाम
हव्वा अम्मा को सलाम
कलुवा बाबा सैद को सलाम
रहिमान्मुकुल किशोर पठान तख्त को सलाम
फूलपरी बहन को सलाम
हे मेरे मेहरबान, मेरे ऊपर हो जाओ मेहरबान
सलाम भाई सलाम, सलाम! (नौटियाल, 1981:157)

सैद के जागर गीतों में हिन्दु-मुस्लिम एकता भी दिखती है जो अपने आप में अनूठापन लिये हुए है। ऐसी ही अनूपाठपन लिये नंदाराज यात्रा के गीत भी माने जाते हैं। नंदा की यात्रा की शुरूआत कब,

कैसे, किसने शुरू की इसका कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं पर लोकगीतों व जनश्रुतियों के आधार पर यह माना जाता है कि इसकी शुरूआत प्रथम सहस्त्राब्दि के अन्तिम चरण यानि नवीं शताब्दी से हुई थी। (शर्मा डी॰ डी॰ 1990:301) नन्दा के जागरगीत में देवी को बेटी स्वरूप माना गया है और उसके रूप में पहाड़ की बेटियों की पीड़ा को भी दर्शाया गया है कैसे पहाड़ की बेटियाँ विवाह के पश्चात दूर पहाड़ में विवाह होने के कारण मायके की याद व आस में रहती है और जब उनका मायका आने का अवसर मिलता है तब मायके में रहने के पश्चात ससुराल जाते समय किस प्रकार सभी लोग उसकी भावभीनी विदाई करते हैं। इसी बीच में तरह-तरह के गीतों का गायन भी होता है जिसमें कई गीतों में नंदा की व्यथा कही जाती है। उदाहरण :

होलो जसी होलो हिऊँ कोडिसाण
होलो जसी होलो हिऊँ की ठिकाण
बाबाजी का देस देख क्या धामलग्यूँ च
ससुरजी का देसबोई कुमेड़ी लौरवींच।
(नौटियाल 1981:107)

यानि बर्फ का मेरा बिस्तर और बर्फ ही मेरा ओढ़ना होगा। मेरे पिता के देश में कितनी सुन्दर धूप है और ससुर प्रदेश में कुहरा आवृत किए है।

नंदा के बारे में अनेक जन श्रुतियाँ कहीं जाती है। प्रसिद्ध संस्कृतिकर्मी भी डॉ॰ राकेशभट्ट बताते हैं कि नंदा जो शिव की पत्नी है और हिमालय व मैना देवी की सन्तान वो शिव से विवाह के बाद अपने मायके के लिये व्याकुल होती है उनकी व्यथा को लोक गीतों के द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। जोकि असल में पहाड़ के बहु-बेटियों की व्यथा मानी जाती है। (भट्ट, राकेश, वार्ता) इसमें एक प्रसंग का जिक्र करना अति आवश्यक है कि जब सती अपने पति शिव से अपने मायके जाने की बात कहती है तो लोक गीतों में वार्तालाप का उदाहरण बहुत रोचक है :

चार दिन स्वामी जी, मैं तुड़ा जयादू
रात दिन गौरा, त्वीकूकनूमैत होये।
मेरा ब्वैबाबू को सूणेजज्ञ जूड़े भारी
सबीदीदी भुलि न्यूतिनूनी न्यूति गौरा।

ये प्रसंग सती के अपने मायके जाने से सम्बन्धित है जिसमें शिव उनको मना कर रहे हैं और सती अपने पिता के घर जाने की बात कह रही है। (चातक 1996:117) इस प्रकार उत्तराखण्ड के लोकगीतों में जनसामान्य के साथ में देवताओं के सम्बन्ध को बहुत ही सहज रूप में दर्शाया गया है।

यहाँ के लोक गीतों में जहाँ न्याय, दण्ड, भय की बात बतायी गयी है, और उससे सम्बन्धित देवताओं के साथ में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया गया है। वहीं दूसरी ओर प्रकृति के साथ समंजस्यता को स्थापित करने का संदेश भी दिया गया है। नाग देवता, भूमि देवता, वायु देवता, अग्नि देवता का लोकगीतों में आह्वान कर उनके महत्व को दर्शाया गया है। इसी के साथ सामाजिक एकता का परिचय भी लोकगीतों में देखने को मिलता है जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता की मिसाल मिलती है। साथ ही स्त्री चेतना की भी बात लोकगीतों में दिखती है जो पहाड़ में स्त्रियों के जीवन की परेशानियों और उनको दूर करने में संयुक्त प्रयासों को दिखाता है।

आज आवश्यकता है, कि उत्तराखण्ड के लोकगीतों को सही रूप में संरक्षित करके उन्हें जन-जन तक पहुँचाया जा सके ताकि क्षेत्र के मौखिक इतिहास को नई पीढ़ियों तक हस्तान्तरित किया जा सके और साथ ही साथ आमजन के अन्दर लोक देवता के प्रति आदर व भय दोनों प्रकार के भाव पैदा किये जा सके जिससे जन-सामान्य संयमित जीवन जीने की प्रेरणा पा सके।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. ओम प्रकाश प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 2001

2. शर्मा राम शरण, प्राचीन भारत (अनुवाद गोविन्द झा) एन॰ सी॰ ई॰ आर॰ टी॰ नई दिल्ली वर्ष 1995
3. कठोच यशवन्त सिंह, मध्य हिमालय संस्कृति के पद चिह्न (खण्ड-1) भागीरथी प्रकशन गृह, नई टिहरी वर्ष 1996
4. एटाकिन्सन, ई॰ टी॰ हिमालयन गजेटियर ग्रन्थ-3, भाग-1, अनुवादक प्रकाश थपलियाल उत्तराखण्ड प्रकाशन हिमालय संचेतना संस्थान आदि बदरी, वर्ष 1998
5. नौटियाल, शिवानन्द, 1981, गढ़वाल के लोकनृत्य गीत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
6. पाण्डे, बद्रीदत्त, 1990, कुमाऊँ का इतिहास अल्मोड़ा, अल्मोड़ा बुक डिपो।
7. बिष्ट, शेर सिंह, 2004, उत्तरांचल : भाषा एवं साहित्य का संदर्भ नई दिल्ली, इंडियन पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रिब्यूटर्स
8. बलूनी, दिनेशचन्द्र, 2005, उत्तरांचल के लोकगाथा-गीत, भारत सरकार सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय।
9. नौटियाल, शिवानन्दपूर्वोक्त
10. चातक गोविंद, 1996, गढ़वाली लोकगाथाएँ नई दिल्ली, तक्षशिला प्रकाशन।
11. बाबुलकर मोहनलाल 1956, गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन।
12. नौटियाल, शिवानन्द, 1990 गढ़वाल के लोकनृत्य एवं लोकनृत्य अल्मोड़ा, श्री अल्मोड़ा बुक।
13. बड़थ्वाल, पीताम्बर दत्त, 1995, उत्तराखण्ड में संत साहित्य, चातक गोविन्द (संपादक) पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध, नई दिल्ली तक्षशिला प्रकाशन।
14. एटकिन्सन ई॰ टी॰ 1884, गजेटियर ऑफ द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट ऑफ द नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्स ऑफ इंडिया वाल्यूम-2, कोस्मो पब्लिकेशन।
15. नौटियाल, शिवानन्दपूर्वोक्त
16. शर्मा, डी॰ डी॰ 1990, उत्तराखण्ड लोक देवता, हल्द्वानी, अंकित प्रकाशन।
17. नौटियाल, शिवानन्दपूर्वोक्त
19. भट्टराकेश, वार्ता, दिनांक 9-11-19 स्थान देहरादून, समय सांय 5.00 बजे
20. चातक, गोविन्दपूर्वोक्त।

पूर्वांचल क्षेत्र में पत्यायुष्य अभिवर्धन निमित व्रत एवं कथाएं : एक परिचय

विदुषी जायसवाल
शोध छात्रा, नृत्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ॰ रंजना उपाध्याय
सहायक आचार्या, नृत्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सारांश

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य प्राचीनकाल से ही कथाओं से ओत-प्रोत है। जहां एक ओर लोक में वीरों की कथाएं प्रचलित हैं वहीं दूसरी ओर व्रतों एवं पर्वों की भी विशिष्ट कथाएं हैं। इन व्रतों की कथाओं को ही वेदों एवं मीमांसा की भाषा में अर्थवाद कहा गया है। कथा को यदि साहित्य की दृष्टि से विचार किया जाए तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि चरित काव्यों को ही अधिकतम रूप से कथा का नाम दिया गया है। वर्तमान कालिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में कथा दो अर्थों में अभिव्यंजित है, एक सामान्य कहानी एवं दूसरी अलंकृत काव्य। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं कि पंचतंत्र आदि की कहानियों को सामान्य कहानी की श्रेणी में रख सकते हैं तथा महाभारत, पुराणों के आख्यान तथा साहित्यकारों की रचनाएं यथा कादंबरी आदि भी कथा की श्रेणी में ही आती हैं, परंतु यह कथा शब्द यहां विशिष्ट अर्थ में अलंकृत काव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।

शास्त्रों में कथा की चर्चा सर्वप्रथम अग्निपुराण में प्राप्त होती है। अग्निपुराण के अनुसार कथा के पांच प्रकार हैं - कथा, आख्यायिका, खंड कथा, परिकथा एवं कथानक। धीरे-धीरे पौराणिक काल के बाद साहित्यकारों में कथाएं व आख्यायिका को ही पहचान मिली। लक्षण ग्रंथों में जैसे काव्य प्रकाश, काव्यादर्श, साहित्य दर्पण आदि में प्रतिपादित है कि कथा के आरंभ में मंगलाचरण तदनंतर स्वकुल का परिचय एवं कथा का उद्देश्य प्रतिपादित होना चाहिए। कथा के प्रस्तावक के भी रूप में एक कथांतर भी होना चाहिए। इस प्रकार कथाओं के अनेक लक्षण साहित्य ग्रंथों में बताएग। इन कथाओं के महिमा का वर्णन पुराणों में भी खूब किया गया। पौराणिक कथाएं धीरे-धीरे जनमानस के बीच व्रत एवं त्योहारों का हिस्सा बन गईं। उत्सवों के साथ इनके सम्मिश्रण ने इन उत्सवों को और भी रुचिकर बना दिया। इन पौराणिक आख्यानों को अलग-अलग भौगोलिक परिवेश में अलग-अलग मान्यता मिली। दक्षिण भारत में पर्वों के पीछे अलग कथानक जुड़े तो वही उत्तर भारत में अलग। इन कथाओं के अर्थवाद भी भिन्न- भिन्न प्रकार से हुए। जैसे पुत्र प्राप्ति के लिए भिन्न

व्रत तथा भिन्न कथाएं वहीं पति के दीर्घायु की कामना से भिन्न व्रत एवं भिन्न कथाएं प्रचलित हुईं। प्रस्तुत शोध लेख इन्हीं कथाओं में पूर्वांचल में प्रचलित पत्यायुष्याभिवर्धन हेतु व्रतों एवं उनकी कथाओं का विश्लेषण है।

मुख्य बिन्दु

व्रत, कथाएं, परंपरा, पत्यायुष्य अभिवर्धन, पूर्वांचल।

1. हरितालिका तीज :

हरितालिका तीज पूर्वांचल में मुख्य रूप से स्त्रियों द्वारा अपने पतियों के लिए किया जाता है, इस व्रत में वह अपने सुहाग के लंबी आयु व अच्छे स्वास्थ्य की कामना करती है। इस व्रत के अंतर्गत वह शिव व पार्वती की उपासना करती है, एवं शिव व पार्वती संबंधित कथा सुनती है बिना कथा सुने व्रत को पूर्ण नहीं माना जाता। इस कथा के अनुसार माता पार्वती ने अपनी बाल्यावस्था में बारह वर्षों तक अधोमुखी होकर हिमालय पर स्थित गंगा के तट पर घोर तपस्या की समाता पार्वती के पिता गिरिराज से अपनी पुत्री का कष्ट देखाना गया अतः वे अत्यंत विचलित रहते थे।

एक दिन नारदजी माता पार्वती के घर पधारे एवं भगवान विष्णु के लिए गिरिराज से उनकी पुत्री पार्वती का हाथ मांगा, गिरिराज यह सुनकर गदगद हो उठे। प्रसन्नचित होकर उन्होंनेविवाहकेप्रस्तावकोस्वीकारकर लिया परंतु मां पार्वती इस विवाह प्रस्ताव से दुःखी थी उन्होंने अपनी व्यथा अपनी एक सखी को बताई और कहा मैंने सच्चे हृदय से भगवान शिव का वरण किया है। मैं प्राण त्याग दूंगी परन्तु भगवान शिव के अलावा किसी अन्य पुरुष को पति रूप में स्वीकार नहीं करूंगी, इसके पश्चात अपनी सखी के कहने पर माँ पार्वती घनघोर वन में चली गई एवं साधना स्थली बनाकर शिव की साधना में लीन हो गई। भाद्रपद शुक्ल तृतीया को हस्त नक्षत्र को मां पार्वती ने रेत का शिवलिंग बनाकर व्रत किया उनकी इस कष्ट साध्य तपस्या के प्रभाव से स्वयं शिव मां पार्वती के समक्ष प्रस्तुत हुए समां पार्वती ने शिव से वर में उन्हें पति स्वरूप मांगा, शिव ने उन्हें अपनी पत्नी रूप में स्वीकार किया एवं कैलाश को लौट गए। अतः इस कथा के अनुसार भाद्रपद की शुक्ल तृतीया को जो भी कुंवारी स्त्री यह व्रत करती है व शिव तथा पार्वती की आराधना करती है, उन्हें शिव मनोवांछित फल देते हैं एवं उनका सुख-सौभाग्य अखंड रहता है।

2. करवा चौथ :

यह व्रत अति प्राचीन है इसका प्रचलन महाभारत से भी पूर्व का है समान्यता के अनुसार सुहागिने इस व्रत को अपने सुहाग की दीर्घायु के लिए रखती है। कहा जाता है इसे पांडवों की पत्नी द्रौपदी ने भी किया था। यह व्रत कार्तिक कृष्णपक्ष को चंद्रोदय चतुर्थी में किया जाता है। करवा चौथ के दिन सुहागिन महिलाएं अपने पति की दीर्घायु के लिए निर्जला व्रत रखती है जो शाम को चन्द्रमा देखने के बाद पूर्ण माना जाता है। भारत के पूर्वांचल हिस्सों में इस व्रत का अत्यधिक महत्व है एवं यह व्रत अपने नियमों को लेकर बेहद कठिन है।

करवा चौथ की पौराणिक कथाओं में कई कथाएं प्रचलित है परन्तु मुख्य कथाएं इस प्रकार है :

1. प्राचीन कथा के अनुसार एक गांव में करवा देवी अपने पति के साथ रहती थी। कार्तिक मास के कृष्णपक्ष की चतुर्थी (चौथ) के दिन

उसका पति नदी में स्नान करने के लिए गया। स्नान करते समय एक मगर (मगरमच्छ) ने उसका पैर पकड़ लिया। वह 'करवा-करवा' नाम लेकर जोर-जोर से अपनी पत्नी को पुकारने लगा। उसकी आवाज सुनकर पत्नी दौड़कर आई और उसने मगर को कच्चे धागे से बांध दिया। मगर को बांधकर वो यमराज के यहां पहुंची और यमराज से बोली- "भगवान! मगरमच्छ ने मेरे पति का पैर पकड़ लिया है। अतः पैर पकड़ने के अपराध में आप अपने बल से उस मगरमच्छ को नरक में ले जाओ। यमराज ने कहा - 'अभी मगरमच्छ की आयु शेष है, अतः मैं उसे नहीं मार सकता।' इस पर करवाने कहा- 'यदि आप ऐसा नहीं करोगे, तो मैं आपको श्राप देकर नष्ट कर दूंगी। 'यह सुनकर यमराज भयभीत हो गए एवं मगरमच्छ को उन्होंने यमपुरी भेज दिया और करवा के पति को दीर्घायु प्रदान की। उसी दिन से करवाचौथ मनाई जाती है और सुहागिन स्त्रियों के द्वारा व्रत रखा जाता है।

2. एक साहूकार था जिसके सात बेटे और एक बेटी थी सातों भाई और बहन एक साथ बैठकर भोजन करते थे। एक दिन कार्तिक की चौथ का व्रत आया तो भाई बोला कि बहन आओं भोजन करें। बहन बोली कि आज करवाचौथ का व्रत है, चांद उगने पर ही खाऊंगी सतब भाईयो ने सोचा कि चांद उगने तक बहन भूखी रहेगी तो एक भाई ने दीया जलाया, दूसरे भाई ने छलनी लेकर उसे ढंका और नकली चांद दिखा कर बहन से कहने लगे कि चल चांद उग आया है- अर्ध्यदेले, बहन अपनी भाभियों से कहने लगे कि चलो अर्ध्य दें तो भाभियाँ बोली, तुम्हारा चांद उगा होगा हमारा चांद तो रात को उगेगा। बहन ने जब अकेले अर्ध्य दे दिया और खाने लगी तो पहले ही ग्रास में बाल आ गया, दूसरे ग्रास में कंकड़ आया और तीसरा ग्रास मुंह की ओर किया तो उसके ससुराल से संदेशा आया कि उसका पति बहुत बीमार है, जल्दी भेजो समाँ ने तब लड़की को विदा किया और कहा कि रास्ते में जो भी मिले उसके पांव लगना और जो कोई सुहाग का आशीष दे तो उसके पल्ले में गांठ लगाकर उसे कुछ रुपए देना। रास्ते में जो भी मिला उसने यही आशीष दी कि तुम्हारे भाई सुखी रहे और तुम उनका सुख देखो। सुहाग का आशीष किसी ने भी नहीं दिया जब वह ससुराल पहुंची तो दरवाजे पर उसकी छोटी नन्द खड़ी थी, वह उसके भी पाँव लगी तो उसने कहा कि सुहागिन रहो, यह सुनकर उसने पल्ले में गांठ बांधी और नन्द को सोने का सिक्का दिया।

तब भीतर गई तो सास ने कहा कि पति धरती पर पड़ा है, तो वह उसके पास जाकर उसकी सेवा करने के लिए बैठ गई। इस प्रकार समय बीतते-बीतते मृंगसिर (मार्गशीर्ष) की चौथ आई तो चौथ माता बोली-करवा ले, करवा ले, भाइयों की प्यारी करवा ले। लेकिन जब उसे चौथ माता नहीं दिखाई दी तो वह बोली हे माता! आपने मुझे उजाड़ा तो आप ही मेरा उद्धार करो। आपको मेरा सुहाग देना पड़ेगा। तब उस चौथ माता ने बताया कि पौष की चौथ आएगी, वह मेरे से बड़ी है उसे ही सब कहना। वही तुम्हारा सुहाग वापस देगी स पौषकी चौथ आकर चली गई, माघ की चली गई, फाल्गुन की चली गई, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ और श्रावण, भादो की सभी चौथ आयी और यह कहकर चली गई कि आगे आने वाली को कहना असौज की चौथ आई तो उसने बताया कि तुम पर कार्तिक की चौथ नाराज है, उसी ने तुम्हारा सुहाग लिया है, वहीं

वापस कर सकती है। जब कार्तिक की चौथ आई तो वह गुस्से में बोली- भाइयों की प्यारी करवा ले, दिन में चांद उगानी करवा ले, व्रत खंडन करने वाली करवा ले, भूखी करवा ले, तो यह सुनकर वह चौथ माता को देखकर उसके पांव पकड़ कर रोने लगी। हे चौथ माता! मेरा सुहाग तुम्हारे हाथों में है- आप ही मुझे सुहागिन करें, अब भूल नहीं करूंगी, तो चौथ माता ने प्रसन्न होकर आंखों से काजल, नाखूनों में से मेहंदी और टीके में से रोली लेकर छोटी उंगली से उसके आदमी पर छींटा दिया तो वह उठकर बैठ गया और बोला कि आज मैं बहुत सोया तब उसने कहा कि जल्दी से माता का पूजन करो। जब चौथ की कहानी सुनी, करवा का पूजन किया तो प्रसाद खाकर दोनों पति-पत्नी चौपड़ खेलने बैठ गये। स तब से सारे गांव में यह बात प्रसिद्ध हो गई कि सब स्त्रियां चौथ का व्रत करें तो सुहाग अटल रहेगा।

3. वटसावित्री :

यह व्रत ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या के दिन किया जाता है। इस व्रत की कथाओं में भद्र देश के राजा अश्व पति की पुत्री सावित्री एवं उनके पति सत्यवान की कथा है। भद्र देश के राजा अश्वपति ने संतान की प्राप्ति के लिए मंत्रोच्चारण के साथ प्रतिदिन एकलाख आहुतियांदी। अठारह वर्षों तक यह क्रम जारी रहा। इसके बाद सावित्री देवी ने प्रकट होकर वर दिया कि: राजन तुझे एक तेजस्वी कन्या पैदा होगी। सावित्री देवी की कृपा से जन्म लेने के कारण से कन्या का नाम सावित्री रखा गया सयोग्य वरना मिलने की वजह से सावित्री के पिता दु:खी थे, उन्होंने कन्या को स्वयंवर तलाशने भेजा। सावित्री तपोवन में भटकने लगी, वहां साल्व देश के राजा द्युमत्सेन रहते थे। उनके पुत्र सत्यवान को देखकर सावित्री ने पति के रूप में उनका वरण किया। ऋषिराज नारद को जब यह बात पता चली तो वह राजा अश्वपति के पास पहुंचे और कहा कि हे राजन ! यह क्या कर रहे हैं आप? सत्यवान गुणवान है, धर्मात्मा है और बलवान भी है पर उसकी आयु बहुत छोटी है, वह अल्पायु है। एक वर्ष के बाद ही उसकी मृत्यु हो जाएगी। ऋषिराज नारद की बात सुनकर राजा अश्वपति घोर चिंता में डूब गए। सावित्री के हठ के कारण राजा अश्वपति ने सावित्री का विवाह सत्यवान से कर दिया। समय बीतता चला गया नारद मुनि ने सावित्री को पहले ही सत्यवान की मृत्यु के दिन के बारे में बता दिया था, वह दिन जैसे-जैसे करीब आने लगा सावित्री अधीर होने लगी। उन्होंने तीन दिन पहले से ही उपवास शुरू कर दिया। नारद मुनि द्वारा कथित निश्चित तिथि पर पितरों का पूजन किया। हर दिन की तरह सत्यवान उस दिन भी लकड़ी काटने जंगल चले गए साथ में सावित्री भी गई। जंगल में पहुंचकर सत्यवान लकड़ी काटने के लिए एक पेड़ पर चढ़ गए, तभी उसके सिर में तेज दर्द होने लगा। दर्द से व्याकुल सत्यवान पेड़ से नीचे उतर गये। सावित्री अपना भविष्य समझ गई। सत्यवान के सिर को गोद में रखकर सावित्री सत्यवान का सिर सहलाने लगी। तभी वहां यमराज आते दिखे। यमराज अपने साथ सत्यवान को ले जाने लगे। सावित्री भी पीछे-पीछे चल पड़ी। यमराज ने सावित्री को समझाने की कोशिश की, कि यह विधि का विधान है, लेकिन सावित्री नहीं मानी। सावित्री कीनिष्ठा और पति परायणता को देखकर यमराज ने कहा कि हे देवी! तुम धन्य हो। तुम मुझसे कोई भी वरदान मांगो। सावित्री ने कहा कि मेरे सास-ससुर वनवासी और अंधे हैं, उन्हें आप दिव्य ज्योति प्रदान करें। यमराज ने कहा ऐसा ही होगा, जाओ अब लौट जाओ। लेकिन सावित्री अपने पति सत्यवान के पीछे-पीछे चलती रही, यमराज ने कहा देवी तुम वापस जाओ, सावित्री ने कहा भगवन मुझे अपने पतिदेव के पीछे-पीछे चलने में कोई परेशानी नहीं है, पति के पीछे चलना मेरा कर्तव्य है। यह सुनकर उन्होंने फिर से उसे एक और वर मांगने के लिए कहा। सावित्री बोली हमारे ससुर का राज्य छिन गया है, उसे पुनः वापस दिला दें। यमराज ने सावित्री को यह वरदान भी दे दिया और कहा अब तुम लौट जाओ, लेकिन सावित्री पीछे-पीछे चलती रहीं। यमराज ने सावित्री को तीसरा वरदान मांगने को कहा इस पर सावित्री ने सौ संतानों और सौभाग्य का वरदान मांगा। यमराज ने यह वरदान भी दे दिया।

सावित्री ने यमराज से कहा की प्रभु मै एक पतिव्रता स्त्री हूँ और आपने मुझे पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया है। यह सुनकर यमराज को सत्यवान के प्राण छोड़ने पड़े। यमराज अंतर्ध्यान हो गए और सावित्री उसी वट वृक्ष के पास आ गई जहां उसके पति का मृत शरीर पड़ा था। सत्यवान जीवित हो गए और दोनों अपने राज्य की ओर चल पड़े स मान्यता के अनुसार वट सावित्री व्रत करने और इस कथा को सुनने से उपवासक के वैवाहिक जीवन या जीवनसाथी की आयु पर किसी प्रकार का कोई संकट आया भी हो तो टल जाता है।

4. मंगलागौरी :

श्रावण मास के प्रत्येक मंगलवार को मां गौरी को समर्पित यह व्रत मंगलागौरी व्रत के नाम से प्रसिद्ध है। मंगलागौरी पौराणिक व्रत कथा के अनुसार एक समय की बात है- एक शहर में धर्मपाल नाम का एक व्यापारी रहता था, लेकिन कोई संतान न होने के कारण वे अत्यंत दुःखी रहते थे। ईश्वर की कृपा से उनको एक पुत्र की प्राप्ति हुई लेकिन वह अल्पायु था, उसे यह श्राप मिला था कि सोलह वर्ष की उम्र में सांप के काटने से उसकी मृत्यु हो जाएगी। संयोग से उसकी शादी सोलह वर्ष से पहले ही एक युवती से हुई जिसकी माता मंगलागौरी व्रत किया करती थी। परिणामस्वरूप उसने अपनी पुत्री के लिए ऐसे सुखी जीवन का आशीर्वाद प्राप्त किया था, जिसके कारण वह कभी विधवा नहीं हो सकती थी। इस वजह से धर्मपाल के पुत्र ने सौ साल की लंबी आयु प्राप्त की। इस कथा को सुनने के पश्चात विवाहित महिला अपनी सास को सोलह लड्डू देती है, इसके उपरांत वे यही प्रसाद ब्राह्मण को भी ग्रहण करवाती है। इस विधि को पूरा करने के बाद व्रती सोलह बाती वाले दीपक से देवी की आरती करती है। व्रत के दूसरे दिन बुधवार को देवी मंगलागौरी की प्रतिमा को नदी अथवा पोखर में विसर्जित किया जाता है। अतः मंगलागौरी व्रत को नियमानुसार करने से प्रत्येक विवाहित जीवन में सुख की बढ़ोतरी होती है तथा जीवन भी सुख पूर्वक व्यतीत होता है, ऐसी इस मंगलागौरी व्रत की महिमा वर्णित की जाती है।

निष्कर्ष :

पूर्वांचल एक भौगोलिक उप-क्षेत्र और उत्तर-प्रदेश का एक प्रस्तावित राज्य है, परंतु इसने संपूर्ण भारतवर्ष के सांस्कृतिक अनुष्ठान एवं परंपराओं को स्वयं में समेटे रखा है सक था-परंपराओं का आधार मानकर पूर्वांचल में अनेकों व्रत व त्यौहारों का प्रचलन है। ये कथा परंपराएं न केवल कहानी स्वरूप है बल्कि यह मनुष्य की आस्था, निष्ठा व विश्वास का आधार है। ये कथाएं स्त्रियों को यह विश्वास दिलाती है कि उनके द्वारा किए जाने वाले यह विधिवत व्रत उनके पति की दीर्घायु, सुख, शांति, सौहार्द इत्यादि को प्राप्त करने का मार्ग है। अतः प्रत्येक वर्ष स्त्रियों द्वारा इन व्रतों का निष्ठा व आस्था से पालन किया जाता है एवं समस्त सुख व सौभाग्य की कामना की जाती है।

सन्दर्भ :

1. द्विवेदी, डॉ॰ हजारी प्रसाद, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ संख्या-52, अग्निपुराण, 173
2. गौंड वेदाचार्य, दौलतराम, हरितालिका तीज व्रत कथा, रुपेश ठाकुर प्रसाद प्रकाशन, कचौड़ी गली, वाराणसी-221001
3. करवा चौथ व्रत कथा, सुमित पब्लिकेशन,113. बी॰, मुकट राय निवास, चावड़ी बाज़ार, दिल्ली-6, 110006
4. करवा चौथ व्रत कथा, सुमित पब्लिकेशन, 113. बी॰, मुकट राय निवास, चावड़ी बाज़ार, दिल्ली-6, 110006
5. वट सावित्री व्रत कथा, रुपेश ठाकुर प्रसाद प्रकाशन, कचौड़ी गली, वाराणसी, 221001
6. मंगला गौरी व्रत कथा, विनायक पुस्तकालय, पुरानी मंडी, अजमेर (राजस्थान)

अंकन

चित्रकार ए रामचंद्रन की कृतियों में महाकवि कालिदास के प्रकृति प्रेम का प्रभाव

मिठाई लाल
सहायक आचार्य, स्कूल ऑफ क्रिएटिव एंड परफार्मिंग आर्ट्स, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

राज कुमार सिंह
सहायक आचार्य, स्कूल ऑफ क्रिएटिव एंड परफार्मिंग आर्ट्स, छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

सार संक्षेप

प्राचीन भारतीय चित्रकला को पूर्णरूप से जानने के लिए उसकी प्रकृति, विधान और शास्त्रीय पृष्ठभूमि को ठीक-ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि उसके मूल स्त्रोत भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति को साथ मिलाकर देखा जाये। ''संस्कृत साहित्य में चित्रकला के विविध अंगों पर विवेचनात्मक उल्लेख मिलते हैं, जिनका विश्लेषणात्मक अध्ययन आवश्यक है। चित्रकला के उदाहरणों से इसकी पुष्टि होती है, परन्तु उनके साथ-साथ अनेक ऐसे उपांगों का भी पता चलता है, जिनका अभी तक कोई चाक्षुष प्रमाण नहीं मिला है। वस्तुतः यह दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। साहित्यिक संदर्भों से इन चित्रों की और उनकी परम्पराओं की कुंजी मिल जाती है।'' सदा से ही कला ने साहित्य एवं साहित्य ने कला को सम्पूर्णता दी है। कला एवं साहित्य दोनों को समझने से रसानुभूति का एक नया मार्ग प्रशस्त होता है। अक्सर साहित्य में जो विषय स्पष्ट नहीं होते वे कला के माध्यम से स्पष्ट हो उठते हैं, कला में जो अर्थ मूल रुप से समाहित है, वह साहित्य की भाषा और शब्दावली के माध्यम से सजीव होकर अपना परिचय देते हैं जिसकी रसानुभूति अत्यन्त आनंददायी होती है। इस प्रकार भारतीय चित्रकला में साहित्य का गूढ़ समावेश है।आधुनिक चित्रकला और समकालीन चित्रकला में भी कई चित्रकार साहित्य के विषयों को चित्रित किये हैं और वर्तमान में भी यह प्रक्रिया जारी है। महाकवि कालिदास की रचनाओं में प्रकृति प्रेम एवम जीवन जीने की प्रेरणा समाहित है और शायद यही कारण है कि यह चित्रकारों को अत्यंत प्रिय है - प्रसिध चित्रकार ए रामचंद्रन की कृतियों में भी साहित्यिक आख्यान और प्रकृति प्रेम बड़े ही मनोहारी रूप में दिखायी देता है, वह कालिदास एवम उनके प्रकृति प्रेम से कितना प्रभावित हैं और उनकी कलाकृतियों में इसका कितना प्रभाव है इसी का उल्लेख इस शोध पत्र में किया गया है।

बीज शब्द

मनोहारी, आख्यान, आनंददायी, संवेदनात्मक, सौन्दर्यमयी, सजीवता, लालित्यपूर्ण

प्राचीन भारत की आत्मा एवं उसकी महत्ता को समझना है तो कालिदास की रचनाओं का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि कालिदास ने अपने समय तक के भारतवर्ष का वर्णन सूक्ष्म संवेदनात्मक एवं सौन्दर्यमयी (प्राकृतिक एवं मानवीय दोनों) वर्णन विविध प्रकार से किया है। आपकी रचनाओं में जीवन के सभी श्रृंगारिक पक्षों का दर्शन मिलता हे, इनमें जीवन के प्रमुख अंग यथा-कला, संगीत, साहित्य, शिक्षा, रहन-सहन के

तौर तरीकों एवं प्रकृति का संवेदनात्मक उल्लेख कालिदास की रचनाओं का वैशिष्ट्य है। आपकी रचनाओं में न केवल सौन्दर्य, उसकी संवेदना या प्रकृति चारूता का आलंकारिक वर्णन हुआ है वरन् उनकी लेखनी ने भारतीय एवं धर्म के दर्शन की व्याख्या भी उद्घाटित की गई है।

कालिदास की दृष्टि सर्वव्यापी थी, उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रत्येक (प्रकृति एवं प्राचीन कथा) प्रसंगों को बड़ी ही सजीवता से लालित्यपूर्ण शब्दों में चित्रित किया है। कालिदास विविध विद्या के रचनाकारों (यथा- सात्यिकार, नाट्यकार, चित्रकार) के लिये प्रत्येक काल में प्रेरणास्त्रोत रहे हैं एवं वर्तमान में भी उनकी प्रासंगिकता पहले से कहीं अधिक हुई है। साहित्य जगत में तो उन्हें सूर्य के रूप में देखा ही जाता है कला जगत में भी वह सदैव आदर्श रहे हैं।यही कारण है कि समय समय पर कलाकारों ने कालिदास की रचनाओं को प्रेरणा आधार मानकर कलाकृतियों का निर्माण करते रहे हैं। आधुनिक चित्रकला में देखें तो ऐसे कई चित्रकार हैं जिन्होंने कालिदास की रचनाओं में वर्णित प्रसंगों को चित्रित किया है। उन्हीं में से एक हैं प्रसिद्ध समकालीन चित्रकार ए-रामचंद्रन जिनका उल्लेख निम्नलिखित है :

ए॰ रामाचन्द्रन जिनका पूरा नाम अचुतन रामाचन्द्रन है का जन्म अटिंगल केरल में 1935 में हुआ। बचपन से ही ए॰ रामचन्द्रन केरल के कस्बे अटिगल के कृष्णास्वामी मंदिर से काफी जुड़े रहे। दक्षिण भारतीय मंदिरों में बने भित्ति चित्रों से अत्यन्त प्रभावित रहे एवं साथ में केरल की प्राकृतिक सुंदरता से भी गहरा लगाव रहा। यहीं से इनके मन में कला एवं साहित्य का बीज पड़ा। बचपन में संगीत की शिक्षा भी ग्रहण की। आगे चलकर सन् 1957 में इन्होंने मलयालम साहित्य में एम॰ए॰ किया। इसके पश्चात् ए॰ रामाचन्द्रन का कलाकार मन इन्हें शांति निकेतन की तरफ ले गया। इन्होंने कला भवन में प्रवेश लिया। रामकिंकर बैज एवं विनोद बिहारी मुखर्जी से इन्होंने कला शिक्षा ग्रहण की। 1961 से 1962 ई॰ के मध्य ए॰ रामचन्द्रन ने अपना शोध कार्य केरल के भित्तिचित्रों पर किया जो इनके लिए अत्यन्त उपयोगी साबित हुआ एवं आगे चलकर एक भित्ति चित्रकार के रुप में भी अपनी एक पहचान बनायी।

शोध कार्य पूर्ण करने के पश्चात् यह दिल्ली आ गये एवं जामिया मिलिया विश्वविद्यालय में कला व्याख्याता के रूप में अध्यापन शुरू किया। ए॰ रामचन्द्रन के चित्रों पर चित्रकार के॰ माधव मेनन का गहरा प्रभाव पड़ा। के॰ माधव मेनन का जन्म 1911 ई॰ में त्रिसूर, केरल में हुआ एवं इन्होंने अपनी कला शिक्षा शांति निकेतन से अवनीन्द्र नाथ टैगोर एवं नन्दलाल बोस जैसे वरिष्ठ चित्रकारों के सानिध्य में प्राप्त की। इनके चित्रों में प्राकृतिक सौंदर्य समाहित है और यही विशेषता ए॰ रामचन्द्रन को भी प्रभावित की।

आगे चलकर रामचन्द्रन भारतीय पौराणिक कथाओं को अपने चित्रों का विषय बनाया जिसमें अपने अनुसार प्राकृतिक वातावरण को भी अंकित किया।

इनके चित्रों या भित्तिचित्रों में एक लयात्मक प्रवाह दिखाई पड़ता है जिसका मुख्य कारण यह है कि बचपन से ही कला, संगीत एवं साहित्य के प्रति गहरी रूचि का होना। ए॰ रामचन्द्रन ने 1986 में ययाति की कथा पर आधारित एक चित्र शृंखला तैयार की जो 60 फीट लम्बी पेंटिंग है एवं इसमें 12 पैनल हैं। इसके केन्द्र में 13 मूर्तिशिल्प भी हैं।

इस चित्र शृंखला के पश्चात् रामचंद्रन ने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। इन्हें पौराणिक प्रेम कथाओं से एक खास तरह का लगाव दिखाई पड़ता है। इसके पीछे एक नहीं कई कारण मौजूद हैं। केरल की प्राकृतिक सुंदरता ने इन्हें एक भिन्न संवेदना प्रदान की। वहीं मंदिरों के कर्मकाण्डों या चित्रकला को इन्होंने कल्पना, उत्सुकता और रहस्य के अलग-अलग तरह के आलोक में देखा। रामचन्द्रन हमेशा से ही अत्यंत जिज्ञासु रहे एवं नये-नये प्रयोग भी माध्यमों को लेकर करते रहे। यही कारण है कि शांति निकेतन में 50 के दशक में तैलरंगों के इस्तेमाल पर रोक के बावजूद भी यह चोरी-छिपे तैल माध्यम में

चित्रण करते रहते थे। आगे चलकर इन्हें राजस्थान से गहरा लगाव हुआ। यही कारण है कि इनके चित्रों में सुन्दर लैण्डस्केप तो दिखते ही हैं साथ में अपने चित्र पात्रों का चुनाव कई बार यह वणेश्वर के भीलों के स्त्री एवं पुरुषों में से करते हैं जो इनके चित्रों में अक्सर दिखाई पड़ता है।

इनके चित्रों के रंग दर्शकों के मन को छू जाते हैं जिसका श्रेय रामचंद्रन जापानी कला गुरू फूको अकीनो को भी देते हैं जो 1962 ई॰ में शांति निकेतन में विजिटिंग प्रोफेसर के रुप में आयी थीं। ए॰ रामचन्द्रन साहित्यिक एवं पौराणिक कथाओं को चित्रित करने के लिए तो जाने ही जाते हैं। किन्तु उन्होंने इलेस्टेट्ठशन के काम को भी हमेशा बड़ी गंभीरता से किया है। बाल साहित्य के इलेस्टेट्ठशन को चित्रित करने में उनकी विशेष रुचि रही है।

''इनके म्यूरल और पेंटिंग में कई शैलियों एवं चित्रकारों का प्रभाव रहा जैसे कि दक्षिण भारतीय मंदिरों में निर्मित भित्तिचित्र, अजंता के चित्र, राजस्थान के भील जनजीवन का प्रभाव एवं साथ में मैक्सिको के प्रसिद्ध चित्रकार ओरोस्को, रिवेरा और सिकेरोस से भी रामचन्द्रन ने कला की भाषा सीखी। रामचन्द्रन अपनी किसी भी कलाकृति को अपनी प्रिय कलाकृति नहीं मानते हैं। प्रसिद्ध चित्र शृंखला ययाति को भी नहीं। पेंटिंग करते समय वह कला के इतिहास (लोक और क्लासिक) की समझ को आवश्यक मानते हैं। पेंटिंग करते समय वह ढ़ाँचे के बारे में सोचते हैं एवं रंगों के इस्तेमाल के बारे में भी।

''पेंटिंग का सम्पूर्ण अनुभव आनंद, अंतर्दृष्टि और ज्ञान पैदा करता है। पेंटिंग करते समय हर चरण में एक महान प्रसन्नता एवं आनंद की अनुभूति होती है। कैनवास शुरू करते समय मन में चिंता और आशंका रहती है। पर पहले स्पर्श के बाद वह आशंका गायब हो जाती है।''

सन् 2005 ई॰ में ए॰ रामचन्द्रन को उनके कला में योगदान के लिए भारत सरकार द्वारा पद्मभूषण प्रदान किया गया। सन् 2003 ई॰ में केरल सरकार द्वारा इन्हें राजा रवि पुरस्कार से सम्मानित किया गया। सन् 2001 ई॰ में मानवीयम् पुरस्कार केरल सरकार द्वारा दिया गया। 1991 ई॰ में परिषद सम्मान, साहित्य कला परिषद, नई दिल्ली द्वारा प्रदान किया गया। 1980 ई॰ में नीमा पुरस्कार बच्चों की किताब के इलेस्टेट्ठश्न के लिए दिया गया। सन् 1973, 69 में राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया ललित कला अकादमी, नई दिल्ली द्वारा।

इसके अलावा इन्होंने दर्जनों सामूहिक कला प्रदशर्नियों में प्रतिभाग किया जो देश एवं विदेश में आयोजित होते रहे हैं साथ में ए॰ रामचंद्रन ने कई महत्वपूर्ण कला कार्यशालाओं में भी प्रतिभाग करते रहे हैं जो राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत के साथ-साथ विभिन्न देशों में आयोजित होते रहे हैं।

जैसा कि पहले भी जिक्र किया जा चुका है कि ए॰ रामचन्द्रन ने साहित्यिक एवं पौराणिक आख्यानों के साथ-साथ प्राकृतिक सौंदर्य को मुख्य रुप से अपने चित्रों में चित्रित किया। इनके प्रमुख विषय में- ययाति, उर्वशी, महाभारत, लोट्स पॉड, भील महिलाएं, भारतीय ग्रामीण महिलाएं एवं पशु पक्षी शामिल हैं जिनका माध्यम लिए तैल रहा है एवं साथ में इन्होंने मूतिशिल्प का भी निर्माण किया है एवं यह सिलसिला अभी जारी है।

ए॰ रामचन्द्रन के चित्रों में लोक तत्त्व मुख्य रुप से परिलक्षित होता है। दर्शक सहज ही इनकी कलाकृतियों की तरफ आकर्षित हो उठता है। महाकवि कालिदास की लेखनी में भी शास्त्रीयता के साथ-साथ लोक तत्त्व भी प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। अभिज्ञानशाकुंतलम्, मेघदूतम् एवं कुमारसम्भवम् के साथ-साथ अपने अन्य ग्रन्थों में भी कालिदास ने कमल पुष्प को सुंदर रूप में दर्शाया है। रामचन्द्रन की कलाकृतियों में भी कमल को मुख्य केन्द्र में देखा जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ए॰ रामचन्द्रन के चित्रों पर महाकवि कालिदास का भी गहरा प्रभाव पड़ा। इन्होंने 'उर्वशी' नामक शीर्षक से एक चित्र शृंखला का भी निर्माण किया जो इनकी

शैली में निर्मित है। इस श्रृंखला में उर्वशी के सौंदर्य को दिखलाया गया है। ए0 रामचन्द्रन ने इस चित्र को महाकवि कालिदास के नाटक विक्रमोर्वशीयम् जो कि प्रेम पर आधारित है, के प्रभाव में ही निर्मित किया है। इस नाटक में कालिदास ने राजा पुरुरवा एवं स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी के प्रेम का मार्मिक वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में उर्वशी के साथ प्रकृति का भी सुन्दर वर्णन है एवं रामचन्द्रन के उर्वशी शृंखला से काफी साम्य रखता है।

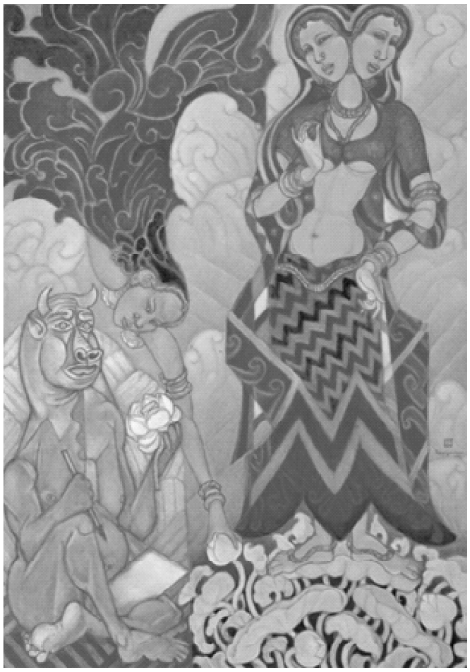

उर्वशी का सौंदर्य (ए- रामचन्द्रन, तैल माध्यम, निजी संग्रह)

प्रस्तुत चित्र का निर्माण चित्रकार ए॰ रामचन्द्रन ने किया है जो विक्रमोर्वशीयम के प्रथमोङ्क पर आधारित है। इसमें राजा पुरुरवा द्वारा उर्वशी के सौंदर्य का वर्णन है-

आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रिः
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इवच्छिन्नभूयिष्ठ-धूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गंगारोधः-पतन-कलुषा-गच्छतीव प्रसादम्।।

यह सुन्दरी आन्तरिक मूर्च्छा से छुटकारा पाती हुई वैसी ही दिखलाई पड़ रही है जैसे चन्द्रमा के उदित होने पर अन्धकार से मुक्त होती हुई रात्रि निशाकालीन अग्नि की धूम रहित हुई ज्वाला के समान निर्मल जल वाली गंगा सुन्दर प्रतीत होती है। उपर्युक्त प्रसंग को आधार मानकर चित्रकार ने चित्रण किया है जिसमें उन्होंने अपने मनोभाव को भी रचनात्मक रूप में इस चित्र में प्रदर्शित किया है। या यूँ इस चित्र में प्रदर्शित किया है। या यूँ कहें कि प्रसंग को आलम्बन मानकर अपनी शैली में उर्वशी के सौन्दर्य को चित्रित किया है। उर्वशी को कई रूपों में दिखलाया है जिसके अन्तर्गत मुख्य आकृति में एक ही शरीर में उसके दो सिर को जुड़े हुए रुप में दिखलाया है। चेहरे पर सौम्यता का भाव तो है ही साथ ही वह सोच की मुद्रा में भी है। वस्त्राभूषण पर लोक प्रभाव है जिसमें राजस्थानी (भीलों) का भी प्रभाव दिखलाई पड़ रहा है। यह प्रभाव चित्रकार ए॰ रामचन्द्रन के अन्य चित्रों में भी दिखलाई पड़ता है। इसी चित्र में ही उर्वशी के अन्य रुप को दिखलाया गया है जो कमल-तालाब से पुष्प को हाथ बढ़ाकर तोड़ रही है। पास ही एक आकृति का अंकन है जो मानव एवं पशु (दोनों) रुप में चित्रित है। उसके एक हाथ में कमल पुष्प व दूसरे हाथ में तूलिका है। नीचे स्केच बुक रखा है, आकृति चित्रण की मुद्रा में है।

चित्रकार को कमल एवं पशु-पक्षियों से अत्यन्त लगाव है। शायद यही कारण है कि इनके चित्र प्रकृति प्रधान हैं जिनमें प्रमुख रुप से कमल, लोक तत्त्वों व आमजन खासकर जनजातीय, भील आदि से सम्बन्धित युवतियों का अंकन है जिनके नैसर्गिक सौंदर्य को इन चित्रों में दिखलाया गया है। इस चित्र में मुख्यतः लाल व पीले रंगों का प्रयोग है साथ ही हल्के हरे व सफेद रंग भी प्रयोग किये गये हैं। चित्रकार ने उर्वशी के रुप सौंदर्य को आधार मानकर एक चित्र श्रृंखला का निर्माण किया है जिसकी प्रेरणा महाकवि कालिदास कृति विक्रमोर्वशीयम् से प्राप्त हुई है। इनमें से कुछ चित्रों का वर्णन आगे किया गया है।

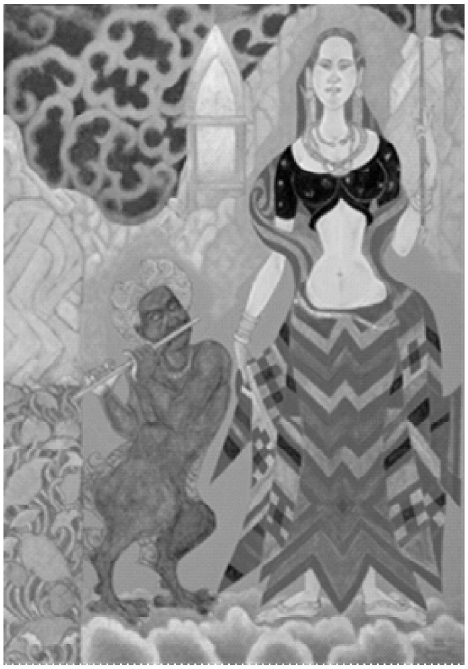

उर्वशी का रूप सौंदर्य (ए- रामचन्द्रन, तैल माध्यम, निजी संग्रह)

प्रस्तुत चित्र का निर्माण चित्रकार ए॰ रामचन्द्रन ने किया है जो विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक के प्रसंग पर आधारित है।

बहुकुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रवटिपासु।

चक्षुर्बध्नाति धृति तदङ्गनालोकदुर्ललितम्।।

अनेक प्रकर के पुष्पों से युक्त नम्रपादमों वाली उद्यानलताओं में उस उर्वशी के रमणीक दर्शनों से चंचल बने मेरे नयन टिक नहीं पा रहे हैं।

उपर्युक्त प्रसंग में उर्वशी के रुप सौंदर्य का उल्लेख है जिसे चित्रकार ने स्वयं की शैली में निर्मित किया है। चित्र में उर्वशी का अंकन प्रमुखता से किया गया है जिसके मुखमण्डल पर सौम्यता का भाव है एवं वस्त्राभूषण पर जनजातीय (भीलों) का प्रभाव। उर्वशी के हाथ में तीर अंकित है जो स्वयं की सुरक्षा का प्रतीक है साथ ही वर्तमान में वन-प्रस्तर में रहने वाले आदिवासियों का प्रमुख शस्त्र। इस प्रकार यह चित्र उर्वशी के रुप में वर्तमान की भी परिस्थिति को परिलक्षित करता है। पास ही एक बौनी मानवाकृति का अंकन है जिसका मुखमण्डल ए॰ रामचन्द्रन का है। वह बाँसुरी बजाते हुए निर्मित हैं। पृष्ठभूमि में मंदिर के साथ ही अलंकरण का प्रयोग बड़े ही मनोहरी रुप में किया गया है। चित्रकार ने कहीं-कहीं कमल की पत्तियों का भी अंकन किया है जो चित्र को और अधिक सौंदर्य प्रदान कर रहा है। चित्र में हल्के लाल, केसरिया, हरे, काले व पीले रंगों का प्रयोग बड़ी ही कुशलता से किया गया है। इस प्रकार यह चित्र वर्तमान में भी अपनी प्रासंगिकता को बनाए हुए है।

उर्वशी का श्रृंगार (ए- रामचन्द्रन, तैल माध्यम, निजी संग्रह)

प्रस्तुत चित्र का निर्माण चित्रकार ए॰ रामचन्द्रन ने किया है जो विक्रमोर्वशीयम् के द्वितीय अंक के प्रसंग पर आधारित है।

असुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्ग-विचेष्टितम्।

अभिमुखीष्विव वाञ्छितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः।।

पूर्णमासी के चन्द्रमा सदृश्य मुखवाली वह उर्वशी सरलतया प्राप्त होने वाली नहीं है। यह सब कुछ मदन का ही व्यापार है, जो कि मेरा मन अभीष्ट वस्तुओं के समक्ष होने पर भी मानो शीघ्र एकदम शान्त होता जा रहा है।

उपर्युक्त प्रसंग को आधार मानकर चित्रकार ने इस चित्र की रचना की है जिसमें उर्वशी को श्रृंगार करते हुए दिखलाया है। उसका शरीर अनावृत्त निर्मित है जिसके उसका नैसर्गिक सौंदर्य प्रकृति के समरूप परिलक्षित हो रहा है। वह गहनों से सुसज्जित है एवं त्रिभंग मुद्रा में चित्रित है। एक शॉल को ओढ़े हुए वह दर्पण की ओर देख रही है जो बौने स्वरुप में चित्रित ए0 रामचन्द्रन के हाथ में है। पृष्ठभूमि में सुंदर कमलपत्तियों का अंकन है जिसके बीच में कमल-पुष्प खिले हुए हैं। चित्र में मुख्यतः पीले, हरे, लाल व भूरे रंगों की अधिकता है जो चित्र को सजीवता प्रदान कर रहा है। इस चित्र में उर्वशी को एक भील युवती के रुप में चित्रण हुआ है जो अत्यंत सौन्दर्यपूर्ण व आकर्षक है। साथ ही उसकी शारीरिक भंगिमा पृष्ठभूमि में चित्रित कमल की पत्तियों से साम्य रख रही है। इस प्रकार महाकवि कालिदास की प्रसिद्ध कृति विक्रमोर्वशीयम् में वर्णित उर्वशी के सौंदर्य को आधार मानकर ए॰ रामचन्द्रन ने जिस चित्र श्रृंखला का निर्माण किया है वह वर्तमान में भी अत्यन्त प्रासंगिक व महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार ए रामचंद्रन की कलाकृतियों में प्रकृति सौन्दर्य के साथ जो पौराणिक कथाएं अंकित हैं वह वर्तमान में भी अत्यंत प्रासंगिक हैं क्योंकि वह अपने किरदार सदैव आम जीवन से उठाते हैं - साथ ही वह प्रकृति को अपना आदर्श और प्रेरणा का आधार मानते हैं क्योंकि महाकवि कालिदास के अनुसार प्रकृति ही हमारे जीवनसौन्दर्य का आधार है और उसकी अनुपस्थिति के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'कालिदास की लालित्य योजना', वाराणसी, 1965।
2. श्री कृष्णमणि त्रिपाठी : 'महाकविकालिदसविरचितं रघुवंशम्, वाराणसी, 2018।
3. रमाशंकर त्रिपाठी (व्याख्याकार) : 'महाकविकालि-दासप्रणीतम् मेघदूतम्', वाराणसी, 2005।
4. विनोद भारद्वाज : 'वृहद आधुनिक कला कोश', नई दिल्ली, 2006।
5. वाचस्पति गैरोला : 'भारतीय चित्रकला', दिल्ली, 1990।
6. प्रमिला सिंह : 'शैलेन्द्रनाथ डे की कलाकृतियाँः समीक्षात्मक अध्ययन', आगरा, 2001।
7. शिवप्रसाद द्विवेदी : 'ऋतुसंहारम् संस्कृत-हिन्दी व्याख्या संवलितम्', वाराणसी, 2012।
8. नाथूलाल वर्मा : 'राजस्थानी चित्रशैली की विभिन्न विधियाँ', जयपुर, 2018।
9. सुखबीर सिंह गहलोत : 'राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास', जोधपुर, 1959।
10. रायकृष्णदास 'भारत की चित्रकला', इलाहाबाद, 1972।
11. विश्वनाथ मित्र : 'ललित कलाएँ और मनुष्य', दिल्ली, 1966।
12. रामगोपाल विजयवर्गीय : 'राजस्थानी चित्रकला', जयपुर, 1953।
13. नीहार रंजन राय : 'भारतीय कला का अध्ययन', नई दिल्ली, 1978।
14. रमाशंकर त्रिपाठी : 'महाकविकालिदाससप्रणीतं मेघदूतम्', वाराणसी, 2005।

उत्तर प्रदेश की समसामयिक चित्रकला एक अध्ययन

प्रियंका सिहं
(शोधार्थी) असिस्टेट प्रोफेसर
एम॰ जे॰ पी॰ रूहे॰ वि॰ वि॰, बरेली

डॉ॰ रवीश कुमार
शोध निर्देशक
एम॰ जे॰ पी॰ रूहे॰ वि॰ वि॰, बरेली

सारांश

उत्तर प्रदेश की चित्रकला का विकास प्रागैतिहासिक काल से लेकर समसामयिक काल की चित्रकला में दिखायी देता है। चित्रकला के विकास के सन्दर्भ में उत्तर प्रदेश में अनेंको कला विधिकाओं, ललित कला अकादमी, कला संस्थायें एवं कला संग्रहालयों आदि के महत्वपूर्ण योगदान से आज हम समसामयिक चित्रकला के विकसित रूप को देखते हैं। जिससे विद्यार्थी, कलाकारों/चित्रकारों को कला के साथ ही इससे सम्बन्धित होने वाली कला की क्रियाएँ जैसे-चित्रों की प्रदर्शनियों, उनके संग्रहों, कला शिविर की क्रियाएँ जैसे- चित्रों को पुरस्कृत, सम्मानित कर उन्हें प्रोत्साहित करने के विभिन्न माध्यमों से चित्रकला का विकास उत्तर प्रदेश में हो रहा है।

मुख्य शब्द

उत्तर प्रदेश की चित्रकला, चित्रकार, समसामयिक चित्रकला, कला, विषय एंव तकनीक।

कला कल्याण की जननी है। इस धरती पर मनुष्य की उत्पति का इतिहास कला के द्वारा ही रूपायित हुआ है। कला इस विराट विश्व की सृजनशक्ति होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों में व्याप्त है यह अनन्त रूप है और इसके इन अनन्त रूपों की अभिव्यक्ति एवं निष्पत्ति का आधार कलाकार है।

कला किसी भी युग की हो, कला ही होती है। कला चाहे प्रागैतिहासिक काल की हो, चाहे प्राचीन अथवा मध्यकालीन आज भी देखी जाती है, समझी जाती है और सराही जाती है। प्राचीन काल की होने से कला का महत्व कम नहीं हो जाता, बल्कि उसका अक्सर महत्व बड़ जाता है। कला के द्धारा हमें अपना प्राचीन इतिहास, संस्कृति, गौरव और समाज की प्रगति का पता लगता है। कला समय के साथ हमें अपनी ओर और भी अधिक आकृष्ट करती है। लेकिन, यह भी सच है, कि कला हमेशा नया रुप ग्रहण करती रहती है। जैसे-जैसे समाज, हमारे जीवन, क्रिया-कलापों, विचार व दृष्टिकोण एवं रुचि में परिवर्तन होता है, उसी तरह कला में भी परिवर्तन होता है, क्योंकि कला हमेशा अपने समसामयिक समाज, जीवन व सभ्यता तथा संस्कृति का दर्पण होती है। जैसे-जैसे उनका स्वरुप बदलता है कला का भी रुप बदलता जाता है। कला कभी एक सी नहीं रहती।

किसी भी देश की संस्कृति एवं सभ्यता का मूल्यांकन वहाँ की कला परम्परा के माध्यम से किया जाता है। कला मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। अतः दार्शनिकों ने कहा है कि- ''कला ही जीवन है'' वास्तव में कला जीवन जीने की पद्धति, जीने का एक ढंग है। कला के द्वारा ही जीवन को पूर्णता व दक्षता के साथ बिताया जा सकता है। कला वह

मानवीय क्रिया है, जिसमें उसकी प्रकृति, रूप और भाव सम्मिलित रहते हैं। सर्वश्रेष्ठ कला सदैव चेतना को स्पर्श करती है। भारतीय समसामयिक कला की पृष्ठभूमि को समझना ठीक उसी प्रकार है जैसे- किसी उलझे हुये धागे को सुलझाना, जिसकी प्रत्येक गांठ प्राचीन अखण्डित उपमहाद्धीप के काल समान है तथा जिनमें धर्म, इतिहास एवं दर्शन गुँथा हुआ है। यह एक अत्यधिक उत्तेजक व जटिल अभ्यास है। उत्तेजक इसलिए क्योंकि यह विस्तृत कार्य क्षेत्र है जिसमे अभी तक कई अनछु, पहलू हैं वहीं जटिल इसलिए क्योंकि आज भी हमारे समक्ष चित्रित, मौखिक तथा लिखित साक्ष्य सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं। भारतीय कला को कालक्रम, भूगोल तथा संस्कृति की दृष्टि से समझा जा सकता है साथ ही ऐतिहासिक प्रकिया निर्धारण करने में समय व अतंराल भी महत्वपूर्ण कारक है। प्रकृति के सौन्दर्य से अभिभूत होकर मानव ने अपने इस अहलाद को कला के विविध रूपों को अनेकों प्रयोगों द्धारा विभिन्न कालों में प्रकट किया है। यह कला प्रयोग उस समय से चले आ रहे हैं जब वह स्वयं आदिम अवस्था में था तथा गोंडवाना के अनेक भू-भागों में सभ्यता की कहानी रच रहा था।

समसामयिक कला का तात्पर्य उस कला से है जो वर्तमान में एक विशेष आन्दोलन से जुड़ी हुई है और प्राचीन परम्पराओं एवं रुचि निरन्तर नये-नये प्रयोगों से उत्पन्न हुई है। कला अभिव्यक्ति, मनोवैज्ञानिक, प्रतीकात्मक तथा जटिल होती जा रही है। भारत में समकालीन कला को बढ़ावा देने का काम भारत सरकार द्वारा गठित 'राष्ट्रीय ललित कला अकादमी' का है। इस अकादमी की स्थापना स्वतंत्र भारत में 5 अगस्त, 1954 को भारत सरकार द्वारा की गयी। समसामयिक कलाकारों के लिये कोई भी विषय भारतीय समाज की जटिलतायें, कुण्ठायें आदि अछुती नहीं है। अगर संघर्षरत नये कलाकार की कृतियों पर नजर डालें तो ये विंसगतियाँ पूरी जटिलता के साथ उनके चित्रों में दिखलाई पड़ती है। समसामयिक कलाकार व्यक्ति तथा समाज की भावनाओं को आत्मसात् कर गहन खोज में लगा हुआ है।

समसामयिक चित्रकला का जन्म वैज्ञानिक अवधारणा से हुआ है और उसमें प्रयोगवादी दृष्टिकोण है जिसके फलस्वरूप आधुनिक चित्रकला का स्वरूप विभिन्न प्रारूपों में उपस्थित हो सका है किन्तु उसमें प्रयोगवादी प्रक्रिया किसी निश्चित खोज को स्थापित नहीं कर पायी है। जिसके कारण उसका कोई निश्चित स्वरूप अभी प्रकट नहीं हो सका है लेकिन अगर हम उत्तर प्रदेश की चित्रकला का स्वरूप दर्शाना चाहे तो हम यही कहेगें कि उत्तर प्रदेश की चित्रकला 'कुछ-कुछ पाश्चात्य और अधिकतम नवीन प्रयोगवादी है' समसामयिक चित्रकारों के नवीनतम तकनीकों द्वारा समसामयिक काल में उत्तर प्रदेश के चित्रकारों ने चित्रकला को नया आयाम प्रदान किया है।

समसामयिक कला का मतलब है आज की कला, वर्तमान में प्रचलित कला, नये जमाने की कला, नये युग की कला अथवा बींसवी शताब्दी की कला यह सब कालवाची शब्द ही है। आज की कला जब कहा जाता है तो इसका मतलब यही होता है कि कला का वह रुप जो समाज में आज प्रचलित है, चल रहा है। जैसी कला हम आज देख रहे है इससे भी आधुनिक कला का अर्थ स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि आज प्रदेश में हमारे बीच कई तरह की कलायें दृष्टिगोचर होती है। सभी को हम आधुनिक नही कह सकते जैसे हमारे बीच में ऐसे भी चित्रकार है जो महज अजन्ता, राजस्थानी, पहाड़ी अथवा मुगल कालीन चित्रों की हुबहू नकल उतार रहे है अथवा उन्हीं की तर्ज पर चित्र बना रहे है। ऐसे चित्रों अथवा चित्रकारों को हम समसामयिक नहीं कह सकते उन्हें पुरानी परिपाटी का चित्रकार ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार गाँवों में भी कहीं-कहीं घर की स्त्रियों में चित्र बनाने की एक परम्परा चली आ रही है, वह भी समसामयिक कला नही है जो माँ से बेटी सीख कर परम्परागत तरीकों से चित्र बनाती है। यह भी ग्राम्य चित्रकला ही कही जायेगी आधुनिक कला नहीं इसी प्रकार आदिम जातियों में परम्परागत रुप से जो कला की परिपाटी चली आ रही है वह भी आधुनिक कला

नहीं है। अर्थात जो भी कला के रुप में आज के जमाने से पूर्व की कला की परम्परा या परिपाटी में बनते आ रहे या बन रहे हैं उन्हें हम पारम्परिक कला ही कह सकते है, समसामयिक कला नहीं।

उत्तर प्रदेश की समसामयिक चित्रकला :

उत्तर प्रदेश जनसख्यां की दृष्टि से भारत का सबसे बड़ा राज्य है। यह विश्व के अनेक देशों से आकार में और आबादी में बहुत बडा है। सम्पूर्ण देश की संस्कृति और विरासत के प्रतीक इस राज्य ने अकेले ही भारत के इतिहास और समसामयिक चित्रकला में जो स्थान प्राप्त किया है, वैसा दूसरा किसी अन्य राज्य ने नही किया है। उत्तर प्रदेश की कला के आधुनिक युग का इतिहास सन् 1925 के बाद से ही प्रारम्भ होता है और इस अर्द्धशताब्दी तक तो प्रमुख रुप से लखनऊ आर्ट स्कूल के इतिहास से ही जुड़ता है क्योंकि प्रदेश के समसामयिक प्रसिद्ध कलाकारों में से कुछ को छोड़कर अधिकांश इसी कला विद्यालय से जुड़े रहे हैं।

उत्तर प्रदेश की कला तथा चित्रकला विश्वप्रसिद्ध मानी जाती है। उत्तर प्रदेश में काफी चित्रकारों ने भारत में एक प्रसिद्धि प्राप्त की है। उत्तर प्रदेश में चित्रकला के उदाहरण प्रागैतिहासिक काल के कन्दरा या मिर्जापुर शैली के शैलाश्रयों में निर्मित चित्र से लेकर आधुनिक युग तक विद्यमान हैं। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद तथा बनारस के मध्य वाले मिर्जापुर में पहाड़ी अंचलों से चित्र मिले हैं। इनके विषय पशु, पक्षी, शिकार आदि हैं। यहाँ चित्र दीवारों तथा छतों पर बने हैं। उत्तर प्रदेश राज्य में कला एवं कलाकारों के पोषण की हमेशा व्यवस्था रही है। वाराणसी, लखनऊ, जौनपुर आदि की मुग़ल, राजपूत, एवं ब्रिटिश शैली के चित्र इस बात के प्रमाण है।

21वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यदि हम उत्तर प्रदेश की कला का अवलोकन करें तो हमें अत्यधिक निराश होना पडेगा। जो प्रदेश प्राचीन काल से ही अपने महान सांस्कृतिक केन्द्रों- मथुरा, प्रयाग, वराणसी, कौशाम्बी, आदि की उत्कृष्ट कला एवं शिल्पों के लिए प्रसिद्ध रहा है, वहीं उत्तर मध्यकाल में मुगल शासन के मध्य पनपे, अपने नगरों-लखनऊ, आगरा, फ़र्रुखाबाद, रामपुर, मुरादाबाद, मऊ, मिर्जापुर आदि की कलाओं हस्तकलाओं चिकन, किमखाब, पत्थर व पीतल के वर्तन, छपे बुने वस्त्र, कालीन, हाथी दांत पर नक्काशी व अन्य अनेक शिल्पों के लिए अभी भी विख्यात है। वास्तुकला के क्षेत्र में बनारस, सारनाथ, मथुरा, वृन्दावन के मन्दिर, फतेहपुर सीकरी, ताजमहल, एतमातुद्दौला का मकबरा, लखनऊ के इमामबाड़े व कितने ही अन्य भवन विश्व में अपनी एक अलग पहचान बनाये हुये हैं। प्रदेश के कला भंडार को फतेहपुर सीकरी और आगरा में मुगल दरबार के संरक्षण में रस सिद्ध चित्रकारों-दशवंत, बसावन, केसूदास, चिन्तामन, गोवर्धन, उस्ताद मंसूर तथा अन्य अनेकों ने अपनी उत्कृष्ट कला से समृद्ध किया और आगे आने वाले काल में जहां लखनऊ, बनारस और गढ़वाल में स्थानीयता की छाप लिये अनेक चित्रकारों द्धारा सुन्दर कलात्मक चित्रों का निर्माण हुआ जिनमें गढ़वाल के चित्रकार मौलाराम काफी विख्यात हुये। उत्तर प्रदेश में मुगल शासन के अन्त और ब्रिटिश सत्ता के आरम्भ के साथ 19वीं शताब्दी का अंत आते-आते राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उथल-पुथल, संरक्षण और जीविका के अभाव में कला अपनी उन्नत परम्पराओं से दूर होकर निम्नस्तरीय तथा समाप्त प्रायः सी हो गयी थी।

इस सोचनीय स्थिति के प्रति ब्रिटिश शासक भी उदासीन न रहे और सन् 1907 में आयोजित औद्यौगिक कान्फ्रेंस में लिए गये निर्णय के अनुसार प्रदेश में कला एवं शिल्प को प्रोत्साहित एवं विकसित करने के लिए सन् 1911 में लखनऊ में राजकीय कला एवं शिल्प विद्यालय की स्थापना हुई। जिसके प्रथम प्रधानाचार्य श्री नेथनियल हुर्ड नियुक्त हुये।

उत्तर प्रदेश में भी 1948-49 के लगभग कुछ युवा कलाकार नयी दिशा पाने की तलाश में प्रयोगशील थे। इनमें मूर्तिकला में स्व॰ जे॰ एन॰ सिहं जिन्होने यथार्थवादी शैली में भी कार्य किया किन्तु अपने मौलिक नये प्रयोगों के लिए वे स्मरण किये जायेगें

तथा चित्रकला के क्षेत्र में जीतेन्द्र कुमार, विश्वनाथ खन्ना जैसे लेखक खूब सक्रिय रहे। प्रदेश में 1950 के आस-पास कला के पतन, नवजन्म और विकास के यशशिखर को छूकर फिर रुढ़िग्रस्त होकर कला जगत में स्वीकार किये जाने की स्थिति तक पहुंचकर पुनः नये सिरे से नये धरातल की खोज के संघर्ष का इतिहास देखने को मिलता है किन्तु सृजनात्मक विधायें चाहे वह किसी भी क्षेत्र की हो सीमाबद्ध कदापि नहीं हो सकती विकास का क्रम अनादि है जो अनन्त काल तक चलता है। जहां भी एक काल में विकसित किसी विधा को पूर्ण सीमा मानकर, मोह अथवा पूर्वाग्रहण, जो उसी से बन्धकर नवयुग की चेतना और परिस्थितियों को नकार देती हैं, वे रुढ़ हो जाते हैं, पिछड़ जाते है। इस सत्य को स्वीकार करने की स्थिति का लखनऊ कला विद्यालय ने भी सामना किया और एक लम्बी अवधि तक उत्तर प्रदेश के कलाकारों को उपलब्धि की दिशा में सतत् संघर्ष करना पड़ा।

किन्तु आज स्थिति सर्वथा भिन्न है विगत तीस वर्षो में प्रदेश के कलाकारों की कला विषयक जागरुकता एवं निज को खोज पाने के लिए निरन्तर प्रयोगशील रहने के फलस्वरुप चित्रकला, मूर्तिकला, ग्राफिक्स आदि विभिन्न क्षेत्रों में अनेक ऐसे नाम उभर कर सामने आए जिन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर अपने को स्थापित किया है। पिछले वर्षो में हुये सर्वेक्षणों के आधार पर यह तथ्य स्पष्ट हुये है कि इस बीच प्रदेश के उपरोक्त विभिन्न क्षेत्रों के कलाकार राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्य अखिल भारतीय स्तर की प्रमुख कला प्रदर्शनियों में न केवल भाग लेते रहे वरन् उनमें से कितने ही पुरस्कारों से सम्मानित भी होते रहे हैं। इसके अतिरिक्त समय-समय पर प्रदेश के अनेक कलाकार ब्रिटिश काउंसिल स्कॉलरशिप, यूनेस्को फेलोशिप तथा विदेशी सरकारों के आमंत्रण पर विदेशों में अध्ययन एवं भ्रमण कर आये है। अनेक नवयुवक कलाकार अपनी रचनात्मक प्रतिभा के आधार पर राष्ट्रीय सांस्कृतिक छात्रवृत्ति तथा जूनियर फैलोशिप प्राप्त कर चुके और कर रहे है।

समसामयिक कला में दो दशकों के बदलाव विषय एवं सामग्री, माध्यम और नवीन प्रयोगों द्धारा प्रतिनिधित्व का विश्लेषण करने के लिए समर्पित है क्योंकि समसामयिक कला का अभ्यास बहुत गतिशील है, तथा तकनीक के साथ सांस्कृतिक प्रभावों से अधिक से अधिक जागरूकता के साथ बदल रहा है। आर्ट गैलरी, कला संस्थान, कला संग्रहालय आदि समसामयिक कला अभ्यास एवं नव प्रयोगधर्मिता के लिए एक बड़ी भूमिका निभा रहे हैं और इंटरनेट के उपयोग ने सोच के तरीकों और कलाकारों तथा उनके काम करने की प्रकिया पर भी प्रभाव डाला है। वर्तमान कलाकारों द्वारा बड़े पैमाने पर विभिन्न देशों की यात्रा, अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियों में भाग लेना, अंतर्राष्ट्रीय कला रेजिडेंसी में हिस्सा लेने और कला की घटनाओं को स्वाभाविक रुप से अपनाने के लिए तथा राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कलाकारों में परस्पर बातचीत से नव प्रयोगधर्मिता को बल मिला है। कला संस्थान भी उपयुक्त वातावरण, समय और स्थान की आवश्यकता को पूरा करने के लिए रचनात्मक प्रयासों के साथ कलाकारों की कृतियों में वैकल्पिक तरीकों और माध्यमों में प्रयोग करने की कोशिश करने के लिए स्वतंत्रता प्रदान करते है। साथ ही कला मेले, कला बिनाले और कला शिखर आदि चुनौतियों का सामना करने एवं कला के निर्माण में कलाकारों का नवीन दृष्टिकोण विकसित करने के लिए नया आकाश प्रदान कर रहे है।

उत्तर प्रदेश की संस्कृति के अन्तर्गत यहाँ चित्रकला का विकास प्रागैतिहासिक काल से लेकर समसामयिक चित्रकला में भी दिखायी देता है। लखनऊ में कला एवं शिल्प महाविद्यालय की स्थापना एवं भारतीय चित्रकार असित कुमार हल्दार के माध्यम से उत्तर प्रदेश में परम्परागत भारतीय चित्रकला का विकास शुरू हो गया। उत्तर प्रदेश में चित्रकला के विकास हेतु इसके विभिन्न क्षेत्रों में विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों में कला की शिक्षा दी जाने लगी। चित्रकला के विकास के सन्दर्भ में ही बहुत से कला विथिकाओं,

ललित कला अकादमी, कला संस्थाओं, कला संग्रहालयों आदि के महत्वपूर्ण योगदान से आज हम समसामयिक चित्रकला के विकसित रूप को देखते हैं। जिससे विद्यार्थी, कलाकारों/चित्रकारों को कला के साथ ही इससे सम्बन्धित होने वाली कला की क्रियाएँ जैसे-चित्रों की प्रदर्शनियों, उनके संग्रहों, कला शिविर की क्रियाएँ जैसे चित्रों को पुरस्कृत, सम्मानित कर उन्हें प्रोत्साहित करने के विभिन्न माध्यमों से चित्रकला का विकास उत्तर प्रदेश में हो रहा है।

उत्तर प्रदेश की चित्रकला में रेखाओं रुपों, धरातलों के साथ-साथ रंगों का भी अपना प्रमुख स्थान है। इनकी दो विशेषताएं है पहली रेखाओं में लयात्मक सौन्दर्य और दूसरी विशेषता सूक्ष्मता के साथ मिश्रित रंग योजना अर्थात कोमल रंगों की विभिन्न स्तरीय मिश्रित प्रयोगों की प्रभावोत्पादकता। यद्यपि जल रंगों का प्रयोग ही सर्वोच्च रहा है। लेकिन बाद में जल रंगों का स्थान टेम्परा ने ले लिया। कुछ पारम्परिक चित्रकार चित्रों के निर्माण में एक्रेलिक रंगों का प्रयोग सहजता से कर रहे है। क्योंकि खनिज रंग तैयार होने में परिश्रम और समय अधिक लगता है।

भारतीय चित्रकला प्रारम्भ से ही अपनी एक खास तकनीक और विषय के लिए जानी जाती है। तकनीक और विषय चित्रकला का वो पहलु है जिसने भारतीय चित्रकला को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ला खड़ा किया है। समस्या यह है की इसका ज्ञान अभी तक कला प्रेमियों, कला साधकों एवं शोधार्थियों को पूर्णतः नहीं हो पाया है, क्यूंकि इस विषय पर अभी तक कोई साहित्य या शोध कार्य देखने को नहीं मिलता है। शोध का यह एक महत्वपूर्ण विषय है, जिसे हमने अपने शोध के लिए चुना है। युग परिवर्तन के साथ ही चित्रों के विषय और तकनीक में विविधता का स्पष्ट रूप देखा जा सकता है। शोध के दौरान इसी परिवर्तनशीलता को समझने का प्रयास किया गया है।

समसामयिक कला का विस्तार व उनके कलाकारों द्वारा दिये गये योगदान में कला संगठनों की विशेष भूमिका है किन्तु वर्तमान में इस अनछुये प्रसंग पर व्यापक शोध का अभाव हैं। यह शोध समसामयिक कला के अनेक अनछुये पहलुओं का उद्घाटन करेगा साथ ही उत्तर प्रदेश में परम्परागत व आधुनिक कला के विस्तार व कलाकारों को मान्यता दिलाने आदि में कला संगठनों की महत्ता सिद्ध करने में उपयोगी होगा तथा आने वाले समय में इस क्षेत्र में अध्ययन व शोध के नये आयाम विकसित होगें।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. समकालीन कला, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ 15.
2. कक्कड़ कृष्णनारायण (सं.)-समकालीन कला संदर्भ तथा स्थिति ललित कला अकादमी, नई दिल्ली-1980.
3. वशिष्ठ राधाकृष्ण- राजस्थान के तैल चित्रकार कलाभूषण मास्टर कुन्दनलाल मिस्त्री, इलाहाबाद।
4. भारद्वाज विनोद - बृहद आधुनिक कला कोश दिल्ली-2015.
5. हाउजर आर्नल्ड (अनुवादक गोपाल प्रधान) कला इतिहास का दर्शन ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली- 2008.
6. प्रो॰ सक्सेना बी॰एल॰, डॉ. आनन्द लखटकिया, कला सिद्धान्त एवं परम्परा, पृष्ठ- 159-160.
7. अग्रवाल, गिर्राज किशोर, आधुनिक भारतीय चित्रकला, पृष्ठ- 121-122.
8. गोस्वामी प्रेमचन्द- आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ रा॰ हि॰ ग्रं॰ अ॰ जयपुर- 1995.
9. Experience.(n.d.). Gov.In. Retrieved October 18, 2022, from https://www.uptourism.gov.in/en/page/arts-crafts

Mahavidyas : The Changing Mood in Visual Presentation

Kartik Tripathi
Ph.D. Visual Studies
School of Arts & Aesthetics
Jawaharlal Nehru University, New Delhi

Abstract

The article is a formalist analysis of murals related to Mahavidyas, Hindu tantric goddesses, which are painted in a Vaishnava temple, Ram Janaki temple, of Assi, Varanasi. The depiction of Mahavidyas have unique iconographical properties. The property that differentiates it from the classical tradition of presentation of the goddesses. Here this paper explains its unique qualities through formal analysis and discuss about the mood of images.

Keyword

Mahavidya, Mural, Culture, Banaras, Vaishnava Temple, Iconography, Tantric Goddesses

Introduction :

The city, Varanasi, has always been a stronghold of Hinduism along with Buddhism and Jainism since a long time. Hindu texts, especially, Puranas and Mahabharata explicitly praised Kashi as a pilgrimage place. In the same way, Sarnath is the main site of the Buddhist religion. Goutam Buddha first preached his sermon here after getting enlightenment in Bodhgaya, Bihar. The Buddhist Tripitaka[1] texts reflect vociferously about Kashi and its trade values.[2] Similarly, four Tirthankaras of the Jain religion were born in the city viz. Parshavanath, Shuparshvanath, Shreyanshanath and Chandraprabhu.[3] So, it is also an important site from Jain view as well. And in the medieval period and thereafter, respectively, the dominance of Islamic rulers, the Sultanate, and the Mughals, then British Raj, over the city added culturally and materially, new layers to the fabrication of the city.

Many powerful rulers such as Peshwas of Maharashtra, rulers of Rajasthan, nawabs of Awadh, Mughals, British Raj, etc. tried to capture and ruled the city at times. So, the city felt a lot of changes in the context of political as well as cultural values from a long time. Consequently, these all affected the visual culture of Banaras as well.

The visuals that emerged from the city are very interesting and important. There are many layers we get in an analysis of

the visual materials, such as the layers of different cultures, the layers of antiquity and modernity, etc. The relationship between society and the visuals is integral. Janet Wolff explicitly defines the relation between Society and Art in her work 'The Social Production of Art' when she says "Art is a social product".

The era of the 18th/19th century in Varanasi was an important time of many changes in respect of power politics and cultural values. The impact of the local kings was increasing in the folk culture of Banaras along with other existing rulers of Rajasthan, Maharashtra, and Awadh. In the city, the effect of Rajput rulers was clearly visible from the 16th century. Raja Man Singh, Rao Surjan Singh, Sawai Jai Singh, and other territorial rulers such as Bundi, Jaipur, Aamer, of Rajasthan respectively kept engaging in the city.[4] The exotic rulers mostly used to come with their skilled attendants like artists, musicians, poets and such others who affected the local artists of the city. Many temples in the town, Havelis and ghats on the riverfront were patronized by different rulers and merchants of various states in this period. So, the visual culture of the city explicitly presents the various dimensions and layers of the city.

Observation & Analysis :

Here I will discuss the murals of Mahavidyas, the tantric goddesses, painted in Ram Janaki temple. The temple is situated in the Dumraon colony of the Assi area of Varanasi and it is built by a king of Dumraon, Bihar, in the late 19th century in a north-Indian temple architectural style, Nagar style. It is built on a high plinth, has a rectangular mandapa and a square garbh-griha, a sanctum, and a long shikhara.

The Goddess Kali

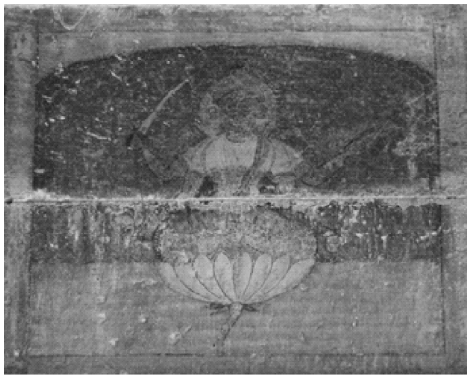

The Goddess Tara

The main attractive point of the wall paintings of the temple is the panels of Mahavidyas, twelve panels are painted in a row of these tantric goddesses which are generally ten in number, on the west wall of the temple. The other walls have dominantly Vaishnava subjects painted along with Sakt and Shaiva subjects.

We can see some of the Mahavidyas in the given images. In everyday life, we see these tantric goddesses, in our surroundings, in their traditional form which are described in tantric texts like Brihaddharma Puran, Rudrayamala Tantra, Yogini Tantra, Sharda Tilak Tantram, Bhartiya Shaktisadhana, Shakt Pramod, etc. Their iconographical norms have often been gone through those tantric texts. But,

in these paintings, I observed many unique features in their presentation. Immediately, it is difficult to recognize the goddesses individually. A few of them can be traced or recognized rapidly but most of them are hard to mark because of their distinct iconographical properties. Generally, Mahavidyas are mentioned in ten in numbers, therefore it is often said Dasmahavidyas (ten Mahavidyas). While here, twelve goddesses are painted in the panels of Mahavidyas respectively.

The ten Mahavidyas, mentioned in tantric texts, are respectively Kali, Tara, Shodasi, Bhuvaneshvari, Chhinnamasta, Bhairavi, Dhumavati, Bagalamukhi, Matangi, and Kamala. The order of depiction of the goddesses in the temple is as follows which varies from the classical order mentioned in the texts - Goddess Bagalamukhi, Annapurna, Dhumavati, Kamakhya, Matangi, Bhairavi, Kali, Tara, Tripur-Sundari, Chhinnamasta, Bhuvaneshvari, and Kamala. This is at variance with how the Mahavidyas are mentioned in the religious texts where the number is ten. But the Chamunda-Tantra and the Mundmala-Tantra mention a few more goddesses such as Durga, Kamakhya, Padmavati, and Annapurna.[5]

The iconography of Mahavidyas, painted in the temple, are very distinguished and simplistic in form. Even the terrible goddesses are depicted in simplified ways, such as- Kali, Tara, Dhumavati, etc. The fierce or terrifying aspects of the goddesses are not as clearly portrayed as the tantric texts described them. A soft approach to presentation is accepted here.

It is here that we discern that the style of the depiction of murals is affected by the north-Indian miniature tradition. Mahavidyas are, iconographically, always painted in a group on the walls of temples. Rarely do these goddesses have their own individual temples or are painted individually. Mostly, it is Kali who has many temples dedicated to her in India.

The Goddess Shodasi

The Goddess Bhuvaneshvari

It is in the depiction of these goddesses that we discern the economy of iconography by which I mean that the distinction of one Mahavidya from another, hinges on a minimum iconographical variation: maybe, just one unique attribute through which she may be readily identified. This minimal style of depiction, related to Mahavidyas, is very rare to see. The specific recognition of goddesses can only be through their single iconographic element, such as in the case of Bagalamukhi where she is depicted through only her

mount, the crane. Likewise, Dhumavati is shown with her mount being a crow, Annapurna with a bowl, Matangi with Veena, Tara seated on a white lotus, and Bhairavi with a book. Only Chhinnamasta, Kali, and Kamala have complex iconographical features and those details immediately reveal their respective identity. Bhuvaneshvari and Shodashi (Tripura-Sundari) could be identified by the instruments they hold and the formal properties which have similarities through textual references mentioned in Bhuvaneshvari Tantra and Shodashi Tantra.

The depiction of Kali, in the panel, is very simplistic in form, lack of fierceness and frightfulness as mentioned in the textual sources. However, there is a corpse mentioned in her iconography which is not depicted here. That corpse symbolizes the debris, the "nonexistence" of the universe after ultimate destruction, and is a major part of her iconography to complete a sense of 'Kali'.[6]

There are many more examples of Kali where she is depicted without a corpse. An image of Kali which is painted in Mahamaya temple is presented without a corpse as well. However, the painting style is very different in both temples. Another element of her iconography is the 'skirt' made up of human hands, which is also replaced with the Rajasthani costume, Ghaghra Choli.

We notice a spirit of experimentation in the iconography of the Mahavidyas. A wide area of popular culture or classical images of the goddesses is depicted in various iconographic styles. Even the Tantric texts describe a major variation of the iconographic forms of goddesses. Some texts like Todala-Tantra, Mundmala-Tantra, and Guhyatiguhya-Tantra compare the ten Mahavidyas with the ten incarnations of lord Vishnu. A presentation of Mahavidyas along with other Vaishnava subjects, in the temple, indicates that the Tantric tradition was glorified by the Vaishnava-Saktacult prevalent in this temple.

The Goddess Chhinnamasta

The Goddess Bhairavi

In the panels, Mahavidyas are depicted in an individualistic manner, not with any auxiliary or supportive figures described in textual sources. The costumes of the goddesses are affected by mixed tradition, Rajasthani costume and north-Indian saree tradition.

Most of the Mahavidyas are painted in a seated posture with a bolster or big pillow in their background. The bolsters are often depicted in royal scenes in the

miniature paintings of Mughal or Rajput tradition. The emperors or kings are depicted, individually or in groups, with bolsters in their background which are used to provide support to their bodies. This is interesting to see the Tantric goddesses seated on a lotus with bolsters. The lotus and the bolsters emerge as two different elements incorporated in the iconography of these goddesses. It indicates the mixture of two styles, first are, classical iconography where the lotus is mentioned as an iconographical element of goddesses in Tantric texts and the second is the bolster which is the element of the royal scene or royal iconography, which is painted in most of the royal paintings.

The style of the depiction of Mahavidyas reflects various visual traditions in terms of the style of framing and presentation of landscape in the background; they largely remind us of the Rajput miniatures, and the boldness of lines and figures in some compositions recall the folk style of painting.

It is hard to trace the exact source of the iconographical approach of the murals of the Mahavidyas. There are some similarities traced back to the Rajasthani miniature of the Mahavidyas. But it is wrong to say these murals are completely affected by the miniatures. What kind of source, textual or visual, inspired the artists for the paintings of Mahavidyas is difficult to ascertain. Because, as far as I observed, neither in any Tantric texts nor in any visual presentation this type of minimal iconography of Mahavidyas is depicted.

Let us consider the obvious visual source in form of lithographic prints which were widely available and could be regarded as the most effective visual resource for the artists. After all, in the 19th century, there were some lithographic printing presses available which used to print religious images. The Calcutta Art Studio, Chore Bagan art studio, Chitrasala Press, Batala Wood Block Prints, Ravi Verma Press, etc. were the most famous print centers which used to produce religious images on large scale, and prints were much in demand across the country. But, in those prints, mostly, the iconographical presentation was, seemingly, classical.

The change in the iconography of the goddesses could be a periodic effect. Because changing iconography is very dependent on the cultural and political milieu of society.[7] As we can see, nowadays, under the rule of the right-wing Indian government, some interesting religious images are coming out in the context of iconography. For instance, the image of lord Ganesha, which was widely spreading on social media, is presented as a member of RSS (Rashtriya Swayamsevak Sangh), a group of right-inclined extremists (see image 7).[8]

Image 7. Lord Ganesha in costume of RSS, Madhya Pradesh.

Conclusion:

The images of Mahavidyas clearly show the broad effect of North Indian

miniature style, especially Rajasthani and Pahari; background landscape and red coloured framing strip, in Varanasi. The main interesting things appearing in these images are its minimalist iconographic style. The murals, evidently, show the interference of Rajput culture in the city and also reflect the interrelationship between Vaishnava and Sakt sects through the placement of Sakt subjects with dominantly presented Vaishnava murals in Vaishnava temple.

References :

1. Tripitakas are primary scriptures of Buddhist doctrine.
2. Chandra, Moti, Kashi Ka Itihaas, Fourth Edition, Vishwavidyalaya Prakashan, 2010, p.38.
3. Kejriwal, Om Prakash (Ed.), Kashi - Nagari Ek Roop Aneka, Second Edition, Prakashan Vibhag-Suchana evam Prasaaran Mantralaya, 2017, p.25.
4. Pandey, Sachindra, A Ph.D. Thesis "A History of Banaras in Medieval Period-1206-1761 AD'', Allahabad University, Allahabad, 2002.
5. Kinsley, David, Tantric Visions of the Divine Feminine- The Ten Mahavidyas, Motilal Banarsidas Publishers, New Delhi, 1998, p.14.
6. Danielou, Alain, The Myths and Gods of India, Simon & Schuster, 1991, p. 329.
7. Bhattacharyya, Narendra Nath, Indian Religious Historiography, Vol.1, Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, 1996, p.340.
8. https://www.aajtak.in/india/video/ganesh-chaturthi-lord-ganesha-dressed-up-in-rss-uniform-madhya-pradesh-975901-2019-09-06

झांसी और दतिया के गोसाई सन्यासियों के मंदिरों की भित्ति चित्रकला एवं मूर्तिकला का अध्ययन

माधवी निराला
(शोधार्थी) लालित कला विभाग
बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, झांसी

डॉ॰ श्वेता पाण्डे
(सहायक आचार्य) लालित कला विभाग
बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, झांसी

सारांश

गोसाई मूल रूप से ब्राह्मण होते हैं। यह लोग साधु-सन्यासी का जीवन व्यतीत करते थे। इनकी उत्पत्ति आदि गुरु शंकराचार्य से मानी जाती है। इनके एक हाथ में शस्त्र दूसरे हाथ में शास्त्र होता था, जिन्हें हम गोसाई ब्राह्मण कहते थे। इन लोगों ने शस्त्र और शास्त्र के साथ ही साहित्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला में भी रुचि ली।

बुंदेलखंड के झांसी और दतिया जिले गोसाईयो के प्रमुख केंद्र रहे हैं। इनके विकास में मुख्य भूमिका शिवगिरी, राजेंद्रगिरी गोसाई मूल रूप से ब्राह्मण रहें हैं। इनकी कला धार्मिक और लोक जीवन से प्रभावित थी जिसमें बुंदेली, राजस्थानी और मुगल कला शैलियों का मिश्रण देखने को मिलता हैं। स्थापत्य कला में हम इनके मंदिरों की बात करेंगे तो देखते हैं इनके मंदिर नागर शैली में निर्मित है और इनके मंदिरों में ही मूर्तिकला और चित्रकला के उदाहरण देखने को मिलते है।

उद्देश्य

गोसाई कला की बात करते हैं तो इसे हम बुंदेली कला के अंतर्गत रखते हैं। यह कला 16वीं और 17वीं सदी के मध्य की हैं। गोसाई कलाएं धार्मिक अभिव्यक्ति के साथ उस समाज में पनप रहे उनके जीवन का भी आईना है। ये एक ऐसे जीवन का दर्शन हमें करवाती हैं जिसमें युद्ध के साथ-साथ धर्म और जीवन के छोटे-छोटे आनंदो को भी शामिल किया गया है।

गोसाई की कला की बात करते हैं तो पाते हैं कि इन की कलाएं मूल रूप से धर्म को समर्पित हैं। विषय के मूल रूप में शिव, मां दुर्गा, काली, सीता-राम, राधा-कृष्ण, गौरी, गणेश, विष्णु, मंदिरों के गर्भगृह के अंदर वृहद सहस्त्र लिंगेश्वर के अतिरिक्त सप्ताह श्वारूढ़, सूर्य भगवान अपने सारथि अरुण के साथ, अष्टभुजी वा सिंहासनी दुर्गा आदि मूर्तियां और भित्ति चित्र देखने को मिलता हैं। यदि उनके स्थापत्य का अध्ययन किया जाए तो यह भी नजर आता है कि मंदिरों में होने की वजह से इन चित्रों और मूर्तियों की विषय वस्तु कहीं ना कहीं संकुचित रह गई है। विषय वस्तु में उपस्थिति यह संकुचित हमें तब नजर आता है जब हम इन चित्रों और मूर्तियो की तुलना अन्य समकालीन विधाओं से करते हैं।

मुख्य शब्द

गोसाई, सन्यासी, झांसी, दतिया, मूर्तिकला, भित्ति चित्रकला

परिचय :

गोसाई ब्राह्मण आदि गुरु शंकराचार्य ने बनाए थे। माना जाता है कि जब बुद्ध धर्म और जैन धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को कम करने के लिए एक सुधारवादी मार्ग चुना इसीलिए आदि शंकराचार्य ने सनातन धर्म की पुनर्स्थापना के लिए दशनाम सन्यासियों का गठन किया। जहां पर गुरु शंकराचार्य जी ने गोसाईयो में कुल दस उपजातियां बताई। इनमें गिरी पुरी, भारती, अरण्य वन पर्वत, सागर स्थित आश्रम और सरस्वती शामिल है। बुंदेलखंड में गुसाईं साधुओं की परंपरा अति प्राचीन है और इसमें महादेव गिरी, शिवगिरी, राजेंद्रगिरी अनूप गिरी, उमराव गिरी आदि मुख्य गोसाई साधु है।

साहित्यिक अवलोकन के अनुसार भारत में तीन प्रकार के ब्राह्मण थे। पहले वह जो पूरी तरह से शास्त्र सम्मत जीवन का प्रसार कर रहे थे। दूसरे वह जो पूरी तरह से शस्त्र उठा चुके थे जैसे कि नागा ब्राह्मण और तीसरे वह जिनके एक हाथ में शस्त्र था और दूसरे हाथ में शास्त्र जैसे कि गोस्वामी ब्राह्मण इनके साथ ही गोस्वामी सन्यासी कला एवं साहित्य में भी अधिक रुचि लेते थे जिसके चलते इन्होने बुंदेलखंड में गोसाईयों के प्रमुख स्थान झांसी और दतिया में अनेक मंदिर, मठ, गढ़ियों (लघु दुर्ग), समाधिया, बाग-बगीचे, किले, गेटो का निर्माण कराया। जिसमें इनके कुछ प्रमुख स्थापत्य पानी वाली धर्मशाला का शिव मंदिर, दीक्षित बाग का शिव मंदिर, लक्ष्मी तालाब का सिद्धेश्वर मंदिर, मड़िया मोहल्ले के समाधि मंदिर, सुरईया के बाग के समाधि मंदिर, छनिया पुरा के समाधि मंदिर, ओरछा के गेट समाधि मंदिर, फूटा चोपड़ा के समाधि मंदिर, सुंदर पुरी के बगीचा के समाधि मंदिर, ऑतिया ताल के समाधि मंदिर, मोंठ की गढ़ी, अमरा की गढ़ी, कुम्हर्रा की गढ़ी, दतिया का शिवगिरी मंदिर, मणियन का कुआँ आदि। गोसाई सन्यासियों के इन्ही स्थापत्य में चित्रकला और मूर्तिकला का निर्माण अंकन देखने को मिलता हैं। गोसाई चित्रकला एवं मूर्तिकला मुख्य रूप से गोसाई राजाओं और संतों के सानिध्य में पल्लवित हुई गोसाईं समुदाय के लोगो का झुकाव धर्म की तरफ ज्यादा था। इसी वजह से इन चित्रों और मूर्तियों में दुनियादारी और जीवन के विभिन्न रंगों को धर्म के दृष्टिकोण से समेटा गया है।

गोसाई साधुओं के मंदिरों के निर्माण शैली :

मंदिरों के निर्माण के लिए पूरे भारत में तीन शैलिया प्रचलित है जिसमें नागर शैली उत्तर भारत की शैली, द्रविड़ शैली दक्षिण भारत की और बेसर शैली मध्य भारत की शैलिया है। बुंदेलखंड में नागर शैली प्रचलित है और गोसाईयों के मंदिर नागर शैली में निर्मित हैं।

मंदिरों के निर्माण शैली योजना : गर्भ ग्रह, पीठ, जगति, मंडप, शिखर, आमलक, कलश साथ ही पंचायतन शैली (गर्भ ग्रह मंदिर के चारों कोनों में छोटे मंदिर स्थापित) का निर्माण, प्रदक्षिणा पथ (परिक्रमा करने वाला पथ) का निर्माण भी किया गया।

गोसाई साधु शिव के उपासक थे। इसलिए उन्होंने अपनी पूजा-अर्चना हेतु शैव मंदिरों का निर्माण कराया और साथ ही इन लोगो में मृत्यु उपरांत शवों को दफनाने की प्रथा थी और इन्हें समाधिस्थ किया जाता था। इनकी समाधियो पर शिवलिंग स्थापित किया जाता था जिन्हें समाधि मंदिर कहा जाता हैं।

इनकी मंदिरों के गर्भ गृह में शिवलिंग के अलावा चतुर्मुखी एवं पंचमुखी मानस शिवलिंग को भी स्थापित कराया गया। शिव भगवान से संबंधित मूर्तियां नंदी शेषनाग पर लेटे हुए विष्णु गणेश दुर्गा सरस्वती, काली, भैरव और मुख्य द्वार पर गोसाईं साधुओं की मूर्तियां हनुमान जी की रिलीफ मूर्तियां देखी गई है साथ ही साज-सज्जा के लिये बेल-बूटे, आलेखन का भी निर्माण किया गया। अगर हम चित्ररों की बात करे तो चित्रों चित्रांकन गोसाई मंदिरों की अन्दर और बाहर भित्ति में किया गया है जिसके प्रमाण हमें झांसी और दतिया के गोसाई मंदिरों में देखने को मिलते हैं। इनके चित्र मुख्य रूप से धार्मिक और पौराणिक रहे

हैं। जिस में शिव भगवान और उनसे संबंधित सभी भगवानों जैसे पार्वता, नन्दी, गणेश, कुबेर, शिव की बारात, कार्तिकेय, काली, भैरव, सरस्वती, विष्णु के चित्र मिले हैं और साथ ही गोसाई साधुओं के चित्र, स्त्री चित्रण, राजाओं की चित्र, बेल-बूटे, पशु-पक्षी आदि चित्र देखने को मिलते हैं। मुख्य मंडल का अंक एक चश्म तथा पौने दो चश्म चेहरे बनाए गए। उनके चित्रों में पुरुषों को पगड़ी पहने स्त्रियों को लहंगा, ओढ़नी, चोली परिधान में दिखाया जिसमें बुन्देली शैली की झलक देखाई देती हैं। इनके चित्रों को रंगने के लिए टेम्परा विधि का प्रयोग किया गया साथ ही चित्रों की उत्कीर्णन करके रंग भरे गए जिस के उदा॰ दतिया के शिवगिरी मंदिर में देखने को मिलते हैं। रंगों में लाल रंग, पीला रंग, संखिया रंग, नीला, हरा, सफेद, काला रंगों का प्रयोग किया गया है। छतों के ऊपर वस्त्रों के डिजाइनों के जैसे नमूने बनाएं गए हैं।

प्रमुख मंदिरों की मूर्ति एवं चित्रकला का वर्णन :

मढ़िया महादेव मंदिर :

झांसी जिले में गोविंद चौराहा स्थित सैयद गेट के बाहर मढ़िया मोहेल्ले के अंदर ही मंदिर स्थित है, जिसमें शिवलिंग स्थापित है। इस मंदिर के चारों तरफ गोसाई साधुओं के छोटे-बड़े समाधि मंदिर है जो संख्या में 12 है। एक विशाल समाधि मंदिर में मूर्तियां है। इसमें विक्रम संवत् 1857 (19वीं शताब्दी) का अभिलेख मिला जिससे ज्ञात होता है कि यह चिमना पुरी महाराज की समाधि है। इस मंदिर को महाकालेश्वर मढ़िया के नाम से भी जाना जाता है। इन समाधि मंदिर के अंदर और बाहर चित्र पाए गए हैं जो ज्यादातर लाल रंग की पृष्ठभूमि पर सफेद रंग से रेखाओं द्वारा उकेरी गई हैं, जिनकी शैली बुंदेली शैली की चितेरी कला चितेरी के समकक्ष लगती है।

इनके चित्रों में शिव, गणेश, पार्वती, गुसाईं साधु शस्त्र लिए हुए, दो स्त्रीया वार्तालाप करते हुए, दैनिक जीवन से संबंधित चित्र देखने को मिलता है। यह सभी चित्र मंदिर की बाहरी भित्ति के छोटे-छोटे आलो में स्वतंत्र रूप से निर्मित है। बाकी चित्र क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। मंदिर के गर्भ गृह में मुख्य शिवलिंग विराजमान है। शिवलिंग के पीछे ही लेटे हुए विष्णु भगवान की प्रतिमा विचार करते हुए हैं उनकी नाभि से सृष्टि की उत्पत्ति करते हुए भगवान ब्रह्मा है। शिवलिंग के बाएं तरफ भगवान गणेश तथा दाईं तरफ माता सरस्वती जी हैं। अंतराल में नंदी तथा अगल-बगल अष्टभुजाधारी माता देत्त को मारते हुए एवं अन्नपूर्णा जी विराजमान है व मंडप में हनुमान जी भैरव बाबा विराजमान है। यह सभी मूर्तियां रिलीफ माध्यममें बनी है।

लक्ष्मी ताल का सिद्धेश्वर मंदिर :

यह मंदिर लक्ष्मी ताल के निकट स्थित है इसके गर्भगृह में काले पाषाण से बाणलिंग स्थापित है। इसके प्रतिक्षणा पथ तथा गर्भ ग्रह वाह्य छज्जों के मध्य देवी-देवताओं के सुंदर लघु चित्र है जो लाल पीले रंगों से टेम्परा विधि में बनाए गए हैं। गर्भ ग्रह की दीवारों पर छोटे-छोटे आले बने हैं। जिनमें गणेश, पार्वती, दुर्गा, भगवान विष्णु, कार्तिकेय एवं सूर्य की प्रतिमा स्थापित है। इसके बीच गर्भ ग्रह मंदिर के चारों कोने में छोटे-छोटे मंदिर बने हैं। इसके प्रवेश द्वार की छत पर हाथी और सिंह की प्रतिमाये हैं।

पानी वाली धर्मशाला का शिव मंदिर :

झांसी जिले में स्थित मंदिर के गर्भ गृह में सहसृलिंग स्थापित हैं। गर्भगृह वर्गाकार है और चारों दीवारों पर स्थित आलो में भी गणेश, महिषासुर मर्दिनी, गरुड़ तथा भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित है। इसमें विशेष रुप से शेषशायी विष्णु का चित्रण उल्लेखनीय है और अन्य देवी-देवताओं, पशु-पक्षी, बेल-बूटो का भी चित्रण है।

दीक्षित भाग का शिव मंदिर :

इस मंदिर के वर्गाकार गर्भ गृह के बीचों बीच एक विशाल सहस्त्रलिंग स्थापित है। गर्भग्रह की दीवार में अंदर की ओर स्थित आलो में भगवान गणेश, सिंह वाहिनी, मां दुर्गा, शेषशायी विष्णु, सप्त अश्वारूढ़

सूर्य, द्विभुजा धारिणी लक्ष्मी और कार्तिकेय की प्रतिमाये स्थापित की गई है।

दतिया का शिवगिरी मंदिर :

शिवगिरी का मंदिर गिरी दसनाम साधुओं की एक शाखा है। इनके सशस्त्र अखाड़े रहा करते थे। यहां की परंपरा शिवगिरी जी महाराज से प्रारंभ मानी जाती है। ये वैष्णव साधु रामानुजी थे। इसलिए यहां एक मंदिर बनवाकर चतुर्भुजी भगवान विष्णु की प्रतिष्ठा कराई। इस मंदिर को वैकुंठ नाथ जी का मंदिर कहते हैं। इसी मंदिर के प्रांगण में पीछे की ओर बनी महंतों की समाधियां हैं, जिनमें शिवलिंग स्थापित है साथ ही नंदी की मूर्ति स्थापित हैं। सभी गोसाई मंदिरों में से इस मंदिर की भित्ति चित्र सबसे अधिक सुरक्षित, सबसे सुंदर और संख्या में सबसे अधिक पाए गए हैं। इस कारण इसे ''चित्रकला स्कूल'' के नाम से भी जाना जाता है। इस मंदिर में सबसे ज्यादा रंगीन चित्र भी प्राप्त हुये है। उसमें नीले रंग की अधिकता अधिक है जिनमें शिव व अन्य देवी-देवता, पशु-पक्षी, गोसाई सन्यासी, फूल-पत्ती, छतों पर पेनल के रूप में आलेखन देखने को मिलते हैं।

मणियन का कुआं :

दतिया का एक ओर प्राचीन गोसाई मंदिर था, जिसे मणियन का कुआं के नाम से जाना जाता था। इसे गोसाई की हवेली के नाम से भी जाना जाता है। अब इसे शासकीय स्कूल मैं प्रदत कर दिया गया। इसमें पांडुलिपियों के चित्र मिलते हैं।

निष्कर्ष :

जिस तरह साहित्य समाज का दर्पण है, इसी प्रकार कला भी उसी समाज़, देश, काल और वातावरण का प्रतिबिंब या अक्स खींच सकती है। यदि इस दृष्टिकोण से हम गोसाई कला को देखें तो हम पाते हैं कि एक स्तर पर यह चित्रकला कहीं ना कहीं अपने भीतर बुंदेलखंड में घटिल हुए गोसाई साम्राज्य की कुछ घटनाओ एवं राजाओं की मानसिक का दर्पण भी बनती हुई नजर आती है।

इन सभी बातो को समझने के लिये हमने गोसाई मूर्तिकला, चित्रकला के विषय वस्तु पर दृष्टिपात किया गया हैं। गोसाईयों का स्थापत्य विलास से ज्यादा मूलभूत आवश्यकताओं पर आधारित था। इनकी चित्रकला और मूर्तिकला अत्यंत सरल और धार्मिक थी। इनके चित्रों में ज्यामितीय बारीकियों का खूबसूरती से इस्तेमाल किया मगर इनके संदेश कभी भी भोग विलास या वैभव की ओर नहीं मुड़े। इनके चित्रों ने सदैव जीवन के सकारात्मक और बुनियादी पहलुओं पर दर्शाया है। इनकी कलाओं में धार्मिक प्रतीक और संरचनाओं के बीच एक सामंजस्य बिठाया गया है। शोध पत्र के निष्कर्ष में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि गोसाई भित्ति चित्रकला और मूर्तिकला अपनी निर्माण कला एवं कलात्मक अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर एक विशिष्टता रखती थीं। यही कारण है कि 21वीं सदी में इन चित्रों का अस्तित्व है और यह चित्र बुंदेलखंड की कला परंपरा में अपना योगदान भी दे रहे हैं।

चित्रकला संग्रह :

मनकामेश्वर शिव मठ मंदिर (झांसी)

शिवगिरी मंदिर (दतिया)

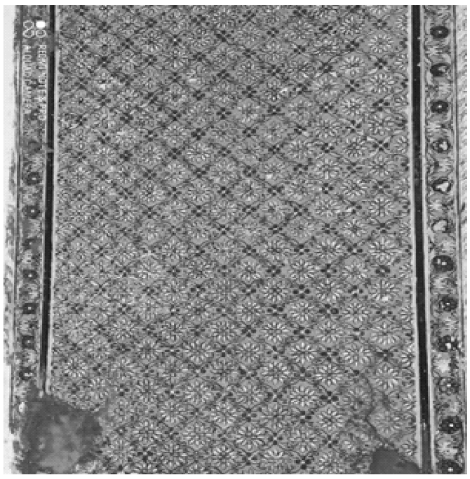

मूर्तिकला संग्रह :

मढ़िया महादेव मंदिर (झांसी)

मनकामेश्वर शिव मठ मंदिर (झांसी)

सन्दर्भ -ग्रथ सूची :

1. राजाराम हजारी; प्राचीन भारत में तीर्थ (महाभारत के सन्दर्भ में), शारदा पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 2003, पृ॰ सं॰1-20, 21-30, 164
2. डॉ॰ श्रीवास्तव, रमेशचंद्र; बुंदेलखंड साहित्यिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, वैभव, बुंदेलखंड प्रकाशन लखण्डीनाका, बाँदा पृ॰ सं॰ 143-147
3. डॉ॰ वर्मा, नाथूलाल; राजस्थानी चित्रशैली की विभिन्न चित्रण विधियाँ, जयपुर राज पब्लिशिंग हाउस, 2009, पृ॰ सं॰ 62-82
4. कासलीवाल 'भारती'; भारती मूर्ति शिल्प एवं स्थापत्य कला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2015, पृ॰ सं॰ 177-179
5. जोशी, इला बसंतीय झांसी गजेटियर, पृ॰ सं॰ 48
6. डॉ॰ हेमू यदुय पर्यटन में देव मंदिर, बी॰ आर॰ पब्लिशिंग कारपोरेशन, 2014, पृ॰ सं॰ 49-51

7. डॉ॰ शर्मा शिव कुमार, श्रोत्रिय शुकदेवय चित्रण विधान एवं सामग्री, चित्रायन प्रकाशन मुजफ्फरनगर, पृ॰ सं॰ 66, 77
8. डॉ॰ महेंद्र वर्मा, बुंदेलखंड की मूर्ति कला, भारतीय कला प्रकाशन दिल्ली, 2005, प्र॰ सं॰ 206, 208
9. प्रो॰ आनंद मिश्र, ग्वालियर एवं दतिया जिले की दुर्ग एवं गढ़िया, ओमेगा पब्लिशिंग नई दिल्ली, पृ॰ सं॰ 106-109
10. चित्रगुष्ट 2021 प्राचीन बुन्देलखण्ड पर रहा है बौद्ध धर्म का प्रभाव - इतिहासकार डॉ॰ चित्रगुप्त ETV
11. अब्दुल कय्यूम मदनी, बुन्देलखण्ड का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास 831 से 1947 तक, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, पृ॰ सं॰ 104-106

मध्यकालीन साहित्य में चित्रात्मक रामकथा के दर्शन

क्षमा द्विवेदी
चित्रकार
अयोध्या, उत्तर प्रदेश

प्रस्तावना

भारत कला एवं संस्कृति की दृष्टि से समृद्धि रहा है। भारतीय परिदृश्य में अनेक महान साम्राज्य का उदय हुआ जिन में मौर्य, गुप्त, चोल, आदि महान साम्राज्य के उदय के साथ तत्कालीन साहित्य की धारा कदम से कदम मिलाकर अविरल बहती रही। तत्कालीन विद्वानों द्वारा अनेक ग्रंथों की रचना, तत्कालीन साहित्य, समाज, राजनीतिक स्थिति, संस्कृति एवं कला को बखूबी दर्शाती है। इन ग्रंथो का आज भी उतना ही महत्व हैं। चोल साम्राज्य के उदय के साथ ही संगम काल का उदय हुआ, जिनका दक्षिण साहित्य के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि पाल जैन एवं हिंदू राजाओं के समय साहित्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। मध्यकालीन साहित्य में हिंदू धर्म का चित्रकला के माध्यम से निर्विरोध रुप से प्रचार-प्रसार होता गया। चौथी शताब्दी ईसापूर्व में महाभारत एवं रामायण महाग्रंथों की रचना की गई। इन ग्रंथों में लिखित तथ्य को भली प्रकार समझने के लिए इन ग्रंथों पर टिकाएं एवं बार-बार इन्हें पुनः लिखा गया। परंतु मध्यकाल में इनग्रंथों को लिखने के अलावा इनमें लिखे हुए कथा कहानियों को भली प्रकार चित्रित भी किया गया। धार्मिक ग्रंथों में असंख्य चरित्र वर्णित है। इन्ही में महापुरुष राजाराम (जिन्हें ईश्वर की संज्ञा दी गई है) का वर्णन मुख्य नायक के रूप में किया गया है। इस शोधपत्र के द्वारा भारतीय मध्यकालीन साहित्य में राजाराम के जीवन चरित्र के चित्रण को उजागर किया गया है। इस शोध पत्र मे मध्यकालीन साहित्य और चित्रकला के सम्मिश्रण को दर्शाया गया है। ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगा कि मध्यकालीन साहित्य यदि आत्मा है तो चित्रकला उसका शरीर।

प्रमुख शब्द

मध्यकाल, साहित्य, रामचरित्र, चित्रकला, संस्कृति।

साहित्य शब्द का नाम आते ही हमारे दिलो-दिमाग में एक वृहद क्षेत्र का दर्शन होने लगता है। भारत का साहित्य हजारों साल पुराना है। साहित्य के क्षेत्र में पहली भाषा संस्कृत है, संस्कृत भाषा के अनेक महर्षि तथा कवि हुए जिन्होने संस्कृत भाषा के द्वारा बड़े ही मार्मिक ग्रन्थों और काव्यों की रचना की है। साहित्य एक ऐसा साक्ष्य है जिसके द्वारा हम वैश्विक तौर पर अनेक देशो की संस्कृति तथा उनके रहन-सहन को प्रमाणिक स्तर पर समझ सकते है। साहित्य और काव्य का संबंध अत्यंत प्रगाढ़ है, दोनों के रूप को कहीं-कहीं समझना कठिन सा लगता है। साहित्य की शुरूआत ऋग्वेद तथा महाकाव्य रामायण, महाभारत के माध्यम से शुरू हुई। साहित्य शब्द के अर्थ के बारे मे विद्वानो के अनेक मत प्राप्त होते है।

अपने मन में चल रही भावनाओं को किसी लिपि के द्वारा व्यक्त करना ही साहित्य या काव्य कहलाता है। असल में लिपि के दर्शन हमें सिंधु सभ्यता में बनी मुहरों से होने लगते है। सिंधु घाटी से लगभग 394 लिपियों का प्रमाण प्राप्त होता। कहने का तात्पर्य यह है लिपियों का विकसित रूप ही हमारे साहित्य की प्रमुख पहचान है। साहित्य की बात करे तो इसी के द्वारा अनेक महान कलाकारों का जन्म हुआ। मध्यकाल में राजाओं ने कवियों को राज्याश्रय प्रदान किया, उनकी इसी उदार भावना ने कई महान लेखक तथा कवियों को जन्म दिया। संस्कृत भाषा के महान कवियों में जयदेव, मतिराम, सूरदासए केशवदास, जायसी आदि कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा राज्य में निवास करने वाले कलाकरों को चित्रण के लिए अनेकानेक धार्मिक विषय प्रदान किये। कहने का अर्थ यह है कि इन्ही कवियों की कृति से प्रेरणा पा कर ही भारतीय शिल्प एवं तत्पश्चात हमें मध्यकालीन साहित्य में राम दर्शन से संबंधित विषयों के साक्ष्य दिखाई पढ़ते है। मध्यकालीन साहित्य में बहुत से कलाकारों ने रामायण के प्रति अपनी रूचि को प्रदर्षित किया है। आचार्य भवभूति कृति रामचरितम संस्कृत साहित्य एवं चित्रकला का सुंदर सम्मिश्रण है। आठवीं शताब्दी में लिखित इस ग्रंथ में चित्रबी थी की कल्पना की बात कही गई है। महाकवि भवभूति ने चित्रों के प्रयोग के द्वारा चित्रकला के प्रति अपने अनुराग को व्यक्त किया है। सीता के मनोविनोद की प्राप्ति हेतु लक्ष्मण द्वारा एक कला दीर्घा के आयोजन की बात कही गई है। इस दीर्घा में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचरित्र की चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की गई है। भवभूति द्वारा रचित इस नाटकीय चित्रवीथी में विश्वामित्र के जृंभकासत्रों को राम को दिए जाने से लेकर सीता की अग्नि परीक्षा तक के चित्रों को उकरने की बात कही गई है। कुछ चित्रों को शब्दों के साथ निरूपित किया गया है इस प्रकार हम देखते हैं, कि पूर्व मध्यकाल से लेकर उत्तर मध्यकाल तक साहित्य में चित्रकला का महत्वपूर्ण योगदान परिलक्षित होता है। इसी क्रम में 15वीं शताब्दी की प्रसिद्ध राजस्थानी शैली हो या फिर मुगलशैली या फिर पहाड़ीशैली चित्रों को निर्मित करने का मूल श्रेय बाल्मीकी कृति रामायण तथा तुलसीदास कृति रामचरित्रमानस को जाता है। चित्रकारों ने बड़ी कुशलता से रामायण के इन विषयों से प्रेरणा लेकर रामकथा को चित्रित किया।

भारतवर्ष में मध्यकालीन साहित्य और कलाओं का गहरा संबंध स्थापित हुआ समय-समय पर कवियों और कलाकरों को कला प्रेमी, विधानुरागी राजाओं द्वारा सम्मान मिलता रहा है। साहित्य और कला की विपुल विरासत हमें प्राप्त है, जिसका श्रेय कई राजवंशो को जाता है। चित्रकला के अन्तर्गत रामायण का चित्रांकन अकबर काल (1588 ई॰) में शुरु हुआ। वर्तमान समय में यह सचित्र प्रति जयपुर के ''सवाईमान सिंह द्वितीय संग्रहालय'' में सुरक्षित है। राजस्थानी चित्रकला की शैली मेवाड़ में रामायण की सचित्र प्रति मनोहर कलाकार द्वारा चित्रित किया गया जो मुम्बई के 'प्रिंस ऑफ वेल्स' संग्रहालय में सुरक्षित है। 1651 ई॰ की दूसरी प्रति सरस्वती भण्डार उदयपुर में है। राजस्थानी की उपशैली में धार्मिक आख्यानों के अन्तर्गत राम द्वारा हिरण का शिकार करते हुए चित्रित किया गया है, साथ में लक्ष्मण व हनुमान भी दिखाये गये हैं। पहाड़ीशैली की उपशैली चम्बाकलम के अन्तर्गत बाल्मीकि रचित रामायण के

छः काण्डों (बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किश्किंधाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्ड) की लम्बी चित्र श्रृंखला चित्रित हुई एवं मण्डी कलम के अन्तर्गत कपूर गिरि नामक चित्रकार द्वारा बनाई गई सचित्र 'रामायण' की एक प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में सुरक्षित है।

विजयादशमी के अगले दिन अर्थात् आश्विनशुक्ल एकादशी को 'भरतमिलाप' का पर्व मनाया जाता है। इस दिन भगावान श्रीराम 14 वर्ष के वनवास के बाद अयोध्या वापस आकर अपने छोटे भाई भरत से गले मिलने का उल्लेख महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण के उत्तरकाण्ड में दिया गया है। राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में संग्रहीत 'चित्रकूट में भरत का राम से मिलाप' शीर्षक वाली लघु चित्र टेम्परा तकनीक का उपयोग करते हुए कागज पर जल रंगों से बनाई गई है। इस पेंटिंग में रामायण के एक लोकप्रिय प्रसंग को 18वीं शताब्दी के मध्य में जयपुर के महाराजा सवाई प्रताप सिंह के सरंक्षण मे चित्रकार गुमानने जयपुर शैली मे चित्रित किया। इस लघु चित्र में उस भावनात्मक क्षण को दर्शाया गया है, जब भरत उन्हें वापस लाने पूरे लाव-लश्कर के साथ चित्रकूट के जंगल पहुंचे, जहां वनवास मिलने के बाद राम निवास कर रहे थे। अयोध्या में राजा दशरथ की मौत हो जाने और उनके अंतिम संस्कार और क्रियाकर्म के बाद राम को अयोध्या लौटा लाने के लिए भरत उन्हें मनाने की कोशिश करते है। परन्तु पिता राजा दशरथ की आज्ञा के पालन का वचन निभाने की बात कहते हुए श्रीराम ने अयोध्या वापस लौटने से मना कर दिया। चित्रकार गुमान ने इस लघुचित्र में 49 मानव आकृतियों का संयोजन बहुत कुशलता से दर्शाया है। चित्र में दाहिने कोने में राम की कुटिया और वहां केले के गुच्छे से लदा एक पेड़ दिखाई देता है। पृष्ठ-भूमि के लिये पूरी पेंटिंग में हरे रंग का प्रयोग है। अग्रभूति में पानी का एक खिंचाव जैसा संभवतः सरयू नदी का एक हिस्सा है जिसमें खिले हुए कमल दिखाते हुये हरा, नीला, पीला और सफेद रंगों का कुशलता से उपयोग है। यह जयपुर स्कूल की एक बहुत अच्छी तरह निष्पादित पेंटिंग है। इस प्रकार साहित्य में राम के जीवन के संबंधित अनेक विषयों का चित्रांकन बड़ी ही सुंदरता से किया गया है।

समकालीन साहित्य में रामलीला से सम्बन्धित शोध तथा लेख प्रकाशित हो रहे हैं। बाहरी देशों का साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बन रहा है। इन देशों के अन्तर्गत तथा इंग्लैण्ड, मलेशिया, म्यांमार, श्रीलंका से आए हुए कलाकरों द्वारा नई शैलियों का सम्मिश्रण हो रहा है।

निष्कर्ष :

भगवान श्रीराम के आदर्शों एवं उनके जीवन चरित्र को सामाजिक स्तर पर लाने में साहित्य चित्रकला एवं मध्यकाल का अधिक योगदान रहा है सफल जीवन जीने के लिए नैतिक मूल्य एवं अच्छे आदर्शों का पालन ही हमें जिम्मेदार एवं अच्छा नागरिक बनाता है उपर्युक्त विषय से हमें यह सीख मिलती है कि हमें राम के जीवनचरित्र को यर्थाथ जीवन में समाहित करना चाहिए। आने वाले युवा पीढ़ियों को रामदर्शन से प्रेरणा लेनी चाहिए। समकालीन में रामदर्शन का साहित्य में प्रमुख योगदान नजर आता है। अनेक प्रान्तिय नाट्य कला के द्वारा रामलीला का मंचन प्रस्तुत हो रहा है, अनेक पुस्तके, लेख तथा शोध के लिए अनुकूल विषय प्राप्त हो रहे है।

सन्दर्भ सूची :

1. गैरोला, वचस्पति, भारतीय चित्रकला, प्रथम संस्करण, मिश्र प्रकाशन प्रा॰ लि॰ इलाहाबाद।

2. जोशी, ईसा नारायण, मालवा की लोक चित्रकला, प्रथम संस्करण, विश्वभारती प्रकाशन।
3. मधुकर गोपाल, भारतीय चित्रकला, प्रथम संस्करण, 1989।
4. श्रीवास्तव, विमल मोहिनी, प्राचीन भारतीय कला में मांगलिक प्रतीक, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, आई॰एस॰बी॰एन॰ 8171243134, प्रथम संस्करण, 2002।
5. कांस्यकार, छेदीलाल, एसोसिएट प्रो॰ सच्चिदानन्द सिन्हा महाविद्यालय, श्रीरामलीला के 500 वर्ष (अयोध्या और काशी के सन्दर्भ में), औरंगाबाद, बिहार।
6. प्रताप, डा॰ योगेन्द्र साक्षी संपादक, रामायन इन इण्डिया एंड साउथेस्ट एशिया अंक-38 उ॰प्र॰ भारत, अयोध्या के शोध संस्थान की अन्तर्राष्ट्रीय शोधपत्रिका।
7. जोशी पूरुषोत्तम, तिवारी मारुति नन्दन, कमलगिरी प्रो॰ साक्षी- अष्टमंगल कला प्रतीक, अंक-39, अयोध्या शोध संस्थान।
8. अटपट्, अजय, छत्तीसगढ़ के लोकजीवन में राम, साक्षी-अंक 41।

Socio-cultural and technical aspects of being miniature: With the reference to Kangra miniature paintings

Prosenjit Raha
Ph.D. Scholar, (SRF), Department of Visual Art, Himachal Pradesh University. Shimla

Prof. Him Chatterjee
HOD, Department of Visual Art, Himachal Pradesh University, Shimla

Dr. Ritwij Bhawmik
Associate Professor,
Department of Humanities and Social Sciences & Design Programme, IIT Kanpur, Kanpur

Abstract

The technical details and social backdrop of the art creation are essential to understand it properly. This paper argues the reasons for being miniature in the cases of Indian miniature paintings like Kangra art are vital to conserving the traditional practice practically. Here the main fact of exploration was the artistic venture amid a special eco-system with other stakeholders of the enterprise like art material suppliers, appreciators, critics, and patrons. As a traditional art, its historical context is also important. The way of presentation after the execution of the art and how the viewers are receiving and enjoying it are deeply interlinked and everything has a proper reason. It was a keen observation and assimilation of every aspect like foreign invasions, documentation, portability, a form of propaganda, glorification of religious beliefs and others. By enquiring about the functionality of being miniature to every step and aspect of Kangra miniature painting, this research provides a special point of view about the style.

Keywords

Mediaeval Indian art, Kangra miniature painting, method & materials, traditional art, heritage.

Introduction :

There is a famous Bengali proverb, Andher Hasti Darshan. That means if a blind person tries to describe an elephant after experiencing it in real, he or she will touch the elephant in different ways and describe it according to their experience. Being too large they will feel the shape of the elephant according to the limb they have touched. Who touches the leg he or she will tell the world that the elephant is like a pillar. Somebody will touch the teeth. He or she will think the elephant is like a long, smooth horn. Somebody, who

touches the belly he or she will imagine the elephant is like a large pillow. Being not able to see they do not find the exact shape of the elephant. This proverb represents the condition of the researchers working on a gigantic topic like Kangra miniature art which has numerous aspects of studies. Aspects of Kangra art like history, art, aesthetics, criticism, traditional knowledge system, cultural studies, and cultural sustainability, are already becoming rapidly growing sectors of research. This paper is raising a question. Why those paintings were small in size? This may sound a little foolish. All know traditional Kangra-style paintings are essentially small and therefore they are called 'Kangra miniature paintings. It is a popular belief. As research, if there is a question a rational answer must be tried to be found. The answer may be in the technicalities of studio practice of traditional Kangra miniature paintings. It may string all other previously mentioned aspects of the Kangra style with a better understanding.

Miniature painting is a highly regarded category of the Indian history of painting. This category is known for its miniature size. Probably it evolved and popularized with the invention of paper in China in CE 105 (Gunaratne, 2001). The invention of paper mobilized the world by becoming the most suitable object to document information and knowledge. Paper not only was the best for written documentation but also it was easily portable. The paper became crucial to exchange knowledge about religion, philosophy, economics, science, culture, and art all over the world. All the books were handwritten. Print technology was not invented yet. Therefore, it was the golden period of calligraphy and book illustration. The pages of these books were compact with decorative hand-drawn borders (called Hasies), Calligraphy and illustrations. Certainly, the space for the illustrations was not so large. These book illustrations were the birth ground of miniature paintings.

In India, we may notice Mughal miniature paintings were responding to this worldwide cultural exchange. The confluence of ancient Indian art and Middle Eastern Persian art can be felt in these paintings (Tomory, 2017, P.251). The Rajput states of Rajasthan and Punjab Hills established different distinguishable schools of miniature paintings (Coomaraswamy, 1916, p. 1-5). Although most of them carried the Mughal influence because these were politically connected with the Mughals (Sharma, 2020). Some of them were political rivals of the Mughals. In some cases of political rivalry, we may notice the exchanges of artistic idioms among their artists.

Kangra comes under the cluster of Punjab Hills which are also called Pahari schools. It flourished under the patronage of great Kangra kings like Raja Sansar Chand. The legends and benchmarks of this style were set by legendary Pahari artists like Nainsukh, Manku, Purkhu and others (Goswamy & Fischer, 1992, p. 200- 215).

To find out the reasons for being miniature we need to observe how this entire enterprise runs. Most of the schools of miniature painting declined along with their kingdoms. Kangra style also declined with the royal court of Kangra. Great artists and activists like Chandulal Raina (Kangra), Nathulal Verma (Jaipur), Om Sujanpuri (Shimla), Kripal Singh Shekhawat (Jaipur), Sumahendra Sharma (Jaipur), Vijay Sharma (Chamba), Bannus

of Jaipur, Dhaniram (Kangra), Mukesh Dhiman (Kangra)and others have generated a new sensitivity for Kangra miniature art in the modern eras. Being alive and productive this association of traditional Kangra art may guide us to understand the eco-system of the ancient tradition of Indian painting.

Figure-1 : Kangra artist Dhaniram is guiding new tranies.

This ecosystem starts with the art material suppliers. Instructed by famous artists Dhaniram and Mukesh Dhiman of Kangra, the author first went to Jaipur, Rajasthan to collect the authentic colours (pigments), brushes, paper (Wasli), Gold vark and silver vark. The collection of these authentic art materials is a challenge. It cannot be said that they are too expensive to buy. The issue is the rarity. These art materials are not produced on an industrial scale. They prepare these with individual effort. It takes too much hard work. It is a matter of rare experience and highly specialized skill. The processes are too much time-consuming. Therefore, generally they avoid new customers. People may feel offended as they are offering money according to their ask but these traditional art material sellers are showing no interest to sell. The problem is, selling to one new customer means they have to refuse one of their daily customers for the next few days. Their daily customers are reputed miniature artists from different parts of India. These art material sellers know how crucial their job is for conserving the great tradition of miniature painting in India. They choose their customers who are reputed as continuously working to make the tradition stay alive. For example, the author visited the house of gold and silver vark seller, Summy Patel in Jaipur near Netaji Chawk. They were convinced to sell gold vark only after confirming the references of the famous artist Dhaniram of Kangra and Padmashreeawardee Vijay Sharma of Chamba by talking to them over the phone. Almost the same thing happened at the time inother places of paper, brush and colour. This struggle for rarity also existed in the period of the royals. Only the royal and reputed artists used to get access to these rare art materials.

After collecting the art materials, the author reached Kangra, Himachal Pradesh to learn the process of Kangra miniature painting practically under the famous traditional Kangra artist Dhaniram Khushdil. It is a complicated process with a number of layers and steps. The steps were extracting or grinding pigments from colour stones and natural sources, preparation of Khadia (Earth colour, white) ground on Wasli paper, pouncing or tracing, colouring, Ghotaii, work of Partaj andfinal work line and dots. The step of Ghotaii and Partaj deserve special mention to understand the intensity of intricacy of this art. After flatlycolouring all the spaces divided by initial lines the painting is placed upside down on a clean, smooth, and flat marvel slab. Then with an agate stone, the painting is rubbed properly by the back. Thus, the colour particles dispersed over the surface of the ground. This process is called Ghotaii. There is a special smoothness

is created by this which is shining but has a semi-absorbent quality. This special quality allows the smooth run and flow of brush to depict the unbroken and rhythmic intricate lines. It also helps to do the work of Partaj. Partaj is a texture created by numerous delicate strokes on a particular flat space. It is generally done to depict the green pasture up to the horizon. The strokes are too delicate. They are almost invisible. Being too tiny they create a visual vibration which creates a different stylistic identity for Kangra miniature painting and attraction for the viewers.

Figure-2 : Process of Ghutaii

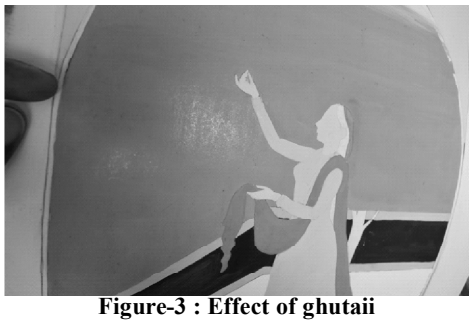

Figure-3 : Effect of ghutaii

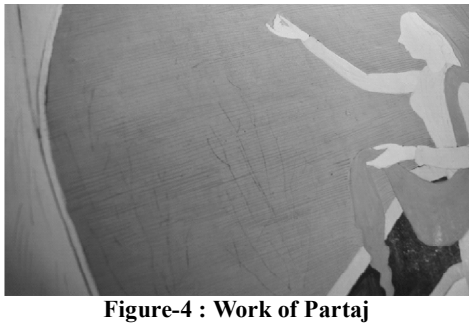

Figure-4 : Work of Partaj

The artistic qualities of Kangra miniature paintings are also distinguishable in terms of characteristics. Compactness in the composition is an essentiality for the Kangra paintings. Purkhu of the final phase of the royal Kangra period was famous for his comparatively larger paintings. In his painting,the figures, animals, plants, and objects did not get bigger but to maintain the compactness, the number of figures, animals, plants, objects, and other details was increased. Kangra painting does not allow any foggy illusion to establish emphasis. They prefer flatness and clarity. Although there was linear perspective, they never use blur to defuse any side character. Linear clarity was always a priority. If art is a language, then Kangra art does not speak. It whispers. It brings peace and coolness as the weather of the hills makes us feel. It happens by avoiding the colour contrast. Kangra paintings do not pinch or poke the eyes for attention. It stays calm with its meditative purity and freshness. Viewers imbibe this spiritual essence by staying with the art. Therefore, the lines are too intricate and responsive for the entire compositional rhythm. Thus, the line in this art maintains clarity along with fluidity.

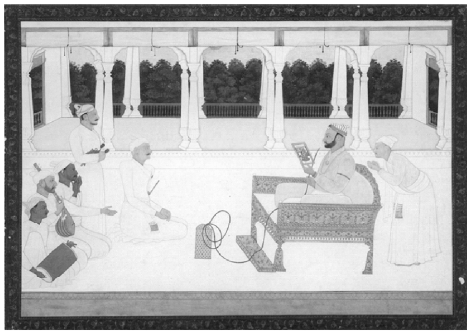

Figure-5 : Raja Balwant Singh of Jasrota examining a painting with Nainsukh C. 1750 21 × 30 cm

The way of presentation - receiving and enjoying :

Artists act like decoders. Here the viewers are the encoders of the cultural communication through painting. There is a huge difference between the present way of watching art and enjoying art in the period of royal miniature painting. In that period paintings were not exhibited for the common public. The King and queen and who are close to them only were the only spectators. They used to take the painting on their lap, sitting on their throne and loved to spend hours, exploring the delicate details.

Discussion :

The cultural practice of miniature painting in India initially started as book illustrations. Naturally, the artistic test of the paintings was needed to match the visual impression of the beauty of calligraphy. The tiny curves of the ink-drawn alphabets might be the inspiration for the intricate movements of miniature lines. Sharing space with calligraphy and decorated borders, being miniature was a necessity for these illustrations. The materials like colour, paper brush and all required for miniature painting are too rare and not easily accessible. Preparing those materials for use is a complicated and laborious task. Insufficient materials also were a big reason for the development of this tendency to be miniature. Processes like Ghotaii were essential for the compilation of any miniature painting and were developed focusing the small-size paintings. For large paintings, the pressure of Ghotaii is not distributed equally at the back of the paintings. The work of Partaj was a delicacy for Kangra-style miniature painting. Application of this technique is comparatively less effective in large paintings. The compositional compactness and soberness of Kangra miniature paintings can be challenged if it tries to become large. The charismatic intricacy of the miniature style line loses its functionality in the depiction of large objects. The way of enjoying was also different. Miniature paintings were not hung on walls to allow everyone to see them. It was a part of spending private time of the king with the queen or close ones. The paintings were either illustrations in books or in albums of a number of other paintings. This presentational format also demands the miniature shape of the paintings.

Conclusion :

The advent of a special art form cannot be possible without its socio-cultural backdrop. Exploring art is exploring a worldview. This paper has deliberated on the relationship between being miniature and the social pattern of that royal period of miniature painting. As we are seeing now, people did not see the artworks in that period. They had a different approach to enjoying paintings. Art materials and techniques were different. All these collectively worked to develop the language of miniature painting. Today's context is different. The way of presentation and the way of appreciation is different. The eyes of the present may misjudge the qualities of miniature art if they remain unaware of these essential facts. Being miniature was a necessity for miniature paintings in that sociocultural structure.

References :

1. Gunaratne, S. A. (2001). Paper, Printing and the Printing Press: A Horizontally Integrative Macrohistory Analysis. Gazette (Leiden, Netherlands), 63(6), 459–479. https://doi.org/10.1177/0016549201063006001.
2. Tomory, E. (2017). A history of fine art in India and West. Hydrabad: Orient Black Swan.
3. Coomaraswamy, A. (1916). Rajput Painting (Vol.1). London: Oxford University Press.
4. Sharma, V. (2020). Painting in the Kangra Valley. New Delhi: Niyogi Books.
5. Goswamy, B.N. & Fischer, E. (1992). Pahari masters: Court painters of Northern India. New Delhi: Niyogi Books.

दतिया की छतरियों में चित्रित राधा-कृष्ण के चित्रों का अध्ययन

बृजेश पाल
(शोधार्थी) *ललितकला संस्थान,*
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी, उ॰प्र॰

डॉ॰ श्वेता पाण्डेय
(सहा॰ प्रवक्ता) ललितकला संस्थान,
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी, उ॰प्र॰

सारांश

कला का विकास मानव सभ्यता के साथ-साथ अनवरत चलता रहा है। प्राचीनकाल से ही मनुष्य अपनी हृदय की भावनाओं को रंगों व रेखाओं के माध्यम से चित्रों के रूप में उन्हें साकार करता रहा है। इस प्रकार मानव जाति के इतिहास की पृष्ठभूमि में कलाओं का अपना विशिष्ट स्थान रहा है।

चित्र मानवीय भावनाओं की सहज सशक्त अभिव्यक्ति का सुन्दर आधार है। यही कारण है कि मानव इतिहास के साथ ही चित्रकला का विकास अविछिन्न रूप से समृद्ध रहा है। चित्रकार रेखा और रंग के सहारे किसी आधारभूत सतह पर अन्तर्जगत और बाह्य जगत के उद्भूत भावों को साकार करता है। शिल्प शास्त्रों में चित्रकला को अन्य कलाओं में श्रेष्ठ माना गया है। भारत में भित्ति चित्रकला का प्रारम्भ जोगीमारा की गुफाओं से माना जाताहै।इसके उपरान्त अजन्ता, बाघ, बादामा, सित्तनवासल आदि स्थानों पर भित्ति चित्रण किया गया। बुन्देलखण्ड में जहां मूर्तिकला, स्थापत्य कला एवं चित्रकला जैसी अनेक कला विधाओं का बहुमुखी विकास हुआ है। वहीं बुन्देलखण्ड में भित्ति चित्रकला का विकास कई स्थानों पर हुआ है जिनमें ओर छाव दतिया मुख्य रूप से भित्ति चित्रकला के संरक्षक माने जाते हैं।

प्रस्तावना :

बुन्देलखण्ड भारत का एक प्राचीन क्षेत्र है। बुन्देलखण्ड का विस्तार मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश का दक्षिणी भू-भाग व मध्य प्रदेश का उत्तरी भू-भाग को मिला कर बुन्देलखण्ड की रचना हुई। यहाँ कई ऐसे प्राचीन मंदिर,महल व सागर के विशाल तालाब विश्व भर के पर्यटकों को आकर्षित करते हैं। बुन्देखण्ड पर कई शासकों का राज्य रहा रहा है जिसमें चंदेला, बुंदेला, वाकाटक, प्रतिहार, खंगार आदि रहे हैं।

बुंदेलखण्ड विधेलखण्ड का अपभ्रंश है। यहाँ विंध्येला पर्वत के आस पास वाली भूमि विंध्येला थी। जो विंध्येंलखण्ड व बाद में बुंदेलखण्ड कहलाया। अनेक शासकों व और वंशों के शासन का इतिहास होने के बावजूद भी बुंदेलखण्ड की अपनी समृद्ध ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व सामाजिक पहचान को नकारा नहीं जा सकता।

यहाँ पर कई बुंदेला राजाओं ने राज्य किया एवं अनेक किले, महल व छतरियों का निर्माण करवाया, जिनमें ओरछा व दतिया का स्थान प्रमुख है। यहाँ पर दतिया की छतरियों में चित्रित राधा-कृष्ण के चित्रों का अध्ययन किया जा रहा है।

दतिया जिला उत्तर की ओर भिंड, पश्चिम की ओर ग्वालियर, दक्षिण की ओर शिवपुरी से एवं पूर्व की ओर झाँसी जिले से घिरा हुआ है। यह शहर अपने खूबसूरत महलों, मंदिरो व छतरियों के लिए प्रसिद्ध है। दतिया में बहुत से मंदिरों का निर्माण भी हुआ है जिसमें पीताम्बरा पीठ प्रमुख है। यहाँ पर बहुत से कृष्ण मंदिर भी बने हुए है।

दतिया की प्रसिद्ध यहाँ की लघु चित्रकला है जो पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं जिसके विषय रामायण, भागवतपुराण, नायक-नायिका हैं।

बीज शब्द

बुन्देलखण्ड, छतरियाँ, दतिया, भित्तिचित्र, बुन्देला, राधा-कृष्ण, गोपियाँ, चित्रशैली

दतिया चित्रकला में धार्मिक प्रभाव :

दतिया के चित्रों का अध्यन करने पर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि यहाँ पर निर्मित चित्र पड़ोसी राज्य ओरछा से प्रभावित थे। दतिया चित्रकला शैली में रामायण, महाभारत, भागवत पुराणों से संबन्धित धार्मिक चित्रों के अतिरिक्त स्थानीय राजाओं के जीवन से संबन्धित घटनाओं के चित्रण भी देखे जा सकते है।

मध्यभारत में बुंदेली चित्रकला की अपनी विशिष्टताएँ हैं, जो उन्हें अन्य क्षेत्र की चित्रकला से अलग बनाती हैं। बुंदेली चित्रकला के सबसे उत्तम प्रमाण ओरछा और दतिया में देखे जा सकते हैं। बुन्देलखण्ड में धार्मिक आस्थाओं और मान्यताओं का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इस क्षेत्र में समय-समय पर विभिन्न धर्मो और सम्प्रदायों का विकास और संरक्षण हुआ। जिसके अंतर्गत यहाँ पर धार्मिक सम्प्रदायो के रूप मे शैवमत, शक्ति उपासना, मातृपूजा, शक्तिवाद, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, भागवत धर्म, रामानुज सम्पद्राय इत्यादि प्रमुख थे।

बुन्देली शासको की वंशावली के अनुसार यहाँ पर बुंदेलों का शासन प्रथम शासक रूद्र प्रताप (1501 ई॰-1531 ई॰) से शुरू होता है। इसके बाद इनके उत्तराधिकारी भारतीचन्द्र (1531 ई॰ से 1554 ई॰) हुयेए इनके पश्चात् बुन्देली शासन की बागडोर राजा मधुकरशाह बुन्देला (1554 ई॰ से 1592 ई॰) के हाथो आयी। बुन्देला शासको में मधुकरशाह पहले राजा थे, जोकि वैष्णव धर्म के समर्थक थे। इनके ही समय में बुन्देली भित्ति चित्रो का विकास शुरू हुआ था। इसीलिए इनके समय में यहाँ के भित्ति चित्रो में 'वैष्णवधर्म' से संबन्धित चित्रों का अधिक चित्रण किया गया।

दतिया चित्रकला की पटल तैयार करने की विधी :

चित्रकला के लिए पटल तैयार करना सबसे महत्वपूर्ण कार्य होता है। दतिया चित्रकला में चित्रों को निर्मित करने से पहले पटल को प्लास्टर के रूप में तैयार किया गया है। क्योकि किसी भी चित्र की गुणवत्ता और उसकी सुंदरता में चित्र पटल का महत्वपूर्ण योगदान होता हैं। इसलिए चित्र की लम्बी आयु के बहुत महत्वपूर्ण होता है, कि जिस जगह पर उसका चित्रण करना है, पहले उसे इस प्रकार तैयार किया जाये, कि उस पर निर्मित किए जाने वाले चित्र एक लंबे समय तक सुरक्षित रहें। भारतीय कला में भित्ति चित्रण पद्धति के इन प्रमाणों को अजन्ता, एलोरा, बाघ, बादामी, सिन्तनवासन आदि की गुफाओं में देखा जा सकता है।

अजंता में गुफा की खुरदुरी भित्ति पर चूने का प्लास्टर चढ़ाकर टेम्परा शैली में रंगाकन किया गया है। यहाँ सर्वप्रथम रेखांकन किया गया है फिर स्थानीय रंगों को तैयार कर समतल रूप से भरकर गोलाई एवं उभार देने के लिए आस पास गहरे रंगों का प्रयोग किया गया है। काले, सफेद तथा हिरोंजी रंगों से उत्तम आलेखन बने हैं तथा लाल, नीले और पीले विरोधी रंगों का भी प्रयोग हुआ है।

यदि हम मध्ययुगीन भारतीय कला के व्यापक पटल की समीक्षा करें तो उस युग में राजस्थानी, मुगल, पहाड़ी और बुन्देली चित्र शैलियों में भी भित्ति चित्रण परम्परा का इस विधि का अनुशीलन किया जाता रहा है। यद्यपि बौद्ध कालीन भित्तिचित्रो से इनकी रचना विधान में कुछ भिन्नतायें थीं। लेकिन इन सब ऐतिहासिक स्थलों पर चित्रण से पहले चित्रण के पटल को तैयार किया गया है। भारत में भित्ति चित्रों बुन्देली चित्रकला स्वतन्त्र रूप से विकसित चित्रशैली तो नहीं कही जा सकती, लेकिन इस शैली को राजपूत और मुगल शैलियों ने आधार प्रदान किया, जिसमें स्थानीय रीति-रिवाज, त्योहार, धार्मिक मान्यतायें, स्थानीय वेश-भूषा, आभूषण और अलंकरण जैसे तत्वों ने चित्रकारों को प्रेरित किया। जिनके संयोग और सामंजस्य से बुन्देली चित्रकला अपनी पहचान बना सकी।

चित्रकारी से पहले चित्रकार भूमि को प्लास्टर या वृज लेप से तैयार करते थे। शिल्प-शस्त्र में इसे 'भूमि बन्धनम' कहा गया है। बुंदेलखण्ड में इसे 'भीत' तैयार करना कहते है। प्लास्टर बनाने के लिए 'वृषभ चलित प्रस्तर चक्की' द्वारा वर्तुलाकार दो फीट गहरी नाली में दो दिन तक पीसा और घोंटा जाता था। इसको शक्तिशाली बनाने के लिए इसमें जो घटक मिलाये जाते थे, उनमें बेल का गूदा, लभेड़ा, कपिथ, उड़द की दाल का जल, तथा गुड़, इत्यादि, जिसे शिल्पी लोग ऋतु के अनुसार इस्तेमाल किया करते थे।

राजा परीक्षित की छत्री :

कृष्ण गोपियों का चित्रण :

इसमें अनेक स्थान पर कृष्ण को गोपियों के साथ चित्रित किया गया है। एक दृश्य में कृष्ण को पेड़ों के झुंड के बीच में प्रत्येक गोपी के साथ एक दूसरे का हाथ पकड़े हुये समूह नृत्यकरते हुये दिखाया गया है। कृष्ण को जामा पहने हुये दिखाया गया हैजिनके सिर पर मोर मुकुट है। गोपियों को लहंगा ब्लाउज पहने दिखाया गया है।

इसी दृश्य में दायीं तरफ कृष्ण को एक गोपी का हांथ पकड़कर नृत्य करते हुये चित्रित किया गया है। गोपियों के वस्त्र कत्थई रंग के हैंजबकि कृष्ण को नीले वस्त्र पहने हुये दिखाया गया है। इस दृश्य में नीचे की तरफ गोपियों को एक पंक्ति में खड़े दिखाया गया हैजोकि तीन रंग के लेंहगे जिनमें कत्थई, सफेद, नारंगी है पहने हुये हैं।

कृष्ण का मटकी फोड़ना :

कृष्ण लीलाओं के अनुसार कृष्ण अपने सखाओं के साथ आस.पड़ोस के घरों से माखन और दही चुराया करते थे। कृष्ण की बदमाशियों से परेशान हो महिलाओं ने माखन और दही मटके ऊपर रखने लगी थी, इसके बाद कृष्ण अपने सभी मित्रों के साथ मिलकर एक मानवीय पिरामिड बनाते थे और उनके ऊपर चढ़ कर मटके से दही और माखन खाते थे। लेकिन राजा परीक्षित की छत्री में कृष्ण को अपने साथियों के साथ एक गोपी का हांथ पकड़करउसकी दहि मटकी को सर से छीनते हुये दिखाया गया है। जबकि बाकी गोपियों को शोर मचाते हुये दिखाया गया है। गोपियों के सर पर बालों जूड़ा का बंधा हैशरीर पर लहँगा ब्लाउज हैइस चित्रण में नीचे की तरफ गायों का चित्रण है।

कृष्ण का गोवर्धन पर्वत को उठाना :

यहाँ के एक चित्रण में कृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को अपनी छींग्ली पर उठाये हुये चित्रित किया गया है। कृष्ण के वस्त्र सफेद हैं सर पर मोर मुकुट है। दायी एवं बायीं तरफ गोकुल वासियों को हांथ

जोड़करप्रार्थना करते हुये दिखाया गया है। पशुओं में गाय, भैंस एवं कुत्ते का चित्रण किया गया है। कुछ गोकुल वासी वर्षा से बचने के लिए सर पर कोई वस्त्र ओड़े हैं। इस चित्रण में कुछ लोगों के कमर मैं बंधे वस्त्रों में आसमानी रंग का प्रयोग क्यी गया है। इसी दालान के दक्षिण मुखी छत में कृष्ण लीला का चित्रण दिखायी पड़ता है, जोकि वर्तमान समय में अधिकतर नष्ट हो गया है।

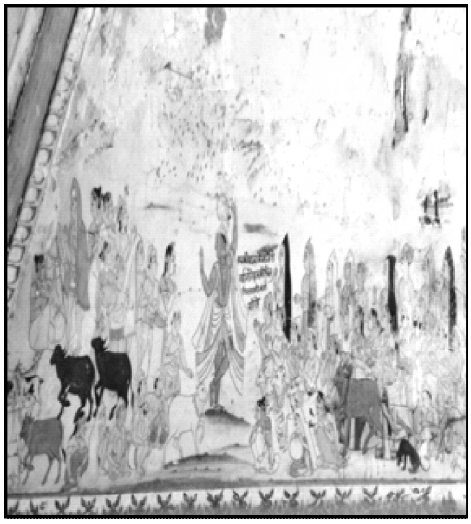

कृष्ण का गोपियों के वस्त्र चुराना :

इस छत्री के अंदर दालान की दक्षिण मुखी छत में फीट की ऊंचाई पर श्री कृष्ण द्वारा गोपियों के वस्त्र चुराकरउनको सीख देने का चित्रण बड़े ही सुंदर ढंग से किया गया है। पद्म पुराण में वर्णित कथा के अनुसार जब गोपिया जल में स्नान करने के लिए तलाब में उतरती है,तब कृष्ण गोपियों के वस्त्र चुराकर छुपा देते हैं। अधिकतर जनमानस यही समझते है,कि श्री कृष्ण नटखटता में गोपियों को तंग करने के उद्देश्य से उनका वस्त्र चुरा लिए करते थे। बल्कि उनहने गोपियों को ज्ञान देने के लिए ऐसा किया था।

कृष्ण का कदंब वृक्ष के नीचे बांसुरी बजाना :

इस छत्री के अंदर दालान की दक्षिण मुखी छत में 11 फीट की ऊंचाई पर कृष्ण का कदंब के वृक्ष के नीचेखड़े होकर बांसुरी बजाने का चित्रण किया गया है। शास्त्रों के अनुसार गोकुल में गायों को चराने के दौरान श्री कृष्ण कदंब के वृक्ष नीचे बैठकर बांसुरी बजाया करते थे, उनकी बांसुरी की मधुर धुन सुनकर गाय उनके पास आ जाती। सिर्फ गाय ही नहीं, गोपियों को भी उनकी बांसुरी की धुन मोहित कर देती थी। यमुना के किनारे कदंब के काफी वृक्ष हुआ करते थे। कृष्ण गले में वैजयंतीमाला पहनते थे। वैजयंती माला के वृक्ष पर जो फल लगते हैं, उनकी माला बनाई जाती है। धार्मिक मान्यता के अनुसार वैजयंतीमाला को पहनना बहुत ही शुभ माना जाता है। कदंब के पौधों में लगने वाले फलों को बंदर, लंगूर बड़े चाव से खाते हैं। इस दृश्य के चित्रण में कत्थई, आसमानी, गहरे नीले एवं स्लेटी रंग का प्रयोग किया गया है।

विजय बहादुर की छतरी :

यह छत्री दतिया में करण सागर तालाब के किनारे पर राजा परीक्षित की छत्री के दक्षिण में स्थित है। महाराजा परीछत के निःसंतान होने के कारण उन्होने कुंवर विजय बहादुर को गोद लिया था। जिन्होने सन् 1839 ई॰ से सन् 1857 ई॰ तक शासन किया। उनके पश्चात महाराजा भवानी सिंह उनके उत्तराधिकारी हुए, जिन्होने इस छतरी का निर्माण कराया।

यह छतरी वर्गाकार प्रांगण में बनी है। छतरी की बाहरी दीवारों पर विभिन्न प्रकार के बेलवूटे का अलंकरण है। अलंकरणों के साथ-साथ हाथी, घोड़े, वांसुरी बजाते कृष्ण, पहलवान, घुड़सवार, साधु, हनुमान व शेर के हैं। समाधि के ऊपरी भाग में अष्टकोणीय स्थापत्य के बीच वृत्ताकार परिधि में अंकन किया गया है। वृत्त के चारों ओर कृष्ण व गोपियों को एक-दूसरे के हाथ पकड़कर नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है। सभी के चेहरे एक चश्म बनाए गए हैं। कृष्ण को मुकुट पहने दिखाया गया है। उनकी वेशभूषा प्रत्येक आकृति में अलग-अलग है। सभी आकृतियों में बुन्देलखण्डी पटका स्पष्ट दिखाई देता है।

महाराजा भवानी सिंह की छतरी :

महाराजा भवानी सिंह के पुत्र महाराजा गोविंद सिंह ने उनकी स्मृति में एक छतरी का निर्माण करवाया था। छतरी के प्रवेश द्वार के दोनों ओर बने हुए विभिन्न बेलबूटों के अल्पनाओं से अलंकृत है। बीच के प्रवेश द्वार के ऊपर वाली वर्गाकार भित्ति पर दो हाथियों को सूड़ उठाए चित्रित किया गया है। छतरी के पीछे की भित्ति पर भी एक सुन्दर अंकन किया गया है। जिसमें दो हाथी आमने-सामने खड़े चित्रित किए गए हैं। उनका एक पैर मगर के जबड़े में है। बीच मे एक वृत्त बना हुआ है। वर्गाकार आकारों के ऊपर एक लम्बी पट्टी आकल्पनाओं की बनी है। जिनमें भगवान गणेश, मराठा सरदार, शेर व हाथी के चित्र अंकित हैं।

ऊपर की ओर बड़े वृत्त के बाहरी घेरे में नृत्यरत कृष्ण व गोपियों का अंकन किया गया है। उसके नीचे की ओर एक साधु की धुमिल आकृति है तथा उसके पार्श्व में एक वृक्ष है जिसके ऊपर सारस अंकित किए गए हैं। इनके अलावा मयूर व अन्य पक्षियों का भी अंकन किया गया है। इसके अलावा एक स्थान पर गदा उठाए मुकुटधारी हनुमान का भी अंकन किया गया है। एक कोने पर भगवान शंकर जिनकी जटा से गंगा निकलते हुए अंकित है।

निष्कर्ष :

दतिया की सम्पूर्ण छतरियों का अध्ययन करने के पश्चात यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्पूर्ण छतरियों में राधा-कृष्ण का चित्रण बुंदेली शैली में किया गया है। बुंदेली शैली की विशेषता है कि यहाँ पर चित्रों में रंग सरल, सपाट व चमकदार लगाए गए हैं। यहाँ के भित्ति चित्रों में भावों को अधिक महत्व दिया गया है। इस शैली में नायक-नायिकाओं का अंकन सामान्य मनुष्य के रूप में न बनाकर कृष्ण और राधा के रूप में दिखाया गया है। चेहरे एक चश्म, माथा छोटा और धंसा हुआ तथा नाक और माथा एक ही सपाट प्रभावपूर्ण रेखा से बनाये गए हैं। चित्रों में उर्दू लिपि से नाम लिखा गया है। दतिया के चित्रों में मुगल व राजस्थानी शैली का समन्वय देखने को मिलाता है। इन चित्रों में विधान तथा रंग भित्ति चित्रों के विधान जैसे सरल वसपाट हैं।

सन्दर्भ :

1. डॉ॰ अविनाश बहादुर वर्मा - भारतीय चित्रकला का इतिहास, राज प्रिंटर्स मेरठ, (2020), पृ॰ 210-211
2. Madhu Saxena - Bundelkhand Painting, Sharda Publishing House Delhi (2004), P. 111
3. डॉ॰ कुमकुम माथुर एवं दिव्य खरे - मयथोलोजिकल मिनिएचर पेंटिंग ऑफ ओरछा-दतिया 17-18 सेंचुरी, इंटेरनेशनल जर्नल ऑफ एडवांस रिसर्च एण्ड डेवलपमेंट (2018), पृ॰ 410-412
4. डॉ॰ रीता प्रताप - भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, (2019) पृ॰-93
5. बुन्देलखण्ड के भित्ति चित्र डॉ॰ भट्ट, शुभेश - बुंदेलखण्ड की चित्र-साधन, खण्ड-3, जनक शिल्प दीर्घा, वीर बुंदेलखंड प्रेस झाँसी (1981), पृ॰-6
6. प्रेमशंकर द्विवेदी - भारतीय भित्तीय चित्रकला, कला प्रकाशन, बी॰एच॰यू॰, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण-2010, पृ॰-30
7. चुन्नू शिल्पी, जन्म 1899 ई॰ भदौरिया की खिड़की, दतिया के शोध छात्र का साक्षात्कार।
8. डॉ॰ रामनाथ मिश्र (1973) - 'मध्यकालीन भारतीय कलायें एवं उनका विकास', राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर पृ॰-9
9. शोधार्थी द्वारा सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त जानकारी के आधार पर, सर्वेक्षण तिथि 08/12/2020
10. नर्मदा प्रसाद उपाध्याय - ''बुन्देलखण्ड के भित्ति चित्र'' मध्य प्रदेश जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स, भोपाल, मध्य प्रदेश (2021) पृ॰-15
11. शोधार्थी द्वारा सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त जानकारी के आधार पर, सर्वेक्षण तिथि 08/12/2020
12. शोधार्थी द्वारा सर्वेक्षण के दौरान प्राप्त जानकारी के आधार पर, सर्वेक्षण तिथि 08/12/2020

सौन्दर्य

सौंदर्यशास्त्र की सांगीतिक संकल्पना

बबलू कुमार 'केतन'
शोधार्थी
सिक्किम केंद्रीय विश्वविद्यालय, गंगटोक

डॉ॰ सुरेंद्र कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर
इलाहाबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सारांश

सौंदर्य से जिस आनंद की अनुभूति होती है उसे हम 'रस' कहते हैं। रस और सौंदर्य एक ही है। लय में जिस तरह ताल का महत्व है उसी प्रकार रस का सौंदर्य में। संगीत रचना में शब्द, छंद, लय एवं ताल आदि का महत्व है उसी प्रकार रस में अनुभूति, भाव, वांचित, आंगिक, सात्विक, स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव प्रकट होते हैं। शास्त्रों में स्वरों के निश्चित स्थायी भाव और रस दर्शाये गये हैं। भाट्ट लोलक ने सौंदर्यानुभूति को आनंदात्मक अनुभव बताया है। भावनात्मक आनंद, कल्पनात्मक आनंद, बौद्धिक आनंद इन तीनों का आनंद सौंदर्यानुभूति प्राप्त करता है। भारतीय कला सौंदर्य सत्यम शिवम सुंदरम की संकल्पना पर आधारित है जिसे ऋग्वेद में 'श्री' कहा गया है। वहीं पाश्चात्य में सौंदर्य को 'ब्यूटी' कहा गया है। काल की दृष्टिकोण से क्रोचे ने बाउमगार्तेन को सौंदर्यशास्त्र का पहला ग्रंथकार माना है जिसने 1750 ईस्वी में सर्वप्रथम 'एस्थेटिक' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया था। संगीत का संबंध आंतरिक सौंदर्य से है, इसमें उपस्थित ध्वनिमय राग-रागिनी हमारी आत्मा को प्रभावित कर आनंद की अनुभूति कराती हैं शायद इसीलिए इसे नंदनशास्त्र भी कहा जाता है।

सूचक शब्द

संगीत, सौंदर्य, संकल्पना, दर्शन, रस।

जनरुचि को परिष्कृत और विकसित बनाने के लिए इस शास्त्र का अध्ययन और अध्यापन दोनों ही अत्यावश्यक है। क्योंकि सौंदर्यशास्त्र ही हमें यह बताता है कि यद्यपि प्रत्येक सुंदर वस्तु आकर्षक, प्रिय और मनमोहक होती है तथापि प्रत्येक आकर्षक प्रिय और मनमोहक वस्तु सुंदर नहीं होती। सौंदर्य का अनुभव व्यापक और महत्वपूर्ण है। इससे हृदय सरस और जीवन उर्वर होता है; बुद्धि को नवीन चेतना और कल्पना को सजीविता प्राप्त होती है। इस महत्वपूर्ण अनुभूति का अनुशीलन करने, इसके स्वरूप व स्वभाव को समझने, जीवन की दूसरी अनुभूतियों के साथ इसका संबंध स्पष्ट करने तथा इसकी पुष्टि और रचनात्मक शक्ति को समझने के लिए, जिससे कला का जन्म होता है, हमें एक विशेष विचार-माला की आवश्यकता होती है। इस व्यवस्थित विचार-माला को हम 'सौंदर्यशास्त्र' कहते हैं। सौंदर्यशास्त्र, सौंदर्य की शास्त्रीय विवेचना है। इसका मूल विषय है सौंदर्य के स्वरूप की व्याख्या करना। सौंदर्यशास्त्र को स्वतंत्र विषय बनाने का श्रेय पाश्चात्य जर्मन दार्शनिक एलेग्जेंडर बाउमगार्तेन को जाता है। इस विषय का निजात दर्शन-शास्त्र से हुआ है। जिसका वर्गीकरणीय प्रारूप इस प्रकार है[10]

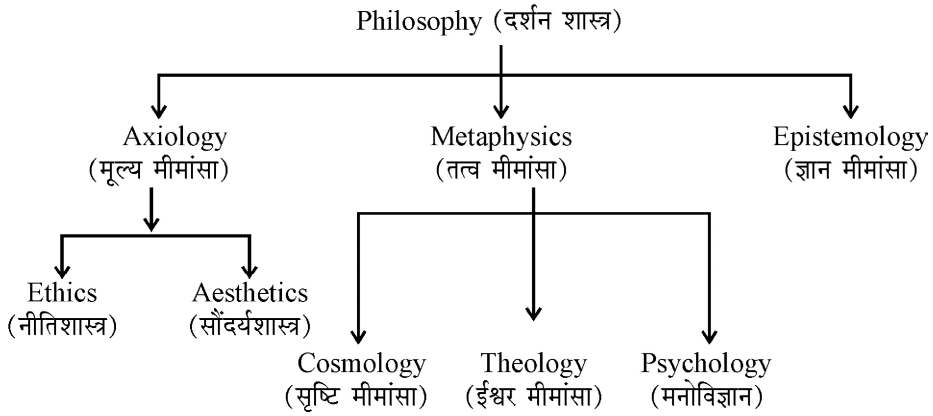

एस्थेटिक्स शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा से हुई है जिसका जिसका मूल रूप है - atoQnTikos। यही ग्रीक शब्द बाद में 'Aesthesis' बनकर उपस्थित हुआ। जिसका अर्थ होता है- एंद्रिय सुख की चेतना अथवा एंद्रिय संवेदना। सर्वप्रथम एलेग्जेंडर बाउमगार्तेन ने एस्थेटिक शब्द का प्रयोग किया न कि एस्थेटिक्स; बाद में एस्थेटिक बहुवचन का रूप ले लिया। एस्थेटिक की संकल्पना एवं विकास क्रमशः इस प्रकार है :[1]

1. सर्वप्रथम बाउमगार्तेन इसका प्रयोग संवेदनशील एंद्रिय बोध के शास्त्र के अर्थ में किया।
2. तदुपरांत, हिगल ने इसका प्रयोग ललितकलाओं के दर्शन के अर्थ में किया।
3. तदनंतर, इसका सामान्य प्रयोग सौंदर्य के विश्लेषणात्मक निरूपण के अर्थ में होने लगा।
4. अब इस शब्द के अर्थ का सुनिर्णीत व्यपदेश-निर्धारण हो गया है। इसका अर्थ है ललित कलाओं के तत्वों का सैद्धांतिक निरूपण और उसके आधार पर कलाकृतियों का मूल्यांकन।

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार सौंदर्य तत्व का विभिन्न स्वरूपरू भारत में सौंदर्य तत्व की व्याख्या में प्राचीन परंपरा समृद्ध रही है। प्राचीन ग्रंथों में सौंदर्य का चारूत्व, रमणीयता, शोभा, कांति, चमत्कार वैचित्र्य आदि नामों से जाना जाता था। उपनिषदों में 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' की अभिव्यक्ति सौंदर्य के लिए की गई है। भारतीय शास्त्रज्ञों के अनुसार सौंदर्य के तीन पक्ष कलाकार, कलाकृति एवं कला रसिक। भारतीय विद्वानों के अनुसार सौंदर्य के दो प्रकार हैं :

1. वाह्य सौंदर्य
2. आंतरिक सौंदर्य

साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद के अंतर्गत सौंदर्य को 'श्री' नाम से संबोधित किया गया है। इसके स्वरूप को समझना ही सौंदर्य को समझना है।[6]

''सौंदर्य वे कलाएँ हैं जिनकी कृतियां परमब्रह्म को इंद्रिय ग्राह्य रूप से इस प्रकार से उपस्थित करती है कि वह आवश्यक मानसिक दशाओं से युक्त सहृदय कला-रसिकों के लिए ब्रह्मानंद प्राप्ति का समुचित साधन बन जाता है।'' (श्री के॰सी॰ पांडे)

''सच्चा सौंदर्य पापवृति की ओर नहीं जाता न ही दूसरे को जाने देता है, मनुष्य में सात्विकता उत्पन्न करता है।''[7] (कुमार संभवम्)

''प्रकृति मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायक गुण का नाम सौंदर्य है।'' (डॉ॰ रामविलास शर्मा)[6]

''सौंदर्य प्रकृति के कुछ दृश्यों अथवा कलाकृतियों और मानव मन के मध्य एक विशिष्ट संबंध का है।''[7] (श्री लीलाधर गुप्त)

पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार सौंदर्य :

सौंदर्य के संबंध में पश्चिम के विचारकों ने अनेक व्याख्याएं की हैं। जिनमें प्लेटो और सैंट आगस्टाइन को प्राचीन और मध्य युगीन सौंदर्य के चिंतन का प्रतिनिधि माना जाता है, वह वही तो वही ह्यूम, कांट, हीगेल शोपेनहावर, क्रोचे आदि को आधुनिक कला व सौंदर्य का प्रमुख विवेचना विवेचक माना जाता है।

हीगेल के अनुसार, ''सौंदर्यशास्त्र ललित कलाओं का दर्शन है। इसका संबंध ललित कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौंदर्य से है। उनका मानना है कि ईश्वर ही, जो सुंदर है, की अभिव्यक्ति प्रकृति और मानव द्वारा सृजित कलाकृतियों में होती है। हीगेल का कहना है कि यह एक ऐसा विषय है जिसके अंतर्गत सौंदर्य का संपूर्ण क्षेत्र आ जाता है। स्पष्ट रूप से देखें तो यह कला का क्षेत्र अथवा ललित कला का क्षेत्र है।''

हैलमुट कुनन के अनुसार, ''सौंदर्यशास्त्र कलाओं एवं उनसे संबद्ध व्यवहार तथा अनुभव का सैद्धांतिक अध्ययन है। परंपरा के अनुसार यह दर्शन की एक शाखा है। इसका उद्देश्य सौंदर्य, कला और प्रकृति में अभिव्यक्त उसके बहुविध रूपों का अध्ययन है।''

''प्लेटो ने सौंदर्य की विवेचना दर्शनशास्त्र के अंतर्गत की है और दर्शन के क्षेत्र में सत्य को सौंदर्य से अधिक महत्व दिया। प्लेटो ने ईश्वर को ही सुंदर माना है।''

बोसां के अनुसार,''सौंदर्यशास्त्र का संबंध ललित कलाओं के माध्यम से व्यक्त सौंदर्य है। उनकी दृष्टि में प्राकृतिक सौंदर्य व कलात्मक सौंदर्य में अंतर दोनों की मानव कल्पना और इंद्रिय बोध पर निर्भर है। सौंदर्यशास्त्र सुंदरता का दर्शन है।''

लैंगर का मत आधुनिक विचारकों के मतों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लैंगर का मत है कि सौंदर्यशास्त्र ललित कलाओं के दार्शनिक विकल्पों और समस्याओं का सैद्धांतिक निरूपण है।

संगीत में निहित सौंदर्यात्मक तत्व :

संगीत संबंधित किसी प्रस्तुति का आकलन हम किस आधार पर करते हैं यह पूर्ण रूप से उन तत्वों में निहित है जो कि हमारे सामान्य सौंदर्य बोध पर प्रभाव डालता है। प्रायः कुछ प्रस्तुतियां या प्रदर्शन अच्छे, कुछ सामान्य तथा कुछ निम्न स्तर के हो सकते हैं। संगीत की आनंददायक प्रस्तुति प्रायः निम्न तथ्यों पर निर्भर करती है :

1. **राग :** संगीत दर्पण में राग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :

''योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः।
रंजको जन् चित्तानाम् स राग कथितो बुधैः॥

राग के सौंदर्य स्थल हैं - मींड, सूत, कण, आंदोलन, खटका, मुर्की, इत्यादि।

2. **नाद :** संगीत रत्नाकर में सारंगदेव ने नाद को परिभाषित किया है :

नादेन व्यज्यते वर्णः पदम् वर्णात पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीमतो जगत्॥

3. श्रुति 4. स्वर 5. सप्तक
6. आलाप 7. तान 8. वर्ण
9. अलंकार 10. गमक 11. स्थाय

सौंदर्य के कुछ आवश्यक तत्व जिसके प्रयोग से संगीत में सौंदर्य की निष्पत्ति संभव होती है, वे हैं :

1. संगठन व संयोजन
2. नवीनता
3. सम्पूर्णता
4. संतुलन
5. अनुपात
6. विरोधाभास
7. व्यवस्थित क्रम
8. स्थायित्व
9. विविधता
10. अलंकार
11. जटिलता।

सौंदर्य से संबंधित विद्वानों के मुख्यतः सात दृष्टिकोण हैं :

1. अध्यात्मवादी दृष्टिकोण
2. बुद्धिवादी दृष्टिकोण

3. सिद्धांत रूप वादी दृष्टिकोण
4. उपयोगितावाद दृष्टिकोण
5. भाव वादी दृष्टिकोण
6. मूल्यवादी दृष्टिकोण
7. साहचर्यवादी दृष्टिकोण।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र में चार पक्षों पर मुख्य रूप से विचार किया है। अभिनय, नृत्य, संगीत और रस इनमें प्रथम तीन साधन मात्र है, जिनके माध्यम से चौथे की अनुभूति होती है। जिसे 'रसानुभूति' कहा गया है।[2] नाट्य का अंतिम लक्ष्य चरमोत्कर्ष अर्थात रस की निष्पत्ति और सहृदय द्वारा उस का आस्वादन है अर्थात् भरत मुनि ने मनोवैज्ञानिक आधार पर भाषा का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि भिन्न-भिन्न रस के अनुभव तथा आस्वाद के लिए भिन्न-भिन्न प्रकृति की आवश्यकता होती है। एक ही प्रकृति विभिन्न रसों का आस्वाद नहीं ले सकती। जैसे वीर प्रकृति भयानक से साम्यता नहीं रखती। भारत ने भाव और रस परस्पर शरीर और आत्मा का संबंध बनते हुए लिखा है :

''न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्णितः''

रस निष्पत्ति एवं चार प्रमुख अवधारणाएं :

विद्वानों ने सौंदर्य का संबंध रस के साथ जोड़ते हुए उसे आनंद का मूलभूत तत्व बताया है इसके निष्पत्ति की व्याख्या करते हुए विद्वानों ने प्रमुख चार अवधारणाएं प्रतिपादित की जो निम्न हैं :

1. **भट्टलोलट का उत्पत्तिवाद :** भट्टलोलट ने संयोग और निष्पत्ति पर व्याख्या करते हुए लिखा है कि निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति से है। अतः उनका दृष्टिकोण 'उत्पत्तिवाद' कहलाता है। स्थाई भाव के साथ विभाव, अनुभव और संचारी भावों के संयोग होने के कारण रस की निष्पत्ति होती है। जैसे- दही विभाव है, जिसका लस्सी से उत्पादक-उत्पाद संबंध है। चीनी, पानी संचारी भाव है और झाग अनुभाव है।[4]
2. **आचार्य शंकुक का अनुकृतिवाद :** इनके अनुसार रस नाटक में नहीं होते हैं। जब कोई कलाकार शिक्षा अथवा कठिन अभ्यास के उपरांत नाट्य में अभिनय करता है, तो प्रेक्षक को पता होता है कि कलाकार द्वारा किया जा रहा अभिनय कृत्रिम है फिर भी नाटक में प्रस्तुत विभाव आदी के आधार पर ही लोगों को रस की प्राप्ति होती है। अर्थात शंकुक रस की उत्पत्ति न मानकर केवल अनुभूति मानते हैं।[4]
3. **भट्टनायक का मुक्तिवाद :** इनके अनुसार न ही रस की उत्पत्ति होती है, न हीं अभिव्यक्ति और न हीं प्रतीति। नाटक में प्रस्तुत अभिनय के कारण दर्शक अथवा श्रोता के अंतःभावों का साधारणीकरण होने से रस का भोग किया जाता है।
4. **अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद :** इनके मत के अनुसार कलाकार के द्वारा प्रस्तुत भावों से प्रेक्षक कि मानसिक स्थिति के साधारणीकरण होने से प्रेक्षक के मन में उठने वाले भावों को कलाकार के द्वारा प्रस्तुत भावों से तादात्म्य होने के कारण रस की प्राप्ति होती है। कला के आस्वादन के समय व्यक्ति निजी के भाव एवं चिंताओं से मुक्ति पा लेता है, जिस कारण कलाकार द्वारा प्रस्तुत अनुभूतियों को प्रेक्षक अपने भावों में अभिव्यक्त देखता है। यह अभिव्यक्ति रसानुभूति होती है, जहां पर प्रेक्षक एवं कलाकार की मानसिक स्थिति में कोई दूरी नहीं रह जाती है। अतः दोनों ही तादात्म्य की स्थिति में होते हैं। अभिनव गुप्त के ग्रंथों 'अभिनव भारती', 'ध्वन्यालोक लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश' में ही इन चारों दृष्टिकोणों का वर्णन मिलता है। अन्य तीन आचार्यों के मूल ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं।[4]

रस की चर्चा सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में की गई है। भारतीय वांग्मय में रस के चार अर्थ बताये गये हैं :

1. किसी पदार्थ आदि को निचोड़ कर प्राप्त किया गया रस (द्रव)।
2. वेद तथा उपनिषदों में रस शब्द का प्रयोग परम आनंद तथा ब्रह्मानंद के लिए किया गया है।
3. नाट्यशास्त्र में रस का प्रयोग नाट्य प्रसंग में किया गया है।
4. भारतीय संस्कृति में रस शब्द का प्रयोग मूल रूप से भक्ति तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए किया गया है।

- रस के अवयव :
  1. भाव
  2. स्थाई भाव
  3. अनुभव
  4. व्यभिचारी भाव अथवा संचारी भाव
- भरत ने कुल 49 भाव माने हैं। 8 अस्थाई भाग 33 संचारी भाव तथा 8 सात्विक भाव।
- भारत ने श्रृंगारए रौद्रए वीर एवं विभत्स को प्रधान रस माने हैं।
- अभिनवगुप्त ने नव रस माने हैं उन्होंने शांत रस को नौंवा रस माना।
- आचार्य विश्वनाथ ने वात्सल्य को दसवां रस माना।

- स्वरों के रस तथा स्थाई भाव :

स्वर	रस	स्थायी भाव
षड्ज	वीर, रौद्र, अद्भुत	उत्साह, क्रोध, विस्मय
रिषभ	वीर, रौद्र, अद्भुत	उत्साह, क्रोध, विस्मय
गंधार	करूण	शोक
मध्यम	हास्य, श्रृंगार	रति, हास
पंचम	हास्य, श्रृंगार	हास, रति
धैवत	भयानक, वीभत्स	भय, जुगुप्सा
निषाद	करूण	शोक

- **कुछ रागों में प्रयुक्त रस :**

राग	रस
हिंडोल	श्रृंगार
वराली	करूण
मालकौंस	गंभीर
श्री	गंभीर

रागों से रसों की उत्पत्ति लयए तालए काव्यए वाद्यए संगीतकार का व्यक्तित्व श्रोता वातावरण का अधिकार को पर निर्भर करती है।जैसाकिएक ही राग में भिन्न भिन्न बंदिश के द्वारा भिन्न भिन्न सौंदर्य की अनुभूति जैसे :

(अ) राग श्याम कल्याण मे रचित बंदिशो में भिन्न-भिन्न रस :

1. **वात्सल्य रस :** खेलत आंगन नन्दलाल, चंचल चरण चपल पड़े बेहाल हो ललना।
2. **श्रृंगार रस :** पायल मोरी बाजे रे सजना कैसे आऊं तोरे मंदरवा।
3. **भक्ति रस :** जाने दे रे मोहे श्याम सुंदर मिलन की सूरत लागी।[5]

(ब) राग जयजयवंती के भिन्न बंदिशों में भिन्न रस का निष्पादन। जैसे :

1. **बिरहणी नायिका की स्थिति चित्रण करने वाली बंदिश :** दामिनी दमके डर मोहे लागे।
2. **श्रृंगार रस :** एरी आज अपने पिया संग खेलूंगी होरी।
3. **भक्ति रस :** जय माल रानी तू मान मानी विद्या सरस्वती बैकुंठ की निशानी।

वाद्यों में निहित रस : सारंगी-करूण, ढोलक व तबला-श्रृंगार, मृदंग-वीर, वाद्यवृंद-श्रृंगार करूण।

शास्त्रीय संगीत की विधा और उनमें निहित रस :

1. ध्रुपद : वीर, करूण व शांत
2. ख्याल : श्रृंगार, अद्भुत, करूण
3. ठुमरी : श्रृंगार

सांगीतिक तालें एवं उनमें निहित रस :

रस	ताल	लय
श्रृंगार	इसमें आठ, सात एवं तीन मात्रा वाली तालें विद्यमान हैं। जैसेः- दादरा, रूपक कहरवा, दीपचंदी, धुमाली इत्यादि।	मंदएललित और कोमल गतिस्वछंद भाव।
करूण	इसमें सात मात्रा वाली तालें आती हैं। जैसेः- रूपक आदि।	विलंबित लय प्रधान शिथिल गति युक्त।
हास्य	इसमें चार व पांच मात्रा वाली तानें विद्यमान होती हैं। जैसेः द्रुत कहरवा, चक्रताल आदि।	विषम व विक्षिप्त गति।
वीर	यहां दसए बारह अथवा चौदह मात्रा वाली तालें आती हैं; जैसेः- आडा चौताल, सूलताल, रूद्र ताल और मतताल आदि।	गौरव गति से युक्त आवेगपूर्ण द्रुत लय।
रौद्र	इसमें बारह व चौदह मात्रा वाली तालें निहित होती हैं। जैसेः- धमार, चौताल इत्यादि।	आतिद्रुत लाययुक्त प्रचंड गति।
विभत्स	अनियमित मात्राओं वाली कोई भी सम विषम ताल स्वरूप।	संकोच गतियुक्त अतिमंदित लय।
भयानक	इसमें भीबारह व चौदह मात्रा वाली तालें निहित होती हैं। जैसेः- धमार, चौताल इत्यादि।	भयत्रासित गति-युक्त मध्य लय ।
अद्भुत	इसमें 11, 15 और 16 मात्रा वाली आश्चर्य गति प्रधान लड़खड़ातीं तालें विद्यमान होती हैं। जैसेः- गजझंपा, कुंभ, तीनताल आदि।	आश्चर्य गति प्रधान लड़खड़ाती लय।
शांत	इसमें बारह अथवा चौदह मात्रा वाली तालें आती हैं। जैसेः-एकताल, झूमरा ताल इत्यादि।	स्थिर अथवा चंचल गति।

निष्कर्ष :

सौंदर्य के प्रति आकर्षित होकर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करना ही कला है चाहे वह कला सांगीतिक हो या अन्य कला। अगर यह कहा जाए कि मानव जीवन की यह चिरसंगिनी कला है तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि यह मानव जीवन के साथ अटूट के रूप में बंधी हुई है। मनुष्य का तरीके से उठना-बैठना, बोलना-चलना, पहनना-खाना, सजना-सवारना एक प्रकार की कला ही तो है। इस तरह हम कह सकते हैं कि बिना सौंदर्य की कलाकृति की कल्पना करना निरर्थक है। क्योंकि जिस वस्तु में सौंदर्य नहीं है वह कलाकृति कहलाने लायक नहीं है। सौंदर्य एवं कलाकृति एक दूसरे के पूरक है। अतः जहां सौंदर्य है वही कला है और जहां कला है वही सौंदर्य है और जहाँ सौंदर्य है वही रस है।

संदर्भ :

1. बिमल, डॉ॰ कुमार, सौंदर्यशास्त्र के तत्व (2017), सातवां संस्करण, राजकमल प्रकाशन प्राण्लि॰ दरियागंज, नई दिल्ली ISBN : 978-81-7178-638-1 पृष्ठ संख्या 27, 28, 29
2. सक्सेना, सुशील कुमार (2009), एवेन्यू आफ ब्यूटी, प्रथम संस्करण। संगीत नाटक अकादमी एण्ड डी॰के॰ प्रिन्ट वर्ल्ड, नई दिल्ली ISBN : 8124605335 पृष्ठ संख्या 167, 168
3. शर्मा, डॉ॰ हरद्वारी लाल (1984), सौंदर्यशास्त्र, तीसरा संस्करण, हिन्दी साहित्य प्रेस, मधु प्रकाशन इलाहाबाद। पृष्ठ संख्या 70, 71, 72
4. चतुर्वेदी, डॉ॰ ममता (2021) सौंदर्यशास्त्र : 18वां संस्करण, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर ISBN:978-93-90571-66-6 पृष्ठ संख्या 264, 265, 266, 267, 268, 269, 270
5. भटनागर, डॉ॰ मधुरलता (1994) भारतीय संगीत का सौंदर्य विधान, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय। पृष्ठ संख्या 65, 66, 67 67, 69
6. शर्मा, डॉ॰ प्रेम लता (2000) इण्डियन एस्थेटिक्स एंड म्यूजिकोलाजी, Volume-1, प्रथम संस्करण, अमनया प्रकाशन, वाराणसी। पृष्ठ संख्या 34,35,36
7. मित्तल, अंजली (2009) हिंदुस्तानी म्यूजिक एंड द एस्थेटिक कंसेप्ट ऑफ फार्म, द्वितीय संस्करण, डी॰ के॰ प्रिंट वर्ल्ड (पी) एल॰टी॰डी॰ए॰ न्यू दिल्ली ISBN:81-246-0134-8। पृष्ठ संख्या 12,13
8. Bowie Andrew (2007) म्यूजिक फिलॉसफी एंड मोडर्निटी, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, (कैम्ब्रिज) यू॰ के॰, ISBN : 978-0521-87734-3 हार्डबैक। पृष्ठ संख्या 321, 322
9. संगीत एवं सौंदर्यशास्त्र सामग्री (2013), उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल-263139 पृष्ठ संख्या 1, 2, 3, 4
10. दिव्यकिर्ति, डॉ॰ विकास (2022),What is Philosophy? LECTURE, YouTube.https://youtu.be/vCEDptvB5Q4

संगीत में सौन्दर्य

प्रियांशु घोष
शोधार्थी
का॰ हि॰ वि॰ वि॰

डा॰ रेवती साकलकर
प्रो॰ मंच कला संकाय
का॰ हि॰ वि॰ वि॰

शोध सारांश

सौन्दर्य के प्रति मानव का सहज आकर्षण होता है तथा सौन्दर्य सृजन मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कलाकार जब अपने संगीत की मंचीय प्रस्तुति कर रहा होता है तो उसके साथ ही साथ वह अपने संस्कार, अपनी शिक्षा तथा अपने व्यक्तिगत प्रस्तुतिगत सौन्दर्य की सुगंध का प्रसार कर रहा होता है। कला और उसका सौन्दर्य दोनों आपस में गुंथे हुए है। श्री कान्ट के अनुसार, 'जो बिना किसी स्वार्थ के आनंद दे सके वही सौन्दर्य है' कला के माध्यम से आनंद प्राप्ति ही एकमात्र लक्ष्य होता है। प्रस्तुत शोध आलेख में संगीत के साथ सौन्दर्य का अन्तर्सबंध स्थापित किया गया है।[1]

सूचक शब्द

सौन्दर्य, कला, संगीत, नाद, रस।

शोध प्रविधि : इस शोध आलेख में द्वितीयक माध्यमों से सहायता ली गयी है।

विषय प्रवेश : संगीत एक ललित कला है, जो सुन्दर और मनोहर है। संगीत सभी को मोहाविष्ट करने वाली कला है। 'संगीत कं न मोहयेतु' अर्थात संगीत से कौन मोहित नहीं होता ऐसा ग्रंथो में कहा गया है। पाँचों ललित कलाओं में से संगीत ही एक ऐसी कला है, जिसे किसी बाह्य साधनों एवं उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि संगीत के प्रमुख उपकरण स्वर एवं लय है जो अत्यंत सूक्ष्म है। संगीत का माध्यम नाद है तथा इससे प्राप्त आनन्द अलौकिक एवं अनिर्वचनीय होता है। नाद वह आधारभूत तत्व है, जिससे संगीत का सम्पूर्ण ढाँचा बना है तथा जिसको आधार बनाकर मानव अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है तथा नवसृजन करता है।

संगीत के वैज्ञानिक तत्वों, नियमों जिन्हें सत् कहा जा सकता है, मनोवैज्ञानिक तत्वों जिनका सम्बन्ध मानवीय भावाभिव्यक्ति से है जिसे शिव या मंगल आदि से जाना जा सकता है और सौन्दर्य मूलक तत्व का सम्बन्ध उसके आनन्द प्रदान करने वाले गुण से है। भारतीय चिंतन के अनुसार इन्हीं तत्वों को सत्यम्, शिवम् व सुन्दरम् से जोड़ा गया है। अतः संगीत व सौन्दर्य अविभाज्य है। संगीत में सौन्दर्य है। जहाँ संगीत है, वहाँ ईश्वर का वास है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है :

वेदानां सामवेदोऽस्मि।।[2]

अर्थात् 'वेदों में सामवेद मैं ही हूँ'।

संगीत की परम्परा वेदों से ही आरम्भ हो जाती है। शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर में संगीत के सन्दर्भ में सौन्दर्य शास्त्र के कतिपय प्रमुख तत्वों के विषय में

सामान्य संकेत सूत्र मिलते हैं। संगीत कला के लक्षण इंगित करते हुए शारंगदेव ने लिखा है :

गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।[3]

संगीत का आधार नाद है। नाद में संगीत कला के सौन्दर्य की सृष्टि का रहस्य है। विभिन्न स्वरों और श्रुतियों में अनुक्रम, तारतम्य तथा समन्वय स्थापित कर संगीतकार रागों की सृष्टि करता है। राग ही वास्तव में उसकी कलाकृति है। संगीत का उद्देश्य परमानन्द की प्राप्ति है। इसका प्रभाव व्यापक है। देवता, मनुष्य, नर-नारी और अबोध शिशु-पशु पक्षी आदि सभी संगीत के सौन्दर्य से प्रभावित होते है। यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि का साधन तो है, साथ ही जन सामान्य का भी हृदयरंजन करता है। संगीत से भगवान शंकर प्रसन्न होते हैं। नाथ गोपीनाथ कृष्ण भी वंशी के वंश में है। स्वयं ब्रह्मा जी भी सामगीत पर मुग्ध हैं, और माँ सरस्वती वीणा पर, फिर यक्ष-गन्धर्व, देव, दानव और मानवों की तो बात ही क्या।

संगीत का महात्म्य अनिर्वचनीय है। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन है। ईश प्राप्ति के साधन के रूप में गान को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है, जहाँ पूजा से सहस्त्र गुना श्रेष्ठ स्तोत्र, स्तोत्र से सहस्त्र गुना श्रेष्ठ जप, जप से सहस्त्र गुना श्रेष्ठ गान और गान से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं बताया गया है। संगीत का सौन्दर्य मानव के अन्तर्निहित भावों का परिष्कार करता है तथा मनुष्य काम, क्रोध, शोक, लोभ आदि चिन्ता से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। श्रीमद्भगवतगीता के अनुसार नाद सौन्दर्य मनुष्य को प्रभावित करने के साथ-साथ जड़ को भी प्रभावित करता है। स्वर के उत्पन्न होते ही उससे सम्बन्धित भाव प्रकट होता है। स्वर की दीर्घता, सुरीलेपन, वादी-सम्वादी आदि गुणों के कारण नाद सौन्दर्य प्रकाशित होता है। स्वर की सत्ता आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति कराती है, यह आध्यात्मिक आनन्द ही विशिष्ट आनन्द या सौन्दर्य तत्व है।

नाद सौन्दर्य जनित आनन्द अनन्त है तथा उसकी अभिव्यक्ति के साधन अनन्त है। संगीत का सम्बन्ध, रंजकता, आकर्षण से है और ये तत्व ही मिलकर सौन्दर्य को सार्थक करते हैं। संगीत मकरन्द में लिखा है :

सर्वाश्रमाणां जातीन, नश्पाणां प्रतिवर्धनम्।
धर्मार्थकामकोक्षाणनिद्धमेव ही साधनम्।।[4]

अर्थात, संगीत सभी आश्रयों, जातियों और राजाओं के मध्य प्रीतिवर्धन करने वाला है।

संगीत पारिजात में पंडित अहोबल ने लिखा है :

देवस्य मानवो गानं वाद्यं नृत्यमतन्दश्तः।
कुमर्यादिद्वस्णोः प्रसादार्थ मेति भास्त्रेप्रकीर्तितम्।।[4]

अर्थात, मनुष्यों द्वारा गायन वादन तथा नृत्य तल्लीनता से किया जाय तो उससे भगवान विष्णु प्रसन्न होते हैं। संगीत ईश्वरीय देन है तथा सौन्दर्य से परिपूरित है। संगीत में यदि सौन्दर्य नहीं है तो वह संगीत नहीं है। यदि संगीत को सौन्दर्यशाली बनाने की प्रक्रिया में सौन्दर्यशास्त्र के सभी मूलभूत तत्वों पर ध्यान देना परमावश्यक है।

सौन्दर्य कहाँ है? कलाकृति में, श्रोता की अनुभुति में या रचनाकार के मन में, जो विचारक सौन्दर्य को विषयगत मानते वे रचना को और श्रोताओं को महत्व देते है तथा जो सौन्दर्य को वस्तुगत मानते हैं, उनके अनुसार कलाकृति ही महत्वपूर्ण है। सौन्दर्य स्थूल है, सूक्ष्म भी है वाह्य और आतंरिक भी है। संगीत के सौन्दर्य एवं रस पक्ष पर भारत में गंभीरता से विचार किया गया है। रसानुभुति और सौन्दर्यबोध दोनों साथ-साथ चलते है। मनुष्य के हृदय में स्थायीभाव सदा विद्यमान रहते हैं, उन भावों के उद्दीपन से ही रस उत्पन्न होता है और उस रस से कलाजन्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। इसी को अंग्रेजी भाषा में 'एस्थेटिक वेल्यू ऑफ आर्ट' कहते है। भाव प्रधान रचना या कृति ही श्रेष्ठ कला की श्रेणी में आती है।

कलाजन्य आनन्द प्राप्त करते समय देश, काल, सम्बन्ध, स्थिति इन सबको भूलकर हम कला की अनिवर्चनीय सत्ता में पहुँच जाते है और उस समय हमारे हृदय में जिस आनन्द का आविर्भाव होता है,

उसी को सौन्दर्यबोध अथवा रसानुभूति की अवस्था कहते हैं। केवल सहृदय व्यक्ति ही उस रस का अनुभव कर सकता है। संगीत की सौन्दर्य शक्ति के द्वारा प्राणी के स्थायी भावों को जगाकर उसे रस मग्न कर देना कलाकार का लक्ष्य होता है। संगीत का सौन्दर्य राग, ताल, लय और गीत पर निर्भर होता ही है, काकु भेद भी उसका महत्वपूर्ण अंग है।

गीतों में अलंकारों का प्रयोग सही अनुपात में यथाविधि होने से सौन्दर्य का विस्तार होता है। सभी संगीताचार्यों का मत हैं कि अलंकारों का गीत के साज श्रृंगार में अत्यन्त महत्व है। शोभा और श्रृंगार सौन्दर्य का ही लक्षण है। अतः संगीत में अलंकारों का उपयोग सौन्दर्य वृद्धि हेतु किया जाता है। सौन्दर्य अतुलनीय, संपूर्णता से युक्त होता है। सौन्दर्य के लिए शोभा, श्री, रम्य, सुरूप, मनोरम, चारू आदि पर्याय ग्रंथों में प्राप्त होते है। आचार्य शंकुक के अनुसार 'सद्चित आनन्द' की अनुभूति ही सौन्दर्य है।

शास्त्रीय संगीत में गमक को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। स्वरों का कंपन जो श्रोताओं के मन को आनन्द दे गमक कहलाता है। रागों के विकास में गमक का प्रमुख स्थान है। गमक के प्रयोग से ध्रुपद, ख्याल, टप्पा, ठुमरी में सौन्दर्य का सृजन होता है तथा श्रोताओं को आनंद प्राप्त होता है। गमक द्वारा स्वर श्रृंगार होता है तथा राग विस्तार में सौन्दर्य का सृजन होता है।

कलाजन्य रस की प्राप्ति के लिए व्यक्ति का सहृदय होना परम आवश्यक है तभी वह कला व उससे उत्पन्न रस का आस्वादन करने का अधिकारी माना जायेगा। संगीत का सौन्दर्य नाद और लय के सूक्ष्म तत्वों पर आधारित होता है। ये तत्व ही संगीत में प्राण की प्रतिष्ठा करते हैं। श्रुति को स्वर, स्वर को राग और राग को रस में परिणत करके प्राणी स्वर लीन हो जाता है। महर्षियों ने नाद सौन्दर्य से उत्पन्न रस-तत्व पर विचार करके आनन्द देने वाले नियमों की स्थापना की है तथा ऐसे संगीत का सृजन किया जो मनुष्य को सत्यम, शिवम्, सुन्दरम् की ओर ले जाये।

ऋषि आचार्य सत्यम् शिवम् सुंदरम् का प्रकाश सौन्दर्य में मानते हुए सौन्दर्य को परम सत्ता के गुणों के रूप में मानते हैं। ऋषियों ने जिस सौन्दर्य का वर्णन किया है, वह परमतत्व का सौन्दर्य है तथा संगीत उसी परमतत्व का विस्तार है यह कहना अतिशयोक्ति न होगा। कालिदास जी के अनुसार 'सच्चा सौन्दर्य वह है जो सात्विकता की प्रेरणा दे।' संगीत का सौन्दर्य उस रस में निहित है जो रज एवं तमो गुण के समाप्त होने पर अन्तःकरण में सत्व गुण को उभार कर चेतना विशेष में परिणित कर देता है और मनुष्य काम, क्रोध, शोक, लोक, लोभ तथा चिन्ता इत्यादि से मुक्ति पाकर ब्रह्मानन्द में लीन होकर आनन्द का अवगाहन करने लगता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार नाद सौन्दर्य तिर्यक योनि के प्राणियों को प्रभावित करने के साथ-साथ जड़ प्रकृति को भी प्रभावित करता है।

निष्कर्ष :

संगीत का सौन्दर्य स्वरों, उसकी विशेषताओं, उसके प्रकार, समय, जाति, घनत्व, लय एवं गुणों पर आधारित है। हमारे ऋषि मुनियों संगीत आचार्यों ने गहन अनुसंधान के उपरांन्त स्वरों के प्रयोग तथा समय काल का विज्ञान सिद्ध रूप से वर्णन किया है। महर्षि भरत, पंडित शारंगदेव सहित सभी संगीत आचार्यों ने स्वर व उनसे जन्य रस की चर्चा की है। नाद जनित सौन्दर्य सृष्टि आनन्दप्रदायिनी है। नाद सौन्दर्य जनित आनंद अगाध है, अनन्त है। संगीत की इस सौन्दर्यपूर्ण सत्ता को नमन है, प्रणाम है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. दीक्षित, प्रदीप, सरस संगीत, 2016, किशोर विद्या निकेतन।
2. श्रीमद्भगवत गीता, अध्याय-10, श्लोक-22
3. पंडित शारंगदेव, संगीत रत्नाकर, प्रथम स्वरगता अध्याय श्लोक-21
4. शर्मा, स्वतंत्र बाला, संगीत सौन्दर्य एवं रस, 2015

नाट्य मंचन में संगीत के कलात्मक सौंदर्य का महत्व

हरकमलप्रीत सिंह
प्रदर्शन कला विभाग (रंगमंच)
स्कूल ऑफ जर्नलिज्म फिल्म एंड क्रिएटिव आर्ट्स
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी

डॉ॰ सर्वजीत कौर
सहायक प्रोफेसर
लवली प्रोफेशनल विश्वविद्यालय

सारांश

मनोगतभावों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त साधन नाट्य है। इस नाट्य के प्रतिपादन में अभिनय के साथ-साथ संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे। इसलिए नाट्यशास्त्र में जहाँ उन्होंने नाट्य के लक्षण एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वहीं नाट्य के अभिन्न अंग के रूप में छः अध्यायों में संगीत के सिद्धान्तों की भी विशद व्याख्या की, भारतीय नाट्यकला पर विचार करते समय नाट्यशास्त्र सदासन्मुख आ जाता है, क्योंकि यह महान् ग्रन्थ नाट्यकला के अतिरिक्त उसके अन्य विषयों, जैसे-काव्य, संगीत, नृत्य, शिल्प तथा अन्य ललितकलाओं का कोष रहा है। यह ग्रन्थ भरत की रंगमंचीय कला का शताब्दियों से उपजीवय ग्रन्थ है।

बीज शब्द

नाट्य, संगीत, नाट्यशास्त्र, कला, भरत

नाटक कला का एक रूप है, जो व्यक्ति के तनाव एवं द्वंद्व की खोज करती है। यह सामान्यतः कला का वह रूप है जिसमें दर्शकों के बीच एक कहानी का प्रस्तुतीकरण, संवादों एवं शारीरिक क्रियाओं के माध्यम से किया जाता है। नाटक के दौरान कहानी का सम्प्रेषण नाटकशाला के विभिन्न अवयवों, यथा अभिनय, पहनावा, दृश्यों, प्रकाश, संगीत, आवाज एवं संवाद के माध्यम से किया जाता है। नाटक एवं उसके द्वारा संप्रेषित सन्देश का बौद्धिक एवं भावनात्मक प्रभाव नाटक के कलाकारों एवं दर्शकों व श्रोताओं दोनों पर होता है। नाटक एक दर्पण के समान हैं जिसमें हम अपनी छवि का मूल्यांकन कर सकते हैं एवं मानव व्यवहार तथा भावनाओं को गहराई से समझ सकते हैं। नाटक, जीवन के सत्यों को उद्घाटित करती कहानियाँ के द्वारा, उन पर विभिन्न समय एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोणों को प्रदर्शित करते हुए, हमारे दृष्टिकोण को वृहत बनाती है। भारतीय नाट्यकला के सिद्धांतों की नाट्यशास्त्र को छोड़कर अन्य इतनी विस्तृत कल्पना करना संभव नहीं है। इस ग्रन्थ में नाट्य तथा रंग से सम्बन्धित काव्य, शिल्प, संगीत, नृत्य आदि ललितकलाओं का विस्तृत विवरण दिया गया है तथा विविध शास्त्रों, कलाओं तथा प्रयोगों की चर्चा की गयी है। नाट्य प्रेमी इसे नाटक की दृष्टि से महत्त्व देते है तथा संगीत के प्रेमी संगीत की दृष्टि से। भरत का दृष्टिकोण नाट्य में संगीत के प्रयोग को विधिपूर्वक बताना था। नाट्य में किस प्रकार के गीत का प्रयोग किस स्थिति में करना चाहिए, किस स्वर युक्त जातियों का गान किस भाव से करना चाहिए जो कि रस की निष्पत्ति करे, किन वाद्यों का एकल तथा सामूहिक वादन

करना चाहिए और उनके वादन के अवसर विशेष क्या है आदि का वर्णन भरत के संगीत के सैद्धांतिक ज्ञान को ही नहीं अपितु उसके व्यवहारिक ज्ञान को भी दर्शाता है। नाटकों के मंचन में संगीत केवल एक सहयोगी तत्त्व ही नहीं अपितु एक अनिवार्य अंग है। भरत से लेकर आजतक संगीत नाटकों को न सिर्फ लोकप्रिय बनाता रहा है बल्कि भावों को लोक-हृदय तक पहँचाने में भी अपनी सार्थक भूमिका को निभाता आ रहा है। ''नाट्यशास्त्र को 'पंचमवेद' माना जाता है और नाट्यशास्त्र के अनुसार इस पंचमवेद की रचना ब्रह्मा ने की है। 'भरत' नाट्यवेद के निर्माण का कारण बताते हुए कहते हैं कि इन्द्र आदि देवताओं ने भगवान ब्रह्मा से जाकर कहा कि हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं, जो सुना भी जा सके और देखा भी जा सके। अतः आप एक ऐसा पाँचवा वेद बनाइए जिसमें सभी वर्गों के लोग सम्मिलित होकर आनन्द ले सकें। भगवान ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके चारों वेदों का अनुस्मरण करके 'नाट्य वेद' नामक पंचमवेद की रचना की। ऋग्वेद से पाठ्य या बोलने का अंश, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से शृंगार आदि रसों को ग्रहण किया।''[1] इसी प्रकार गान्धर्ववेद के निर्माण की भी एक कथा बताई गई है कि ''ब्रह्माजी ने गान्धर्व की शिक्षा शिवजी के आदेशानुसार नन्दीगण से प्राप्त की थी। यह सीखने के बाद ब्रह्मा ने एक नट की कल्पना की तो तत्काल एक मुनि अपने पांच शिष्यों सहित वहाँ उपस्थित हो गए। मुनि ने अपने पांच शिष्यों की सहायता से गीत और रस आदि से युक्त अनेकों नाटकों की रचना करके ब्रह्माजी को खुश कर दिया। इस पर भगवान ब्रह्मा ने उन्हें वरदान दिया कि तुम तीनों लोकों में 'भरत' कहलाओगे और यह नाट्यवेद भी तुम्हारे नाम पर 'भरत' कहलाएगा।''[2] भारतीय चिन्तनधारा की एक बड़ी मौलिक विशेषता यह रही है कि यहाँ पर सभी विद्याओं, शास्त्रों व कलाओं आदि का अन्तिम लक्ष्य आत्मानुभूति माना गया, इसीलिए ये सभी परस्पर एक दुसरे से संबद्ध रहे हैं। वेदों के साथ जोड़कर इन विद्याओं व कलाओं आदि को स्थायी व शाश्वत रूप दिया गया। ''चिकित्सा शास्त्र की आयुर्वेद के रूप में, युद्ध-विद्या की धनुर्वेद के रूप में, संगीतकला की गांधर्ववेद के रूप में और अर्थशास्त्र की अर्थशास्त्र के रूप में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के उपवेद-स्वरूप प्रतिष्ठा इसका प्रमाण है। एक अन्य मत के अनुसार , चतुर्थ उपवेद का नाम स्थापत्य है, जिसमें सभी अचल दृश्य कलाओं का समावेश है। संगीतकला की गांधर्ववेद के रूप में स्थापना इस बात का भी प्रमाण है कि संगीत केवल लोकरंजन की वस्तु नहीं, अपितु आत्मानुभूति का साधन भी रहा है। मनुष्यों का गुणगान करने वाले जिन कलाकारों को वैदिक युग में हेय दृष्टि से देखा जाता था, नाट्य में उनकी प्रतिष्ठा थी। नाट्य के आदिम प्रयोक्ता भरत को ब्रह्मा का शिष्य कहा गया है और उनका विशेषण 'मुनि' है। वे आप्तकोटि में रखेगए।''[3] नाटक एक समवेती कला है क्योंकि यह सभी कलाओं को अपने भीतर समाविष्ट करती है, संगीत को विशेष रूप से। नाट्य में कई प्रकार के तत्त्वों का मिश्रण होता है, जैसे-पाठ्य और गीत श्रव्यांश में तथा अभिनय दृष्यांश में आ जाता है। रस इन सभी में समान रूप से विचरण करता है, क्योंकि यह अनुभवगम्य है, दृश्य या श्रव्य नहीं पाठ्य के अन्तर्गत नाट्य की कथा, संवाद आदि में आ जाते हैं। 'गीत' में स्वर ताल से सम्बन्धित विषय समाविष्ट हो जाते है। सभी ज्ञान, शिल्प, विद्या और कला का नाट्य में समावेश हो जाता है। अतः इन सब में समन्वित रूप ही नाट्य ही है। गीत मानव की अंतर्यात्रा है। शब्दों की छन्दोबद्ध योजना गीत का शरीर तैयार करती है जिसमें भाव-प्रवणता, वैयक्तिकता, संवेदनात्मकता और सबसे बढ़कर संगीतात्मकता उसकी आत्मा बनकर प्रस्तुत होती है। छंद बद्धता, लयात्मकता और संगीतात्मकता के बगैर गीत का अस्तित्व संदेहास्पद होगा। गीतों के प्रयोग को नाटकों की संरचना में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जिन गीतों में मनोभावों और अंतर्द्वन्द्वों का जितना स्पष्ट उल्लेख रहता है, वे उतने सफल समझे जाते हैं। रसानुभूति संगीत का लक्ष्य होने के कारण सात्विक अभिनय का भी स्वरभंग

आदि स्वाभाविक रूप से प्रकट होते हैं। प्रारम्भ में प्रकरण गीतों के रूप में नाट्य के पूर्व रंग में संगीत का व्यवहार होने लगा था। यह पूर्व रंग भगवान शिव की स्तुति अथवा प्रसन्नता से संबंधित होता था। कालान्तर में ध्रुवागान के रूप में नाटकों में संगीत का प्रयोग विशिष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाने लगा। प्राचीन समय में नाटकों में प्रयुक्त हो रहे संगीत में रागों की जननी जातियों के व्यवहार के संकेत भी प्राप्त होते हैं। इनके साथ विशिष्ट प्रकार की तालों का प्रयोग भी होता था नाट्य में 'अवस्था' अर्थात् मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का अनुकरण रहता है। संगीत में भी किसी न किसी रूप में परिस्थिति अथवा विशिष्ट भाव रहता है। रस की दृष्टि से विचार करें तो संगीत में नाट्य तत्त्व सूक्ष्म रूप में रहता है, क्योंकि पद में पूरी परिस्थिति का वर्णन नहीं रह सकता। फिर भी कल्पना के द्वारा उसको ग्रहण करना पड़ता है। नाट्य की अपेक्षा संगीत में अपनी एक विशेषता है। नाट्य संगठित कला है, इसमें कल्पना एक व्यक्ति की रहती है और नट उसे प्रस्तुत करते हैं, लेकिन संगीत में कल्पना भी गायक-वादक की अपनी ही रहती है और प्रस्तुतकर्ता भी वह स्वयं ही होता है। इसलिए अपनी कल्पना को वह सहजता व पूर्णता से व्यक्त कर सकता है। आजकल नाटकों में पांच प्रकार से संगीत की योजना की जाती है- ''गीतों के साथ वाद्य योजना के रूप में, विशिष्ट रसों के अनुकूल ने पथ्य से उस रस का प्रभाव उत्तेजित करने वाली वाद्य ध्वनि के रूप में, ने पथ्य से किसी विशेष प्रभाव के लिए घण्टा, झांझ, घड़ियाल, विजय घण्टा, शंख अथवा नगाड़े का प्रयोग तथा चौथे प्रकार में वे सभी गीत आते हैं, जो रंगपीठ पर उपस्थित पात्रों को कोई सूचना देने अथवा उनका विशेष प्रभाव डालने के उद्देश्य से गवाए जाते हैं। पाँचवें प्रकार के गीत रंगमंच पर गाए जाते हैं। नाटककार को इस संदर्भ में यह निर्देश कर देना चाहिए कि किस दृश्य में, कहाँ, कितनी देर तक, किस प्रकार के वाद्य से, किस विशेष राग या ताल में संगीत की योजना करनी है? गीत के अवसर को पूर्ण रूपेण ध्यान में रखना चाहिए। अवसर का अर्थ है- किस ऋतु में, किस विशेष परिस्थिति में, किस पात्र के द्वारा गीत गाने का आयोजन किया जा रहा है। गीति नाट्य आदि क्योंकि पूर्ण रूप से ही संगीतबद्ध होता है, इसलिए इसमें केवल रस व भाव आदि का ही ध्यान रखना चाहिए, किन्तु गद्य नाटक के लिए गीत की अवसर अनुकूलता अत्यन्त आवश्यक है।''[4] कुछ लोग विवाह के मंगल अवसर से लेकर अंतिम संस्कार तक सब में गीत गाना आवश्यक समझते है, परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि सभी विषयों पर भी गीत गाना ग़लत धारणा है ''गीत की योजना मुख्य रूप से वहाँ होनी चाहिए, जहाँ पर पात्र अकेला बेटा हो, अकेला व्यक्ति गीत या वाद्य सीख रहा हो या सिखा रहा हो, पर्व या उत्सव पर कई व्यक्ति एक साथ गा रहे हो, विभिन्न मंगल कार्यों में प्रेमाचार अवसर पर, चक्की पीसते समय, देवताओं की स्तुति या मंगल गान में, नाट्य के आरम्भ में, विशेष ऋतु के गीत, उस ऋतु के दृश्यों को दर्शाने के लिए, किसी कथा को गीत के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए, सैन्य अभियान या युद्ध के समय तथा उपदेश आदि के लिए मुख्य रूप से संगीत की योजना की जाती है। इसके साथ ही रौद्र, भयानक और वीभत्स रस में गीत का प्रयोग निषिद्ध माना गया है। चार प्रकृति अथवा वृत्ति के नाटकों में से कैशिकी वृत्ति के नाटकों में से गीत का प्रयोग सबसे अधिक होता है।''[5] जिन नाटकों का विषय मार-काट से सम्बन्धित होता है, उनमें गीत की योजना प्रायः जाती नाट्य के अनुकूल अलग-अलग भावों के लिए अलग-अलग प्रकार के रागों में गीतों का गायन करना चाहिए। विभिन्न अवसरों का निर्देश देने के लिए विभिन्न प्रकार के दायों का प्रयोग किया जाता है। बाद की ध्वनि की प्रकृति के आधार पर ही नाट्य के रस व भाव के अनुसार उसका प्रयोग करना चाहिए। संक्षेप में संगीत नाट्य का एक प्रमुख अंग है। संगीत नाटक को सजीवता एवं गति प्रदान करने के साथ-साथ विशिष्ट रस अथवा भावों की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। संगीत के अभाव में नाटक उस

कविता अथवा गीत के समान प्रतीत होता है, जिसमें शब्द और छन्द तो है,परन्तु स्वर और ताल का अभाव है। विशिष्ट नियमों अथवा अवसरों को ध्यान में रखते हुए नाट्य में की गई संगीत की योजना नाट्य के लिए सफलता के द्वारा खोलती है। नाटक हमेशा से ही समाज के लिए एक प्रकार का आईना रहा है। दूसरे शब्दों में, नाटक वर्तमान घटनाओं, ऐतिहासिक पहलुओं और अन्य स्थितियों के बारे में हैं जो लोगों के जीवन के लिए महत्वपूर्ण हैं। जब हम नाटक में संगीत की बात करते हैं तो यह हमेशा से मौजूद रहा है। ''कल्पना कीजिए कि आप देख रहे हैं, रोमियो और जूलियट। वेशभूषा और मंच का डिजाइन आपको उस दौर का माहौल देगा। हालाँकि, उस अवधि और कहानी से पूरी तरह से संबंधित होने के लिए, संगीत बहुत बड़ी भूमिका निभाता है। उस समय के संगीत का उपयोग करने से एक अनूठा वातावरण तैयार होगा और आपको ऐसा महसूस होगा कि आप 17वीं शताब्दी में वापस यात्रा कर चुके हैं।''[6] सरल शब्दों में, संगीत अक्सर मंच पर कहानी का अनुसरण कर रहा होता है और यह दर्शकों को उस अवधि से पूरी तरह से जुड़ने और माहौल को महसूस करने का अवसर देता है।

निष्कर्ष :

अंतः कहा जा सकता है कि नाटकों के लिए संगीत का उपयोग करने से मंच पर बेहतर माहौल बनाने में मदद मिलती है। संगीत अक्सर अभिनेताओं को कहानी से बेहतर ढंग से जुड़ने और मंच पर अपनी भावनाओं को ठीक से व्यक्त करने में मदद करता है। नाटक में संगीत मायने रखता है और इसके बिना किसी नाटक की कल्पना करना मुश्किल है। अभिनेता, नाटक और पूरे माहौल का एक हिस्सा है। संगीत का उपयोग करके, अभिनेता बेहतर ढंग से खुद को अभिव्यक्त कर सकता है, दर्शक कहानी से बेहतर तरीके से जुड़ सकते हैं।

संदर्भ सूची :

1. चतुर्वेदी पंडित सीताराम, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, प्रकाशक हिन्दी समिति, सूचना विभाग लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1964, पृष्ठ-6
2. पंडित सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, प्रकाशक हिन्दी समिति, सूचना विभाग लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1964,पृष्ठ-6-7
3. बृहस्पति कैलाशचन्द्र देव, ध्रुपद और उसका विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण-1976, पृष्ठ-4-5
4. पंडित सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, प्रकाशक हिन्दी समिति, सूचना विभाग लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1964, पृष्ठ-686
5. अशोक कुमार यमन, संगीत रत्नावली, अभिषेक प्रकाशक, चण्डीगढ़, 2015, पृष्ठ-672
6. www.wikipedia.org

प्रकीर्णक

बोध कथा

श्री शैलेन्द्र कपिल

एक शहजादा होता है। जंगल में शिकार करने जाता है, शिकार करते करते थक जाता है। उसे प्यास लगती है। वह एक कुआं ढूंढता है। कुआं मिल जाता है, रस्सी संग एक बाल्टी मिल जाती है। पास में एक छायादार पेड़ भी दिखाई दे जाता है। शहजादा चारों और देखता है कि कोई देख तो नहीं रहा है। देख बूझ कर वो पानी निकाल कर पीने का निश्चय करता है। जैसे ही वो प्रयास करने लगता है, उसके जेहन में आता है कि मैं रियासत का शहजादा हूं, मैं खुद पानी निकाल कर कैसे पी सकता हूं। कोई न कोई आयेगा और पानी पिलाएगा। शहजादा पेड़ के नीचे चादर बिछा कर बैठ जाता है और इतंजार करने लगता है।

थोड़ी देर में एक धुड़सवार आता दिखाई देता है और शहजादे को सलाम ठोकता है और कुशल क्षेम पुछता है। शहजादा उससे पानी निकालने का आग्रह करता है। धुड़सवार रियासत का वजीरजादा होता है। पहले तो वो आग्रह स्वीकार कर लेता है और कुएं की ओर बढ़ता है। जैसे ही रस्सी पकड़ता है तो उसे भी इल्म होता है कि मैं भी रियायत का वजीरजादा हूं और मैं कैसे पानी निकाल सकता हूं। शहजादे से कहता है, हूजूर मैं भी वजीरजादा हूं। थोड़ा इंतजार करते हैं, कोई न कोई आयेगा और पानी निकाल कर पिलाएगा। वजीरजादा भी शहजादे के पास जाकर बैठ जाता है। दोनों बातें करने लगते हैं और उत्सुकता से इंतजार करने लगते हैं। इंतजार की घड़ियां समाप्त होती हैं और तलवार लिए एक नवाबजादा प्रकट होता है और बड़े जोश से दुआ सलाम करता है और जंगल में इस तरह बैठे होने का प्रयोजन पूछता है। शहजादे और नवाबजादे बताते हैं कि शिकार करने निकले, शिकार भी नहीं मिला और प्यास के मारे बुरा हाल है। अब बस इतंजार है कि कोई कुएं से रस्सी सिंह बाल्टी डालकर पानी निकाल कर पिला दे तो अति कृपा होगी। नवाबजादा सहर्ष निवेदन स्वीकार कर लेता है और उत्सुकता से कुएं की और बढ़ता है। कुएं में छाकतां है, गहराई को देखता है, पानी दिखाई देता है। जैसे ही रस्सी की और हाथ बढ़ाता है तो उसके दिमाग में उपजता है कि मैं भी तो रियासत का नवाबजादा हूं और मैंने आज तक पानी नहीं निकाला है। नवाबजादा शहजादे और वजीरजादे से माफी मांगते हुए बोलता है, हूजूर मैं भी नवाबजादा हूं। मैंने आज तक कुएं से पानी नहीं निकाला है। कोई न कोई आएगा और हमें जरूर पानी पिलाएगा। नवाबजादा भी माफी मांग कर उनके संग बैठ जाता है और इतंजार करने लगता है। वृक्ष के नीचे बेसब्री से इंतजार हो रहा है और आपसी वार्तालाप भी हो रहा है। इसी बीच एक उम्मीद भरी आवाज सुनाई देती है। आवाज की दिशा में शहजादे, वजीरजादे और नवाबजादे नजर लुभाते हैं तो उन्हें एक साधारण सा, फटेहाल दंडवत प्रणाम करता हुआ आता एक

प्राणी दिखाई देता है। निकट आने पर उसका स्वर ऊंचा हो जाता है और स्तकार के रूप उसके जोश को देख शहजादे, वजीरजादे और नवाबजादे की बांछे खिल जाती है और उनकी उत्सुकता बढ़ जाती है। प्रणाम स्वीकार कर उसे आग्रह किया जाता है कि रस्सी है, बाल्टी है, पानी है बस कुएं में बाल्टी डालकर पानी निकालना है। आपके लिए यह बातें हाथ का खेल है, बताकर उससे अनुरोध किया जाता है। प्राणी पुनः दंडवत प्रणाम करता है और विनती करते हुए कहता है हूजूर मैं भी हरामजादा हूं। माफी चाहते हुए कहना चाहता हूं कि मैंने जिंदगीभर आज तक अपने बाप को पानी नहीं पिलाया, तो हूजूर आपको कैसे पिला सकता हूं। मैं और कोई सेवा कर सकता हूं। हूजूरे आ ला ...

हिंदी कविता एवं नाटक विधा के विकास में अनुवाद की भूमिका

डॉ॰ अनुराधा पाण्डेय
अतिथि शिक्षक, अनुवाद अध्ययन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता

सारांश

हिंदी साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधाओं के रूप में कविता एवं नाटक को माना जाता है। हिंदी भाषा का विकास संस्कृत-पाली-प्राकृत-अपभ्रंश से होते हुए खड़ी बोली हिंदी के रूप में हुआ जिसके कारण हिंदी भाषा की शब्द संपदा इन प्रकारांतर से जुड़ी भाषाओं से जुड़ी हुई मिलती है। इसके साथ ही हिंदी भाषा के अंतर्गत भारत में व्यापारिक दृष्टि से जुड़े देशों की भाषाएं एवं औपनिवेशिक दृष्टि से जुड़े देशों की भाषाओं के शब्द मिलते हैं। इसलिए, हिंदी भाषा के विकास में इन तमाम देशी एवं विदेशी भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार किया जाना चाहिए। हिंदी भाषा में जिस ढंग से अन्य कई भाषाओं का योगदान है ठीक उसी रूप में जब हम हिंदी की तमाम महत्त्वपूर्ण विधाओं के विकासक्रम को देखते हैं तो कई अलग-अलग भाषाओं के साहित्य की भूमिका देखने को मिलती है। हिंदी साहित्य की कई विधाएं सीधे-सीधे अनुवाद के माध्यम से विकसित हुई हैं। प्रस्तुत पत्र हिंदी की कविता विधा एवं नाटक विधा के विकास में अनुवाद के महत्त्व पर आधारित है। इसकी सहायता से हम यह समझ सकेंगे कि अनुवाद के माध्यम से किस ढंग से हिंदी की विधाओं को विकसित करने एवं उन्हें समृद्ध करने का काम किया गया है।

बीज शब्द

हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य, हिंदी कविता विधा, हिंदी नाटक विधा, अनुवाद एवं अनुवाद की भूमिका

हिंदी कविता और अनुवाद :

साहित्य लेखन में काव्य लेखन की परंपरा सबसे प्राचीन रही है। विभिन्न भाषा के विद्वानों का मानना है कि अगर कहा जाए तो मानव अपने विकास की प्रारंभिक अवस्था में जब बोलना शुरू किया तो वह भी काव्य का ही रूप था। काव्य को मानव की सबसे गहरी संवेदनाओं को प्रकट करने का माध्यम माना जाता है और काव्य प्रिय व्यक्ति को सुकुमार हृदय वाला भी कहा जाता है। भारत में सर्वप्रथमतः साहित्य लेखन संस्कृत भाषा में ही होती थी और इसे संपूर्ण भारत देश की भाषा माना जाता था। इस प्रकार हिंदी में भी विधा के रूप में सबसे पहले काव्य लेखन ही शुरू होता है। काव्य लेखन की यह शुरुआत संस्कृत साहित्य की रचनाओं के अनुवाद से शुरू होती है। संस्कृत साहित्य से अनुवाद परंपरा विशेष रूप से लक्षण ग्रंथों के अनुवाद से शुरू होती है। इससे पूर्व हिंदी में दूसरी किसी विधा का कोई अस्तित्व नहीं था, साहित्य के क्षेत्र में प्रथमतः कविता का ही विकास

होता है। नाटक विधा का विकास कविता के पश्चात होता है। खड़ी बोली हिंदी में काव्य विधा की शुरुआत को लेकर हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास (भाग-8) में लिखा है कि - 'किसी काव्य ग्रंथ का अनुवाद करना अत्यंत कठिन कार्य है। तब भी आलोच्य काल में कई भारतीय और पाश्चात्य काव्य रचनाओं का ब्रजभाषा अथवा खड़ी बोली में अनुवाद किया गया। भारतीय काव्य रचनाओं के अनुवाद नवोत्थान की भावना के फलस्वरूप प्राचीन संस्कृति और साहित्य की ओर ध्यान जाने के करण हुए थे। तत्कालीन कवियों ने संस्कृत ग्रंथों रामायण, महाभारत आदि का या तो अनुवाद किया या उसका भावाशय लेकर अपनी स्वतंत्र रचना प्रस्तुत की।' खड़ी बोली हिंदी में काव्य विधा की शुरुआत रूप में संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा की कृतियों के भी अनुवाद किए गए। शुरुआत में जिन लेखकों ने अनुवाद किए उनकी सूची देते हुए हिंदी साहित्य का बृहद इतिहास में लिखा गया है। इन अनुवादकों में संस्कृत की कृतियों का हिंदी में अनुवाद करने वालों में सर्वप्रथम शुरुआत राजा लक्ष्मण सिंह (1826-1896) ने की। इन्होंने रघुवंश (1878), मेघदूत (1886), कुमार संभव (1884) आदि की रचना की। इनके बाद तोताराम वर्मा (1847-1902) ने बाल्मीकी कृत रामायण का राम-रामायण नाम से, बालकांड (1888), अयोध्या कांड (1898) आदि के अनुवाद किए। इन्होंने जो भी अनुवाद किए वे बहुत ही बेहतरीन अनुवाद हैं। इनके पश्चात आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938) जो द्विवेदी युग सन् (1900-1920) के नायक हैं, इन्होंने भी संस्कृत से हिंदी में काव्यानुवाद किए। इन्होंने जयदेव कृत बिहार वाटिका (1860) कालिदास कृत ऋतुतरंगिणी (1891) और पंडितराज जगन्नाथ कृत गंगा लहरी (1891) आदि के अनुवाद किए और इनके बाद ठाकुर जगमोहन सिंह (1857-1899) ने कालिदास की रचना ऋतुसंहार (1886) का अनुवाद किया। इन सभी लेखकों ने हिंदी मिश्रित अवधी और ब्रज में अपनी रचनाओं की रचना की।

राजा लक्ष्मण सिंह ने रघुवंश का अनुवाद खड़ी बोली गद्य में किया है। हरिऔध जी ने 1865 ई॰ में कुसुमदेव की संस्कृत रचना दृष्टांतकलिका का हिंदी में अनुवाद किया। हिंदी साहित्य में पद्य विधा की शुरुआत संस्कृत कृतियों के अनुवाद से होती है। काव्यानुवाद में पाश्चात्य लेखकों जैसे- मिल्टन, जॉनसन, ग्रे, पोप, गोल्डस्मिथ, टॉमसन, कूपर, वोड्र्सवर्थ आदि की काव्य कृतियों के बहुत ही बेहतरीन अनुवाद हिंदी में किए गए। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से हिंदी साहित्य में शोक गीत लिखने की परंपरा शुरू हुई। यह शुरुआत ग्रे की कविता एलेजी रिटेन इन ए कंट्री चर्चयार्ड से होती है। इससे पूर्व हिंदी साहित्य में शोकगीत लिखने का प्रचलन नहीं था। यह परंपरा भी अनुवाद के माध्यम से हिंदी में विकसित होती है। 'हिंदी साहित्य में पहला शोकगीत ग्रे की एजेली की प्रणाली पर हिंदी में भी शोकपूर्ण कविताएं लिखी जाने लगी।' इस रूप में हिंदी में शोक गीत लेखन की शुरुआत इसी कविता के अनुवाद से होती है।

द्विवेदी युग के दौरान संस्कृत की रचनाओं से भी काव्यानुवाद हिंदी में किए गए। जिनमें महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत की रचना कुमारसंभव का हिंदी में काव्यानुवाद किया। राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' ने संस्कृत साहित्य के कवि कालिदास की रचना मेघदूत का हिंदी में काव्यानुवाद सन् 1902 में धाराधर धावन नाम से किया। मैथिलीशरण गुप्त ने भी हिंदी में काव्यानुवाद किया। इनकी अनूदित कृतियों में प्लासी का युद्ध, मेघनाद-वध और वृत-संहार प्रसिद्ध हैं। द्विवेदी युग के दौरान बंगला भाषा के साहित्य से भी हिंदी में काव्यानुवाद पर्याप्त मात्रा में किए गए।

हिंदी नाटक और अनुवाद :

खड़ी बोली हिंदी में नाटक विधा की शुरुआत भी अनुवाद के माध्यम से होती है। नाट्य रचना की परंपरा भारतीय साहित्य के इतिहास में बहुत पुरानी है। हिंदी भाषा में नाटक विधा की शुरुआत में संस्कृत साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 'उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद नवजागरण काल में

भारतीय जीवन और साहित्य में युगांतर उपस्थित हुआ और भारतेन्दु हरिश्चंद्र (1850-1885) की प्रेरणा के फलस्वरूप हिंदी में नाट्यप्रणयन का सूत्रपात हुआ। उनके नाटक सन् 1883 ई॰ में नामक प्रबंध से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने न केवल प्राचीन भारतीय नाट्य पद्धति तक अपने को सीमित रखा और न पाश्चात्य पद्धति का अंधानुकरण किया।' इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास में नाटक विधा के विकास का सबसे बड़ा प्रणयन भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा किया जाता है। इन्होंने नाट्य लेखन की परंपरा को बढ़ावा दिया और अपने नाटकों की रचना तत्कालीन समय की सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों से जुड़े कथानकों को लेते हुए किया।

प्राणचंद चौहान द्वारा सन् 1610 में रचित रामायण महानाटक, लक्षिराम कृत सन् 1657 में करुणाभरण, नेवाज़ कृत शकुंतला (1680), महाराज विश्वनाथ कृत आनंद रघुनंदन (1700), रघुराय नागर कृत सभासार (1700), उदयराम कृत रामकरुणाकर और हनुमान नाटक (1840) आदि महत्त्वपूर्ण अनूदित कृतियां हैं। भारतेन्दु जी के पिता गोपालचंद्र गिरिधरदास कृत नहुष (1857), गणेश कवि कृत प्रद्युम्न विजय (1863), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत जानकी मंगल (1868) आदि नाटक भारतेन्दु से पूर्व लिखे गए हैं। इनमें नाटकीयता की विशेषताओं की कमी के साथ-साथ हिंदी भाषा का स्पष्ट व शुद्ध विकास नहीं मिलता है। इसी कारण ये नाटक हिंदी के नाटकों में विशेष स्थान न पा सकें। भाषा के स्तर पर राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा रचित नाटक शकुंतला की भाषा बहुत ही साफ-सुथरी व शुद्ध हिंदी है। इस नाटक को भारतेन्दु ने नाटकीय तत्त्वों की कमी के कारण खारिज कर दिया गया। विद्यासुंदर को हिंदी का पहला नाटक माना जाता है। यह नाटक संस्कृत नाटक विद्यासुंदर का हिंदी अनुवाद है। इसे बंगला से भी अनूदित माना जाता है। भारतेन्दु ने हिंदी साहित्य की समृद्धि के लिए कुल सत्रह नाटकों की रचना की जिनमें अनूदित नाटकों की संख्या सबसे अधिक है। विद्यासुंदर नाटक के बाद भारतेन्दु ने अगला नाटक सत्य हरिश्चंद्र लिखा। इस नाटक को अनूदित नाटक न मानकर उनकी मौलिक रचना के रूप में माना जाता है। इसकी कथा पौराणिक आख्यान तथा चंद्रकौशिक से लिया गया है। पौराणिक आख्यान को नाटक रूप में आख्यायित करने के उपरांत इसको अनुवाद में व्याख्यानुवाद की श्रेणी में रखा जाएगा। इस नाटक के बारे में विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं कि- 'उनका प्रसिद्ध मौलिक नाटक सत्य हरिश्चंद्र (1875) पौराणिक आख्यान तथा चंदकौशिक के आधार पर लिखा गया नाटक है। भारतेन्दु द्वारा अनूदित संपूर्ण नाटकों को बताते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि विद्यासुंदर, मुद्राराक्षस, पाखंडविडंबन, धनंजय विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चंद्र और भारत जननी आदि इनकी अनूदित नाट्य कृतियां हैं।

लाला श्रीनिवास दास (1851-1897) ने रणधीर प्रेम मोहिनी 1877 ई॰ का अनुवाद किया जो शेक्सपियर द्वारा लिखित नाटक रोमियो-जूलियट का हिंदी अनुवाद है। इस नाटक को हिंदी का पहला दुखांत नाटक माना जाता है। इससे पूर्व हिंदी में दुखांत नाटकों के लेखन की कोई परंपरा नहीं थी। लाला सीताराम बी॰ ए॰ उपनाम 'भूपकवि' (1859-1937 ई॰) ने भवभूति कृत महावीर चरित (1897) उत्तर रामचरित (1897 ई॰), मालर्ता माधव (1897 ई॰), कालिदास कृत मालविकाग्नि मित्र (1898 ई॰), मृच्छकटिक (1899 ई॰) और शूद्रक कृत-नागानंद (1900ई॰) महत्वपूर्ण हैं। देवदत्त तिवारी ने उत्तर रामचरित का हिंदी में अनुवाद सन् 1871 ई॰ में किया। नंदलाल विश्वनाथ ने भी उत्तररामचरित (1886ई॰), और शकुंतला (1888 ई॰) नाटक का हिंदी में अनुवाद किया। बालकृष्ण भट्ट ने माइकेल मधुसूदन दत्त के पद्मावती और शर्मिष्ठा नामक दो बंगला नाटकों का हिंदी में अनुवाद किये। ज्वालाप्रसाद मिश्र ने वेणीसंहार नामक संस्कृत के नाटक का हिंदी में अनुवाद सन् (1897 ई॰) में किया। कृष्णबलदेव वर्मा ने भर्तृहरि राजत्याग का हिंदी में अनुवाद सन् (1879) में

किया और शीतला प्रसाद ने प्रबोधचंद्रोदय नाटक का हिंदी में अनुवाद (1879 ई॰) में ही किया।

रायबहादुर लाला सीताराम बी॰ ए॰ का नाम अनुवाद में प्रसिद्ध है। इन्होंने बेहतरीन भाषा शैली का प्रयोग करते हुए अनुवाद किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनके अनुवादक रूप के बारे में लिखते हैं कि- 'भारतेन्दु की मृत्यु से दो वर्ष पहले ही उन्हों ने संस्कृत काव्यों के अनुवाद में लग्गा लगाया और संवत् 1940 में मेघदूत का अनुवाद घनाक्षरी शब्दों में प्रकाशित किया। इसके उपरांत वे बराबर किसी न किसी काव्य नाटक का अनुवाद करते रहे। संवत् 1944 में उनका नागानन्द का अनुवाद निकला। फिर तो धीरे-धीरे उन्हों ने मृच्छकटिक, महावीरचरित, उत्तररामचरित, मालतीमाधव, मालविकाग्निमित्र का भी अनुवाद कर डाला।' संस्कृत के अनेक पुराण ग्रंथों के अनुवादक रामचरित मानस बिहारी सतसई के टीकाकार, सनातन धर्म के प्रसिद्ध व्याख्याता मुरादाबाद के पंडित ज्वालप्रसाद मिश्र ने वेणीसंहार और अभिज्ञान शाकुंतलम का हिंदी में अनुवाद किया। हरिश्चंद्र ने रत्नावली नाटिका का हिंदी में अनुवाद कियाए लेकिन कुछ अंश का ही यह अनुवाद पूरा न हो सका। बालमुकुंद गुप्त ने यह नाटिका पूरी की। इसके बाद संवत् 1970 में पंडित सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के उत्तररामचरित का और मालतीमाधव का हिंदी में अनुवाद किया। द्विवेदी युग में भी संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद होते हैं। जिनमें संस्कृत के नाटकों में राधाचरण गोस्वामी ने सुदामा चरित, बनवारीलाल ने कंसवध और कृष्णकथा का हिंदी में अनुवाद किया, रामनारायण मिश्र ने जनक बाड़ा, गंगा प्रसाद ने रामाभिषेक, राम गुलामलाल ने धनुषयज्ञ लीला का, गंगाप्रसाद गुप्त ने वीजयमल आदि नाटकों का हिंदी में अनुवाद हुआ। इन नाटकों का कथानक विशेष रूप से संस्कृत साहित्य की मिथकीय काथाओं पर और पौराणिक आख्यानों से लेकर ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत की रचना नागानंद का हिंदी में अनुवाद श्री सदानंद अवस्थी ने सन् 1906 में किया। लाला सीताराम ने मृच्छकटिक का सन् 1913 में हिंदी अनुवाद किया। कविरत्न सत्यनारायण ने संस्कृत रचना उत्तररामचरित का हिंदी में अनुवाद किया। मैथिलीशरण गुप्त ने भी संस्कृत से हिंदी में अनुवाद किए जिनमें भास् के नाटक प्रतिमा, अभिषेक और अभिभार कम बहुत प्रसिद्ध अनुवाद हैं।

निष्कर्ष :

हिंदी भाषा में कविता एवं नाटक विधा के विकास का क्रम देखें तो इन विधाओं के शुरुआती दौर में अनुवाद ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में अपना योगदान दिया है। इस दौर में चूंकि हिंदी भाषा खड़ी बोली हिंदी से विकसित होकर भाषा रूप में स्वीकृत हुई थी। इसने के तरफ ब्रज भाषा के साथ संघर्ष किया था दूसरा संघर्ष लिपि एवं शैली के रूप में फारसी लिपि एवं उर्दू भाषा के साथ रहा। इन सभी स्थितियों से गुजरते हुए हिंदी एक भाषा के रूप में स्थापित हुई। चूंकि हिंदी के विकास का संदर्भ अपभ्रंश, अवहट्ट, पुरानी हिंदी आदि से रहा है। यही कारण है कि इन भाषाओं के साहित्य को हिंदी भाषा के आदि साहित्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसलिए वर्तमान समय में अनुवाद को एक द्वितीयक स्तर का काम न मानते हुए एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में स्वीकार करने की जरूरत है। इसके बृहत वितान को स्पष्ट करने हेतु इसमें नित नए-नए आयाम विकसित करने की आवश्यकता है।

संदर्भ सामग्री :

1. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर (2006) हिंदी साहित्य का इतिहास लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. स्नातक, विजयेन्द्र (1996) हिंदी साहित्य का इतिहास साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली।
3. सिंह बच्चन (2011) आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. शुक्ल, रामचंद्र (1929), हिंदी साहित्य का इतिहास राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

5. शर्मा, रामविलास (1996) भारतीय साहित्य की भूमिका राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास, खंड-8,पृष्ठ संख्या-312
7. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, खंड-8, पृष्ठ संख्या-313
8. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, खंड-8, पृष्ठ संख्या- 314
9. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, खंड-8, पृष्ठ संख्या- 314
10. हिंदी साहित्य के इतिहास, विजयेन्द्र स्नातक, पृष्ठ संख्या-214
11. हिंदी साहित्य के बृहत इतिहास, खंड-8, पृष्ठ संख्या-315
12. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या-332

कबीर की आलोचनाओं का पुनर्पाठ

डॉ॰ मनीष कुमार मिश्रा
के॰ एम॰ अग्रवाल महाविद्यालय
कल्याण-पश्चिम, महाराष्ट्र

विमर्श केन्द्रित वर्तमान साहित्य लेखन एवम् आलोचना की परिपाटी में कबीर को जाति और संप्रदाय से ऊपर उठकर देखना होगा। दलित या स्त्री विमर्श के दायरे में कबीर के उत्स, उनके दर्शन, भक्ति, रहस्य और समाज सुधार को समझना और कठिन हो जायेगा। कबीर जिस परंपरा को अग्रगामी बनाते हुए आगे बढ़ते हैं उस परंपरा के एक तरफ सिद्ध संत, निर्गुण उपासना और पारमार्थिक प्रेम की परंपरा रही है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कबीर का काव्य अपने मूल में अपने समय का 'नग्न सच' है। उनका ज्ञान शास्त्रीय नहीं अपितु अनुभवमूलक था। इसीलिए वे 'कागद की लेखी नहीं, आंखन की देखी' की बात करते हैं। ''कबीर बड़े कवि वहाँ हैं जहाँ वे अपने ही अन्तर्जगत का वैविध्य संधान करते हैं और उसी से जीवन की विराटता सिखाते हैं।''[1] भारतीय जनमानस के चित्त में कबीर व्यक्ति नहीं अपितु लोकचेतना के अंश के रूप में विराजमान हैं।

1915 में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर के सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद कराया, इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद कबीर को दुनियां के श्रेष्ठ रहस्यवादियों में से एक कहा गया। मध्यकालीन काव्य में रहस्यवाद के प्रणेता के रूप में उन्हें प्रस्तुत किया गया जिसका समर्थन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी किया। यह कहा जाने लगा कि कबीर निराकार ईश्वर संकल्पना में वेदांत और इस ईश्वर की आराधना के लिए सूफियों के प्रेमतत्व का आश्रय लेते हैं। प्रगतिशील आलोचकों ने कबीर को सामाजिक-आर्थिक न्याय की लड़ाई लड़ने वाला क्रांतिकारी कवि बताया। उनका विद्रोही व्यक्तित्व यहाँ खूब प्रचारित हुआ। श्री शिवदान सिंह चौहान और प्रकाश चन्द्र गुप्त ऐसे ही आलोचक रहे। दलित विमर्श के आलोक में डॉ॰ धर्मवीर ने आचार्य हजारी प्रसाद समेत सभी आलोचकों को नकारते हुए लिखा कि, ''ब्राह्मणवादी समीक्षकों ने कबीर के दर्शन और सामाजिक संदेश के प्रति तनिक भी सम्मान नहीं बरता। उन्होंने कबीर की नहीं बल्कि कबीर के भीतर रामानन्द बैठाकर उसकी प्रशंसा की है।''

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री कबीर को रहस्यवादी और उनपर सूफियों के प्रेमतत्व के प्रभाव वाली बात को उचित नहीं मानते। वे लिखते हैं, ''मैं बहुत विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि आचार्य शुक्ल की यह मान्यता ठीक नहीं है। उपनिषदों में, गीता में तथा अन्य मान्य ग्रन्थों में सगुण साकार भगवान की भक्ति के साथ-साथ अव्यक्त, निराकार परमात्मा की भक्ति का भी निरूपण किया गया है। ईशावास्योपनिषद् के अंतिम चारों मंत्र अव्यक्त निराकार परमात्मा के प्रति प्रार्थनाएँ हैं, जिनमें औपनिषदिक भक्ति का उत्कृष्ट रूप झलकता है। इस विषय को विस्तार से समझना चाहने वाले महानुभाव मेरी पुस्तक 'ज्ञान और कर्म' में इनकी व्याख्या पढ़ सकते हैं।''[2] साथ ही भगवत गीता और कई अन्य संदर्भो के माध्यम से शास्त्री जी यह बताने की कोशिश करते हैं कि अव्यक्त की

आराधना भारतीय परंपरा की अपनी संकल्पना है। इसी संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसारद द्विवेदी ने पंचदशी के उद्धारण प्रस्तुत किये हैं।

कबीर के कुछ पंक्तियाँ इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के रूप में देखिये :

''आतमलीन अखंडित रामां। कहै कबीर हरि मांहि समांनां।''

''मैं वैं, वैं मैं, ये द्वै नांही। आपे अकल सकल घट मांही।''

इन तमाम उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि निर्गुण निराकार की उपासना पद्धति भारतीय औपनिषदिक परंपरा का हिस्सा रहा है। सूफियों से प्रभावित होना, सत्संग करना यह सब कबीर के संदर्भ में अनुचित नहीं जान पड़ता। लेकिन उनके विचारों का मुख्य स्त्रोत हमारी औपनिषदिक ज्ञान परंपरा ही थी, इसे तथ्यों द्वारा समझा जा सकता है। जो कबीर कहते हों कि :

''हबीब और नबी के कामा। जहं लग अमल सौ सैब हरामा।''

अर्थात मुसलमानों के प्रेमास्पद नबी के दोषपूर्ण कार्य भी त्यागने योग्य है। ऐसे में कबीर पर इस्लाम की श्रद्धा या प्रभाव की जो बातें डॉ॰ ताराचंद एवं सरदार जाफरी ने की हैं, वह उचित नहीं मालूम पड़ती। कबीर ने लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) का समर्थन भी नहीं किया। कबीर ने अपने 'भक्त' होने की बात तो कही है लेकिन वे स्वयं को 'सूफी' या रहस्यवादी' कहते नहीं दिखाया पड़ते। कबीर का विद्रोह, विरोध और क्रांतिकारी कार्यो की चर्चा के बीच कबीर के 'आस्था' और 'भक्ति' को छोटा करके आंकना सही नहीं होगा। कबीर जिस आस्था और विश्वास के साथ कुछ कर पा रहे थे उसके केन्द्र में उनके अपने 'राम' थे। वे राम जो समानता, सदाचार, सहिष्णुता, कर्म और विवेक का पुंज हैं। ऐसे प्रकाश पुंज से ही कबीर समाज का परिष्कार एवं परिमार्जन करना चाहते हैं।

दलितों के प्रश्न और कबीर का मामला कई कारणों से उलझा हुआ है। इस बारे में परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं कि, ''एक ओर कबीर साहित्य को दलित साहित्य की परंपरा में स्वीकार करते हुए उनके अब तक के समूचे मूल्यांकन की (जिसमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मूल्यांकन भी शामिल है।) ब्राह्मणवादी पाठ कहा जा रहा है, दूसरी ओर कबीर, रैदास-जैसों के साहित्य को दलित साहित्य या दलित चेतना का साहित्य मानने से ही इनकार है; क्योंकि वह आध्यात्मिक बोध पर आधारित है और दलित चेतना के विद्रोही, अस्वीकार मूलक, प्रतिरोधी पक्ष को कमजोर करने वाला है''।[4]

यह सच है कि ''सवर्ण वर्चस्व वाली पंचायत व्यवस्था, न्याय व्यवस्था की जड़ता और क्रूरता, मुंशी दीवान की चालाकियाँ और दमन, बेगार प्रथा की तकलीफ, जाति व्यवस्था की कठोरता जैसे मुद्दों पर कबीर जहाँ-जहाँ संकेत करते रहे हैं।''[5] लेकिन कबीर के देखने की दृष्टि व्यापक थी। वे समाज को अग्रगामी बनाना चाहते थे ना कि एकांगी। इसलिए उन्होंने समता, समानता, न्याय को मनुष्यता के परिप्रेक्ष्य में देखा। उनका आध्यात्मिक बोध इस देश के लोगों को धमनियों में रक्त की तरह कार्य करता है। शायद यही कारण रहा कि आम जनमानस में कबीर इतने लोकप्रिय हुए और उनके कहे को समझने में विद्वानों और पंडितों को दिक्कत हो सकती है लेकिन आम व्यक्ति को कोई परेशानी नहीं हुई। कबीर ने सामाजिक ताने-बाने को तोड़ने या इसे त्रासदी पूर्ण स्थिति में पहुँचाने वाले वर्ग को बार-बार चेताया। उनकी सामाजिक चेतना जातिगत भेदभाव से परे एक समग्र दृष्टि है। कबीर का पद देखिये -

''कबीर दास न नींदिये जो पाऊं तकि होइ
उडि पड़ै जब आँखि में खरी डहेली होइ।''

कबीर अपने समय के समाज को रास्ता दिखा रहे थे उसके पीछे प्रेम, भक्ति और 'आध्यात्म्' की विराट चेतना काम कर रही थे। सब के दुःख को अपना दुःख कबीर मान रहे थे और सामान्य जन की

अवस्था देखकर रो भी रहे थे। कबीर के निती पद देखिये -

''चलती चक्की देखि के दिया कबीरा रोय
दुई पाटन के बीच में साबित बचा न कोय।''

''सुखिया सब संसार है, खाये अरू सोवे
दुखिया दास कबीर है, जागे अरू रोये।''

प्रोफेसर सदानंद शाही जी कबीर के रोने को एक जागे हुए व्यक्ति का रोना कहते हैं। वे इस रोने को जागरण का छंद कहते हैं। कबीर अपने दुःख से नहीं अपितु दूसरे के दुःख से दुःखी हैं। उनके अंदर करूणा है तो व्यवस्था से टकराने की शक्ति भी है। यह शक्ति उन्हें जिस 'राम' की 'भक्ति से मिल रही है वे उनके परम प्रिय हैं जो उनसे थोड़े ही बड़े हैं। इस तरह राम से अपने को 'तनक लहुरिया' बताते हुए कबीर अपने 'राम' को 'मनुष्यत्व' के अधिक करीब लाने का सार्थक प्रयास करते हैं।

''हरि मोरा पिउ, मैं हरि का बहुरिया
राम बड़े मैं तनक लहुरिया।''

कबीर ने जिस राम को पाया, पूजा या प्रेम किया वह मनुष्यत्व का पर्याय है। जो अनुभव से पाया गया है। जो संकिर्णताओं, कुंठाओं और जड़ताओं से ऊपर उठ चुका है। वह 'राम' सारे मठ-मंदिर की परंपरा से अलग बिना किसी भेदभाव के सबको गले लगाने को तैयार है। वह जीवन को अर्थ और गौरव प्रदान करने वाला है। कबीर यह सब नहीं कर सकते इसलिए राम की अपेक्षा 'तनक लहुरिया' हैं। लेकिन ऐसे राम को पाने और होने की शर्त को कबीर अच्छे से समझते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि -

''कबीरा खड़ा बाजार में, लिये लुकाठा हाथ।
जो घर जारे आपना, चले हमारे साथ।''

कबीर के अधिकांश आलोचक उनके आत्मविश्वास से प्रभावित हैं। लेकिन प्रभावित होने में कई आलोचकों का वैचारिक त्रास भी या लघुता भी प्रस्तुत हुई। हरिऔध को कबरी की यह खंडन शैली पसंद तो आती है लेकिन 'धार्मिक ग्रंथो' पर उनके हमले को असंगत मानते हैं। श्यामसुंदर दास तो इस आत्मविश्वास का मूल कारण उनका विधवा ब्राह्मणी का पुत्र होना या उनके अंदर ब्राह्मण रक्त होना मानते हैं। साथ की ब्राह्मण गुरु रामानंद को भी वे इसका श्रेय देते दिखाये पड़ते हैं। रामचन्द्र शुक्ल कबीर के कवि रूप को मध्यकाल के कई कवियों से कमतर आंकते रहे हैं। कबीर के तमाम आलोचकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना अधिक समावेशी और उदात्त नजर आती है। लेकिन दलित विचार डॉ॰ धर्मवीर इन सारे आलोचकों के कबीर अध्ययन को 'कबीर का ब्राह्मणी अध्ययन' माना है। लेकिन प्रेम सिंह जैसे विद्वान जिस संकुचन के या भावातिरेक में कबीर को दलित परंपरा के प्रणेता साधक कहने लगते हैं, वह उचित और तर्कपूर्ण नहीं लगता। प्रेमिंसह लिखते हैं कि, ''उन्हें सुधार या समन्वय के नाम पर प्रतिष्ठित परंपरा के खाते में नहीं डाला जा सकता। इस आग्रह ने हमेशा यथास्थितिवाद को ही बढ़ावा दिया है।''[5] यथास्थितिवाद को बदलने का यह भी मार्ग तो उचित नहीं लगता कि आप 'जाति' या 'जातिगत समाज' के आईने से ही कबीर को देखें और परखें। यह कबीर के बड़े व्यक्तित्व और विचार को छोटा या कमतर करके आंकने जैसा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर को आध्यात्मिक पथ का साधक मानते हुए - उनकी कविता और समाज-सुधार को भक्ति का 'बाई-प्रोडक्ट' फोकट का माल कहा है। डॉ॰ धर्मवीर इसपर अपनी आपत्ति दर्ज करते हुए लिखते हैं कि, ''क्या तुलसी भक्त नहीं थे? फिर उनके यहाँ फोकट का माल-पूजिए विप्र सील गुन हीना। शूद्र न गुन मन ज्ञान प्रवीना।। क्यों निकला है? कबीर के यहाँ निकले हुए फोकट के माल और तुलसी के यहाँ निकले हुए फोकट के माल में यह जमीन-आसमान का अंतर क्यों है? एक बाई-प्रोडक्ट वर्ण-विरोधी और दूसरे का बाई-प्रोडक्ट वर्ण-समर्थन का क्यों है? सच्ची बात यह है कि समाज-सुधार या समाज-बिगाड़ इन लोगों की भक्ति का बाई-प्रोडक्ट नहीं बल्कि यह उनका मूल उत्पादन है।

इस मूल उत्पादन में जो साधन के रूप में इस्तेमाल की गई चीज है वह भक्ति है।''[6]

इस संदर्भ में विनम्रतापूर्वक कहना चाहूँगा कि कबीर और तुलसी जिस 'राम' की भक्ति से अपना विश्वास अर्जित कर रहे हैं वह 'राम' एक नहीं हैं। कबीर के 'राम' परंपराओं का पोषण नहीं करते, यथास्थिति को बदनले के लिए वे हर तरह की मर्यादा तोड़कर 'सकारात्मक अतिक्रमण' को सदैव तैयार रहते हैं। ये राम कबीर को 'अनुभव' से मिले हैं। इसलिए कबीर की भक्ति से मिलने वाली कोई भी चीज 'मूल उत्पादन' नहीं कही जा सकती। क्योंकि 'मूल उत्पादन' के पैरामीटर सुनिश्चित एवम् नियोजित होते हैं। कबीर किसी सुनिश्चित पैरामीटर या यथास्थिति को वैसे कबूल करते? करते तो तुलसी के राम से अलग अपने दूसरे राम की तलाश क्यों करते? यही तुलसी और कबीर में बुनियादी अंतर है।

रामस्वरुप चतुर्वेदी कबीर के 'कवि' होने को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। अन्य सभी को वे 'प्रासंगिक' कहते हैं। कबीर जिस 'परम तत्व' की तलाश करते हैं वह उनके अंदर हैं। अतः किसी बाह्य वृत्त में उन्हें उसकी तलाश नहीं करनी पड़ती है। कबीर के आंतरिक संसार में कोई छोटा, बड़ा, ऊँच, नीच या अमीर-गरीब नहीं है। वहाँ सब के लिए मनुष्यता की भावभूमि है। अतः एक तरह का जनतंत्र कबीर के अंदर है। इस जनतंत्रात्मक सोच के खिलाफ जब वे बाहर की दुनिया का आचरण देखते हैं तो उसके खिलाफ तीखे स्वरों मे मुखर होते हैं। इन तीखे स्वरों के साथ कबीर जिन मूल्यों के लिए मुखर होते हैं वे जनतांत्रिक ही हैं। समाज में धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता, संकीर्णता और दुराग्रह आपस में मिलकर एक ऐसा साम्प्रदायिक ताना-बाना बुनते हैं, जो सामाजिक सहअस्तित्व के लिए ही खतरा बन जाता है। यदि राज सत्ता भी 'धर्म उन्माद' को संरक्षित और पोषित करने लगे तो इसे स्थिति अधिक विकट बन जाती है। कबीर का समय ऐसा ही 'विकट' समय था। कबीर की आस्था मनुष्यता में थी तो वे इस 'उन्मादी समय' में तड़प उठे। डाँटते, फटकारते और गरियोत हुए वे मनुष्य से मनुष्य बने रहने की गुहार लगाते हैं। अपने उस समय के तमाम खतरों को उठाते हुए, निडर और निर्भीक होकर कबीर अपने आत्मबल के दम पर कहने और गहने की हिम्मत जुटा पाये। उन्हीं के शब्दों में -

''साँच ही कहत और साँच ही गहत है।''

कबीर किसी धर्म और जाति से अधिक मनुष्य की मनुष्यता को मानने वाले नायक थे। कबीर को रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'भारत पथिक' कहकर संबोधित किया है। कबीर ने जो राह दिखायी उसी राह पर चलते हुए भारत एक सशक्त और उन्नत राष्ट्र बन सकेगा। आज जब हम 'एक भारत, श्रेष्ठ भारत' जैसे नारों को सुनते हैं तो इसके मूल भाव की खोज हमें कबीर जैसे कवियो तक पहुँचा देती है। कबीर सारे खतरे उठाकर सच कह रहे थे। परिणाम में उन्हें क्या मिल रहा था? कबीर खुद कहते हैं कि -

''साधौ देखो जग बौराना
साची कहौ तो मारन धावै,
झूठे-जग पतियाना।''

अपने आत्मबल और नैतिक विवेक के बल पर कबीर अपने समय को चुनौती दे रहे थे। इस चुनौती में सामाजिक समरसता, पवित्रता और प्रांजलता को बनाये रखने का महत्वपूर्ण भाव निहित था। वे एक दृष्टा थे। मैनेजर पाण्डेय कबीर को 'द्रष्टा कवि' कहते हैं। कबीर जो है उससे आगे की सोचते हुए वर्तमान कुंठाओं, अंधविश्वासों और धार्मिक आड़बरों को फटकारते हुए एक बेहतर समाज की संभावनाओं को बल प्रदान कर रहे थे। सामान्य बोलचाल की भाषा में कबीर ने जो कहा वो लोकजीवन में सहजता से स्वीकार किया गया। कबीर की कही जाने कितनी ही बातें जनसामान्य के बीच लोकोक्तियों के रुप में आज तक प्रचलित हैं।

अपने समय और समाज के प्रश्नों को कबीर किस प्रकार सामने लाते हैं यह उनकी साखीयों से

स्पष्ट होता है। कबीर जिस राम की बार-बार चर्चा करते हैं वे कमला प्रसादजी के शब्दों में ''हृदय की उदात्त अनुभूति के पर्याय हैं''[2] वे अजन्मे और अशरीरी राम की बात करते हैं। कबरी कहते हैं कि -

''उपजै खपै सो दूजा''

कबीर अपने राम से जो आत्मविश्वास अर्जित करते हैं वह भी विलक्षण है। कहते हैं -

''मुझको मिला जियावन हारा''

''मैं न मरौ मरिहै संसारा।''

अज्ञात के प्रति जिज्ञासा का भाव कबीर को रहस्यवाद की तरफ ले गया। जिस सगुण भक्ति में जात-पात की अमानवीय स्थिति विद्यमान थी, जो धर्म वर्ण व्यवस्था के घृणित रूप के संरक्षण प्रदान कर रहा था, वह कबीर को स्वीकार नहीं हो सकता था। समाज का वह पिछडा, अछूत और दलित वर्ग जिसे धर्म के ठेकेदारों ने ''ईश्वर विहीन'' कर दिया था, उस वर्ग को ईश्वर का साक्षात्कार उनकी अपनी दे हमें कराने का कार्य कबीर ने किया। कबीर ने जो भी बातें कहीं उनमें लोक पक्षधरता प्रमुख है। कबीर के यहाँ लोकानुभव एवम् लोकसंवेदना अधिक मुखर है। अपने समाज की परेशानियों, पीड़ाओं इत्यादि की वास्तविकताओं से प्रसूत है, कबीर का चिंतन। श्रमजीवी वर्ग जिसे समाज में कोई ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं था, उस वर्ग के कर्म प्रधान जीवन को कविता के केन्द्र में नये प्रतीकों के माध्यम से स्थापित करने का कार्य कबीर ने किया। चरखे का चलना, चादर का बिनना, कुंभार द्वारा घड़े का निर्माण, ढेंकुली सिंचाई जैसे अनेकों नए प्रतीक कबीर ने दिये। इस तरह उपेक्षित वर्ग एवम् उनके कार्यो को प्रतिष्ठित करने का भी कार्य कबीर ने किया।

कबीर ने भक्ति रहित किसी भी धर्म को अधर्म ही माना। इस भक्ति के भाव के साथ ही कबीर नवीन सांस्कृतिक संरचना बनाने में लगे थे। वे एक नए पंथ का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। शास्त्र सम्मत वर्णव्यवस्था को 'निर्गुण राम' के माध्यम से कबीर ने चुनौती दी। स्वतंत्र चिंतन को जिस व्यवस्था में अपराध एवम् दंडनीय माना गया, उसे कबीर ने चुनौती दी। कबीर कहते हैं -

''हमरे राम नाम कहि उबरे
भेद बरोसे पांडे डूबि मरिंह।''

संदर्भ :

1. कबीर विविध परिप्रेक्ष्य-कुमार कृष्ण, पृष्ठ संख्या-11
2. वही, पृष्ठ संख्या-13
3. वही, पृष्ठ संख्या-15
4. वही, पृष्ठ संख्या-25-26
5. वही, पृष्ठ संख्या
6. वही, पृष्ठ संख्या-39

संगीत का मनोवैज्ञानिक पक्ष एक अवलोकन

डॉ॰ शोभित कुमार नाहर
सहायक प्राध्यापक, वादन सितार
महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मन, मस्तिष्क, मानसिक स्थिति, आत्मा इत्यादि ये कुछ ऐसे शब्द हैं जो भावना से जुड़े तो संगीत की ओर उन्मुख होते हैं और विज्ञान से जुड़े तो मनोविज्ञान की ओर। संगीत की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वर व लय है, जिनका कोई संसारिक वस्तु से किसी प्रकार का भौतिक संबंध नहीं है। यह मुख्यतः नाद के रूप में व्यक्त होता है जिसे नाद ब्रहम भी कहा जाता है। अतः इसे ईश्वरीय रूप माना जाता है। संगीत के संबंध में यह धारणा, सृष्टि के आविर्भाव के समय से ही है। पुराणों के अनुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी को प्रथमतः सर्वोत्तम आनन्दानुभूति प्रदान कराने वाले नाद ब्रह्म की रचना की, तत्पश्चात् सृष्टि की रचना प्रारंभ की। इस कारण उसी समय से सृष्टि के विकास के साथ-साथ संगीत का भी क्रमानुगत विकास हुआ। वैदिक काल से आधुनिक काल तक संगीत ने मानव के जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि मानव के अंतर्मन में प्रस्फुटित मनोभावों का व्यवहारगत प्रस्फुटितकरण के संदर्भ में संगीत के विभिन्न अवयवों ने ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विकास की एक लम्बी कड़ी सृजित की है।

पाँचों ललित कलाओं में श्रेष्ठ संगीत कला अपने सूक्ष्म अवयवों के माध्यम से, मानव मन को शान्ति, अलौकिक, आनंद, रसानुभूति एवं प्रेरणा प्रदान करने वाली कला है।

मनोविज्ञान (Psychology) शब्द यूनानी भाषा के Psyche और Logos शब्दों के योग से बना है। Psyche का अर्थ आत्मा से है और Logos का संबंध ज्ञान से है। अतः Psychology मनोविज्ञान का शाब्दिक अर्थ बनता है आत्मा का ज्ञान या विज्ञान। शब्दतः अर्थ मनोविज्ञान-मन का विज्ञान। प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाटसन के अनुसार-

It is possible to write a psychology, to define it is the science of Behaviour.

संगीत का मनुष्य के मन एवं मस्तिष्क से जुड़े होने के कारण मनोविज्ञान से स्वतः ही संबंध स्थापित हो जाता है क्योंकि मनोविज्ञान विज्ञान की वह शाखा जिसके अंतर्गत मनुष्य के मन की चेतना और अचेतन क्रियाओं का निरक्षण करके अपरोक्ष अनुभूति द्वारा मनुष्य की बाह्य क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

मनोविज्ञान के अंतर्गत मानवीय व्यवहार को तीन पक्षों में बाँटा गया हैं :

1. ज्ञानात्मक पक्ष
2. क्रियात्मक पक्ष
3. भावनात्मक पक्ष

जहाँ तक संगीत का संबंध है ज्ञान, क्रियात्मक प्रदर्शन तथा भावनात्मक अभिव्यक्ति इन तीनों ही पक्षों का बहुत महत्व है एवं तीनों ही पक्ष एक-दूसरे से संबंधित हैं। संगीत के अंतर्गत ज्ञान परमावश्यक तत्व है, जिसे तालीम, अभ्यास, लगन व परिश्रम के

द्वारा अर्जित किया जा सकता है। यदि मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है तो साथ ही उसके मन में कुछ न कुछ भाव प्रकट होते हैं जिन्हें वह सभी के समक्ष क्रियात्मक प्रदर्शन के रूप में प्रकट करता है।

इस प्रकार संगीत के अंतर्गत जब मनुष्य ज्ञानात्मक पक्ष, भावनात्मक पक्ष के साथ संयोग कर क्रियात्मक पक्ष के माध्यम से अभिव्यक्त होता है तब संगीत की पूर्णता पूरी तरह उभर कर सामने आती है।

मनोविज्ञान के अन्तर्गत भी जब अभिव्यक्ति के लिए माध्यम की आवश्यकता महसूस होती है तो उसके अनुसार अपने अनुभवों तथा विचारों को व्यक्त करने के लिए व्यवहार शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार मनोविज्ञान का व्यवहार एवं संगीत कला की अभिव्यक्ति इन दोनों को ही समीप ला देती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दोनों क्षेत्रों में मन, मस्तिष्क के विचारों का प्रकट्य अन्तर्मन की भावनाओं के साथ आचार-व्यवहार के रूप में व्यक्त होते हैं।

'मन' का अस्तित्व मनोवैज्ञानिक है। वह मनुष्य के बुद्धि एवं शरीर पर पकड़ बनाए रखती है और उसी 'मन' को चिन्ताओं से मुक्त करके शान्ति तथा उत्साह दिलाने का कार्य संगीत करता है। सांगीतिक प्रस्तुतीकरण में 'मन' का बहुत योगदान रहता है। मन के सहारे ही बुद्धि, ज्ञान, अनुभव, तालीम व अभ्यास के सहारे ही संगीत के क्रियात्मक तत्वों का प्रदर्शन किया जाता है। मन को केन्द्रित करने की शक्ति संगीत में ही है।

मन के साथ ही संगीत में एक और मनोवैज्ञानिक तत्व का महत्व है जो है- 'ध्यान' या 'Attention'। सांगीतिक दृष्टिकोण से मानसिक चेतना का केन्द्रीयता प्रदान करने वाला तत्व 'ध्यान' ही है। ध्यान की आवश्यकता संगीत में हर क्षेत्र में होती है। संगीत जो कि प्रयोगात्मक विषय में उसके सीखने में, अभ्यास, प्रशिक्षण, प्रदर्शन इत्यादि प्रत्येक अवसरों पर ध्यान का अनन्य महत्व है। मन एवं ध्यान के इस क्रम में एक अन्य मनोवैज्ञानिक तत्व कल्पना जिसे अंग्रेजी में 'Imagination' कहते है, का मनोविज्ञान में अत्यन्त महत्व है। कल्पना या Imagination ही वह तत्व है जिससे एक कला साधक को नूतन सृजन और अभिनय रूप व्यापार विधान की शक्ति प्राप्त होती है।

अरस्तू के अनुसार, ''Art is a combination of Imitation and Imagination''

भारतीय संगीत की आत्मा राग है। कलाकार इस राग के द्वारा ही रस की निष्पत्ति करता है और अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा उसमे नये-नये रंग भरता है। यह कल्पना शक्ति संगीतकार की योग्यता, उसका अभ्यास और मस्तिष्क की उपज पर निर्भर करती है। राग के अनुरूप स्वरों को संगीतकार विभिन्न रूप से अपनी कल्पना शक्ति के अनुसार सजा कर जब प्रस्तुत करता है तो उसके संगीत में एक नवीनता दृष्टव्य होती है और हर बार वह पिछली बार से अधिक माधुर्यपूर्ण एवं रूचिपूर्ण ढंग से अपनी प्रस्तुति देता है।

डॉ॰ वसुधा कुलकर्णी के अनुसार, ''बड़े-बड़े दार्शनिक एवं कलाकार भी संगीत को कल्पनात्मक एवं कलात्मक विद्या मानते हैं।''

संगीत के सन्दर्भ में कलाकार के द्वारा श्रोताओं के हृदय को रस से ओत-प्रोत करने की शक्ति उसकी कल्पना ही है। इस रस की सृष्टि कलाकार अपनी शिक्षा व कल्पना से करता है और इस संगीत में वह दिव्य शक्ति है कि मनुष्य एवं पशु भी सुध-बुध खो जाते हैं।

अतः इन विवेचनाओं एवं संदर्भों से स्पष्ट है कि मन मस्तिष्क से जुड़े तथ्यों व अवयवों का मानव जीवन में न केवल उपस्थित रहना आवश्यक है, अपितु उसका उर्वर होना तथा बुद्धिमत्ता के साथ प्रयुक्त होना भी परमावश्यक है। अतः संगीत जैसे प्रायोगिक प्रदर्शन के विषय में मनोविज्ञान एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों के अंतर्गत आने वाले अवयवों का सहयोग,प्रयोग एवं मार्ग दर्शन आवश्यक है, जो संगीत के प्रदर्शन व अभ्यास स्तर में निःसन्देह वृद्धि कर सकेगा।

मनोविज्ञान के विभिन्न पहलूओं पर विचार करने से यह बात स्पष्ट होती है कि मनोविज्ञान विषय मन, चेतना, व्यवहार, मानव प्रकृति, मानव की मनः स्थिति तथा वातावरण एवं प्रकृति के साथ सामंजस्य के साथ विभिन्न प्रकार के क्रियाओं का अध्ययन करता है और भारतीय संगीत के सन्दर्भ में इसका अध्ययन और संबंध तब और भी आवश्यक हो जाता है जब हम देखते हैं विभिन्न ग्रंथों, पुस्तकों से यह स्पष्ट होकर हमारा भारतीय संगीत भी सृष्टि के साथ आविर्भाव होकर हमारे मन, मस्तिष्क, परिवेश, समाज, धर्म, संस्कृति इत्यादि से भी सीधा जुड़ा है और महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

संदर्भ :

1. वसुधा कुलकर्णी, भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, पृ॰-54
2. J.B. Watson, Behaviour-An Introduction to comparative Psychology, Pg. 12

संगीत एवं धर्म का अंतर्संबंध
(भारतीय संगीत के सन्दर्भ में)

डॉ॰ शिल्पी नाहर
सहायक प्राध्यापक, वादन सितार
संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारत के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि प्राचीन काल से भारत एक धर्म प्रधान देश रहा है। 'धर्म' से तात्पर्य है- जो स्थिर हो या जिसमें नियम, प्रथा (आचार), परम्परा, निष्ठा, सनातनता, कर्त्तव्य, नेक कार्य, समानता और सदाचार निहित हो।''

आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास रखना ही धर्म का प्रथम सोपान है। इतिहास का सूक्ष्मावलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय समाज की नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व धर्म के आवरण में आवेष्टित रहा हैं। अतः इससे एक बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि मानव जाति, सामाजिक प्राणी होने के साथ-साथ एक धार्मिक प्राणी भी होता है क्योंकि जिस प्रकार मानव जाति एक सभ्य समाज से जीवनपर्यंत जुड़ा रहता है उसी प्रकार कहीं न कहीं व अपने हृदय से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किसी न किसी प्रकार धर्म से भी जुड़ा रहता है।

भारत में सनातन धर्म के अंतर्गत चार सबसे प्रमुख मानवीय मूल्यों- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसका कारण यह है कि धर्म वस्तुओं का मूल आधार है और वह समाज की एकता को मूर्तिमान करता है।

प्राचीन काल से भारतीय संगीत प्रत्यक्ष रूप से धर्म से जुड़ा है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार विश्व के सभी धर्मों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है उसी प्रकार संगीत कला का भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या आनन्द की अनुभूति कराना है।

मानव जीवन के तीन शाश्वत मूल्य-सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् धर्म के आधार स्तम्भ है। संगीत में भी इन्हीं मूल्यों को अन्तर्निहित माना गया है। अर्थात् यहीं तीनों तत्व धर्म के अतिरिक्त संगीत के भी आधार स्तम्भ हैं। संगीत को साक्षात् ईश्वर का पर्याय भी माना गया है। हमारे सभी देवी-देवता भी किसी न किसी वाद्य से जुड़े हैं। संगीत की अधिष्ठात्री माँ सरस्वती वीणावादिनी तथा संगीतज्ञों की आराध्या कहलाई। भगवान शिव नटराज नृत्य के आदि देवता माने गये हैं। विघ्नविनाशक गणेश अवनद्ध वाद्य मृदंग के प्रथम वादक है। देवर्षि नारद ने वीणावादन करते हुए भगवान नारायण का दिव्यगान कर पूरे विश्व को आनंदित किया। वेणुवादक भगवान श्रीकृष्ण ने मधुर मन्द वंशी की ध्वनि से समस्त ब्रह्माण्ड को संगीतमय आनंद की फुहार से आह्लादित किया। अतः यह स्पष्ट है कि संगीत ईश्वरीय सुन्दरतम सृष्टि की मधुरतम अभिव्यक्ति है। संगीत नाद ब्रह्म से एकाकार हो जाने की अनुभूति है। संगीत सगुण से निर्गुण, अपूर्ण से पूर्ण तथा भौतिक से लौकिक की ओर एक

अनन्त एवं सुमधुर यात्रा है। इसलिए संगीत को ब्रह्म विद्या की संज्ञा दी गई है। साथ ही इसे ईश्वर तथा उसकी महान कृति प्रकृति से उसका सामंजस्य स्थापित किया गया है।

भारतीय संगीत के सन्दर्भ में प्राचीनकाल से ही ये मान्यता रही है कि सृष्टि की उत्पत्ति नाद ब्रह्म से मानी गयी है। इसी नाद ब्रह्म से ही संगीत की उत्पत्ति हुई है। संगीत नाद ब्रह्म से एकाकार हो जाने की साधना एवं तपस्या है। संगीत में तल्लीन संगीत साधक राग-रागिनियों, ताल एवं तान स्वर आदि के माध्यम से सांसारिकता से परे उठकर ब्रह्म स्वाद-सहोदर संगीतानन्द को प्राप्त कर केवल परमात्मा के दर्शन करता है। प्राचीन काल में वेदों द्वारा ईश्वर प्राप्ति के तीन मार्ग निश्चित किए गये हैं-

1. ज्ञान मार्ग
2. कर्म मार्ग एवं
3. उपासना मार्ग

इनमें से उपासना मार्ग अत्यन्त सहज तथा ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित करने का सरल मार्ग है। संगीत में इसी उपासना मार्ग को ही अपनाया।

हमेशा से भारतभूमि कर्मभूमि एवं योगभूमि रही है। साथ ही यहाँ हमेशा आध्यात्मक का वातावरण रहा है। इस आध्यात्मिक भूमि पर जहाँ धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन के प्रत्येक शुभ एवं अशुभ कार्यों से सम्बन्धित होता है। वैसे ही जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मानव जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जो संगीत से अछूता हो। प्राचीनकाल से ही संगीत का धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वैदिक काल से ही संगीत का गायन, वादन तथा नृत्य पूजा एवं धार्मिक कार्यों के लिए मंदिरों में होता रहा है। पूजा अर्चना में मन्त्र पाठ भी सांगीतिक किया जाता रहा। ईश्वर प्रतिभाओं के समक्ष देवदासियों ने सदैव सांगीतिक नृत्य प्रस्तुतियाँ दी। अनके ध्रुवपद एवं ख्याल रचनाओं में हमें शिव, सरस्वती, गणेश, राम, कृष्ण आदि देवी-देवताओं की महिमा का गुणगान प्राप्त होता है। कई वाद्यों के नाम जैसे- रूद्र वीणा, सरस्वती वीणा तथा तालों के नाम ब्रह्म ताल, लक्ष्मी ताल आदि देवी-देवताओं से संबंधित हैं जिससे स्पष्ट है कि संगीत एवं धर्म का संबंध प्राचीन है। भारत की प्राचीन संस्कृति ही नहीं बल्कि मध्यकालीन एवं नवीन इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पूर्व से लेकर पश्चिम तक, वर्तमान में या अतीत में संगीत का सम्बन्ध सदा ही धर्म के आध्यात्म पक्ष से रहा है। बड़े-बड़े संत महात्माओं एवं कवि ने संगीत का आश्रय लेकर भगवान का भजन-कीर्तन किया। तुलसी, मीरा, कबीर, चैतन्य, जयदेव, जरसी भगत, पाण्डुरंग, विट्ठल इत्यादि प्रमुख कवियों के अतिरिक्त अन्य असंख्य अज्ञात ऋषि, मुनि, संत, भागवत धर्म प्रचारक भी संगीत के उपासक तथा प्रचारक थे। ये सभी 'नाद ब्रह्म' के ज्ञान तथा रहस्य के मर्मज्ञ थे। भारत ही नहीं अपितु प्रायः विश्व के सभी देशों में किसी धर्म के लिए संगीत एक शक्तिशाली माध्यम है जिसके द्वारा जनता के मन में एक शक्तिशाली प्रभाव डाला जाता है। इस कारण संगीत का प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों में सर्वसम्मति से किया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्वर लय में निबद्ध शब्द अत्यंत शक्तिशाली हो कर मनुष्यों के मन में प्रविष्ट होते हैं और वह उनके स्मृति पटल पर अंकित हो कर उनके विचारों को प्रभावित करते हैं। गीता, महाभारत, रामचरितमानस, गुरु ग्रंथ साहित्य आदि सभी प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ पद्य में रचित है। इन धार्मिक ग्रंथों में अंकित एक-एक शब्द दीर्घकाल से लोगों के मन को प्रभावित करता आ रहा है। भागवतपुराण में नारदजी के इस प्रश्न पर कि भगवन् आप कहाँ विराजमान होते हैं? भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा-

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनांहृदये न च
मद्भक्त यत्र गायनित तत्र तिष्ठानि नारदः[3]

अर्थात् न तो मैं स्वर्ग में निवास करता हूँ नही योगियों और ऋषि मुनियों के हृदय में, किन्तु जहाँ भी मेरे भक्तजन मदमस्त होकर मेरे नाम संकीर्तन के द्वारा मुझे स्मरण करते हैं वही पर मैं विराजमान होता हूँ।

इन सभी तथ्यों से स्पष्ट है कि धर्म एवं संगीत का अन्योन्याश्रित संबंध है। धर्म की आत्मा संगीत है। ये दोनों ही धाराएं मानवीय चेतना और नैतिक मूल्यों का विकास कर व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक बनाते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. संगीत साधना का आध्यात्मिक पक्ष (निबन्ध संगीत से उद्धृत), प्यारेलाल श्रीमाल
2. धर्म दर्शन, डॉ॰ रामानारायण व्यास
3. धार्मिक परम्पराएं एवं हिन्दुस्तानी संगीत, रेनू सचदेव।

The Role of Music in Physical & Mental Health

Manpreet Kaur
Assistant Professor, Department of Physical and Sports
G.N.A. University, Phagwara (Punjab)

Abstract

In ancient times all the subjects were taught separately. But as the field of education philosophy developed, the notion developed that somewhere similar elements are found in all subjects, so that the knowledge of any subject can be easily done with the help of any other subject related to it. Just as music is deeply related to different types of subjects, similarly music can also be considered related to subjects like physical education. One of the main purposes of music is the physical and mental development of man. Music is like yoga. It makes us happy and also maintains the hormonal balance in our body. Along with this, it also works to relax the body and mind. Due to which it helps us to keep our body physically and mentally healthy. Music and dance are beneficial for the physical and mental health of man. Dance and music are very important for a healthy body. Many people enjoy listening to music. Most of the time when people do some work, light music makes that work interesting which is a very good thing. It is said that if a person is happy then half of the diseases of life end like this. That's why first of all it is important that you must do those small things that make you happy. Music plays a huge role in all these things as it can change your mood. Music is very beneficial for keeping our mental and health healthy. It helps to overcome mental problems like depression, anxiety etc. As you can see music has become an essential part of exercise. It helps in motivating people to work hard while providing innumerable benefits.

Keyword

Music, Physical Activities, Mental Health, Stress, workout.

Benefit of Musicin Physical Activities :

Benefits of music There are some such benefits which can reduce the physical exhaustion and mental stress of a person. Music reduces the physical effects of anxiety and stress, improves healing power, music also improves human self-expression and communication.

Purpose of Research :

Improvements in social skills, emotions, coordination, self-expression and personal growth are just some of the goals that are achieved when music is applied.

Introduction:

Regular physical activity can relieve stress, anxiety, depression and anger. You know you feel good after doing some physical work. Think of it as the feel-good pill without the side effects! Most people notice that they feel better over time as physical activity becomes a regular part of their lives. Music helps make physical activity more effective. How do you feel when you listen to your favorite music? Maybe it brings back good memories and moves you. Maybe it makes you feel relaxed from head to toe or maybe it gets your blood pumping and inspires you to get up and dance. Few other experiences in life have such a profound effect on us as music. Whether you want to get inspired, forget your troubles or focus on a project, the right music can help you get there. From reducing anxiety to improving sleep, reducing pain and blood pressure, enhancing mood, and increasing memory and mental alertness, music has many effects on both our mind and body. Dancing is one of the versatile and satisfying activities one can participate in as a form of expression, recreation, or as a form of exercise to develop fitness.

Enjoyable Gym Workout :

When working out at the gym, members always carry a few essentials: a towel, a water bottle, appropriate clothing, and most importantly, their headphones. For many gym members, their headphones are the most important part of their workout. Without them they cannot even exercise. Music is an essential part of most people's fitness routines. It is often seen in the gym that English music or loud music is preferred by the gym members at the time of workout, which makes the workout entertainment rather than a burden.

Relieves Stress :

In today's busy life, people do not have time to sit comfortably. Because of which today millions of people are surrounded by the disease of depression and anxiety. Our brain also signals us many times that I am tired, but we ignore it and keep our routine as it is. Our brain also needs rest, it is also necessary to entertain it. This will not make you feel stressed. Talking about music, classical music has been considered the best for our body and mind. The vibrations produced by musical instruments like tabla, veena, sitar etc used in that music give us peace and keep our mind healthy.

Keeps The Heart Healthy :

Music is very beneficial for heart patients. Now you must be thinking that what music has to do with heart related diseases, then let us tell you that when music is played, our blood flows easily.

Improves Mood :

One of the best benefits of music is that it improves your mood. This allows you to let go of negative thoughts and enter a more positive state of mind. When we are sitting idle and don't know what to do, the first thought that comes to our mind is to listen to songs. If you are in a bad mood, music is one medium that can instantly change your mood. It works like a therapy on your mind and brain. You must have felt that whenever our mood is a little bad, we put on songs at that time and pay more attention to the lyrics as soon as the song starts, why do you think we do this? This is because music has a direct

effect on our brain and music can increase the production of the brain hormone dopamine. This increased dopamine production helps relieve feelings of anxiety and depression.Music often makes us want to move, inspire us to dance or exercise. It helps release endorphins and serotonin in the brain, so we feel better and naturally have a more positive outlook. Pairing music with movement is a powerful way to improve your mood, with the potential for long-lasting effects.

Beneficial for Good Sleep :

Looking at today's lifestyle, most people do not have any time table for sleeping and waking up, due to which they are suffering from many diseases. But if the reason for not sleeping on time is known, then people do not get sleep on time. If you also feel like this, then you can listen to music according to your choice by darkening the room while sleeping at night.

Increases Interest inWork :

Music is the most enjoyable for women, listening to which they do all the household chores with pleasure, that is, music increases interest in our work. If you do not feel like doing any work, then you can do your work by listening to music, it is most beneficial for women.

Relief To Pain :

First of all, we have to understand what is the type of pain, there are two types of pain, Physical Pain and Mental Pain (which we also call heart pain). Music doesn't reduce pain, but when we become engrossed in music, it reduces the sensation of pain. Music plays a role in reducing both types of pain in different ways.

Physical Pain :

When we are suffering from physical pain then our mind goes towards music while listening to music and whatever we are listening in music, movies start forming in our mind and we get lost in those imaginary thoughts. Due to which the part of our brain that experiences pain gets busy with imaginary thoughts, this is the reason why pain is felt less while listening to music.

Mental Pain :

Mental pain is only the pain of our mind which happens when we are going through bad times or thinking about bad times, music takes our thinking to the other side, so that it is away from our mind. It happens. Bad times don't come to mind, which we enjoy when listening to music.It can inspire feelings of admiration in people as one follows the ups and downs of a musical scale. Man is a strange mixture of feelings and thoughts. When he is engaged in contemplation, he becomes impassive, and when emotion or passion overpowers him, he certainly loses his head. Balancing them can lead one to equanimity, which is an essential ingredient for a peaceful existence. Any music that harmoniously combines rhythm and resonance can help achieve such a balance. Singing or listening to music leads a person to equanimity.

Conclusion :

Music is very helpful in reducing physical health, anxiety, pain etc. and helps people to reduce difficulties, reduce negative influences and deal with grief and depression.From children to elders, women and men can be seen exercising to keep the body healthy through physical

activities.Music benefits our physical and mental health in many ways.Music reduces the stress of man. Music can help lift you up when you're feeling downMay provide strong competitive incentives by reducing stress levels and pain signals entering the brain.

References :

1. E.T. Jaynes, The Physical Basis of Music, Washington University, 1996.
2. Jesse D. Dagoon Ed.D., Physical Education, Health and Music, Rex Book Store, Philippine, 2000.
3. https://www.heart.org/
4. T.V. Sairam, Self-Music Therapy, Nada Publication, 2007
5. https://psychcentral.com/blog/how-music-can-boost-your-mood.

लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत का अंतर्संबंध

हनुमान प्रसाद गुप्ता
सहायक आचार्य, संगीत गायन विभाग
बसंत महिला महाविद्यालय राजघाट, वाराणसी

साराशं

लोक द्वारा सृजित, लोक द्वारा रक्षित, लोकरंजन के लिए, लोक जिव्हाओं द्वारा गाया जाने वाला संगीत ही लोक संगीत होता है। लोक संगीत जनसाधरण का सरल, सहज, सुलभ तथा सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होने वाला संगीत है। लोक संगीत किसी प्रकार के कठोर नियमों के बन्धन को नहीं स्वीकारता। यह पूर्ण रूप से 'स्वान्तः सुखाय' आधरित होता है। सामाजिकता को जिंदा रखने के लिए लोकगीतों/लोकसंस्कृतियों का सहेजा जाना बहुत जरूरी है। कहा जाता है कि जिस समाज में लोकगीत नहीं होते, वहां पागलों की संख्या अधिक होती है। सदियों से दबे-कुचले समाज ने, खास कर महिलाओं ने सामाजिक दंश/अपमान/घर-परिवार के तानों/जीवन संघषों से जुड़ी आपा-धापी को अभिव्यक्ति देने के लिए लोकगीतों का सहारा लिया। लोक संगीत में स्वर शब्दों से पूर्णतः मेल खाते हैं। शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत एक वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। संगीत के इन दोनों प्रकारों की विकसित दिशाएँ स्वतंत्र हैं तथा दोनों ही प्रौढ़ संगीत-शैलियों के दो विकसित, स्वरूप हैं। शास्त्रीय संगीत के प्रेरणा-स्रोत व्यक्ति एवं शास्त्र हैं, और शास्त्र के नियमों में बँधा हुआ शास्त्रीय संगीत स्वतंत्रतापूर्वक विचरने का अधिकारी नहीं है। लोकसंगीत का प्रेरणा-स्रोत जन-मानस है। उसका विकास और संचरण-क्षेत्र अधिक विस्तृत है। शास्त्रीय संगीत के प्रयोग और परीक्षण के लिए शास्त्र-ज्ञान की आवश्यकता है तथा विशिष्ट अभ्यास-क्रम से गुजरने की जरूरत है, परन्तु लोकसंगीत के प्रयोग के लिए किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है तथा लोकसंगीत सामुदायिक साधना का। संगीत -रचनाएँ जब प्रौढ़ता को प्राप्त होती हैं, तभी उन पर शास्त्र बनते हैं।

बीज शब्द

लोक, शास्त्रीय संगीत, प्रेम, उल्लास, विरह

लोक संगीत में 'लोक' और 'संगीत' दो अलग-अलग शब्द हैं। हिन्दी व्याकरण की दृष्टि से लोक संगीत एक समस्त पद है। 'लोक' तथा 'संगीत' के बीच तत्पुरुष कारक की षष्ठी विभक्ति 'कर' के लोप हो जाने से लोक संगीत शब्द समान रूप से व्यवंत होता है। इसलिए लोक संगीत शब्द का अर्थ हुआ 'लोक का संगीत'। लोक संगीत की सबसे सार्थक व्याख्या यही हो सकती हैं कि यह लोक या लोग या जनमानस का संगीत है। लोक द्वारा सृजित, लोक द्वारा रक्षित, लोकरंजन के लिए, लोक जिव्हाओं द्वारा गाया जाने वाला संगीत ही लोक संगीत होता है। लोक मानस की किसी भी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए स्वर, ताल, नृत्य के आश्रय से ही लोक संगीत का जन्म होता है। लोक संगीत की महिमा बताते हुए कहा गया है कि मनुष्य नौ प्रकार के रसों से प्रभावित होकर जब स्वाभाविक रूप से गाकर,

बजाकर अथवा नाचकर अपने भावों को प्रकट करता है, तो उसे लोक संगीत कहते हैं। वैदिक ऋचाओं की तरह लोक संगीत या लोकगीत अत्यंत प्राचीन एवं मानवीय संवेदनाओं के सहजतम उद्गार हैं। ये लेखनी द्वारा नहीं बल्कि लोक-जिह्वा का सहारा लेकर जन-मानस से निःसृत होकर आज तक जीवित रहे। लोक संगीत अत्यधिक सरल, परम स्वाभाविक और अनुभूतिमय है। लोक संगीत में प्रेम, ईर्ष्या, खुशी, उल्लास, तड़पन, सिरहन आदि सभी भावनाएं झलकती हैं। लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार, भाषा का बाहरी रूप चाहे एक दूसरे से भिन्न हो लेकिन उनकी अन्तर आत्मा में समानता पाई जाती है। लोक संगीत के माध्यम से आदि मानव की पौराणिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अवस्था का मूल्यांकन किया जा सकता है। लोक संगीत के माध्यम से ही आदि मानव के रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, भाषा इत्यादि का चित्रण मिलता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक मानव जीवन में हुई प्रगति का मूल्यांकन मिलता है। लोक संगीत दर्पण के समान है जिसके माध्यम से मानव की पुरातन सभ्यता संस्छति का मूल्यांकन साक्षात रूप से हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। लोक संगीत जनसाधरण का सरल, सहज, सुलभ तथा सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होने वाला संगीत है। लोक संगीत किसी प्रकार के कठोर नियमों के बन्धन को नहीं स्वीकारता। यह पूर्ण रूप से 'स्वान्तः सुखाय' आधरित होता है। लोक संगीत में स्वर शब्दों से पूर्णतः मेल खाते हैं। कुछ लोग लोक संगीत का अर्थ 'ग्राम्य' समझते हैं। वास्तव में लोक संगीत उसी को कहा जा सकता है जिसका स्वरूप लोकरंजनी है तथा किसी विशिष्ट जनसमुदाय की समझ तक ही जो मर्यादित नहीं है। वह जनसमाज की अन्तः स्थली को संगीत से संचित करने वाले ऐसे लोकसंगीत की उपादेयता प्रत्येक देश में विद्वानों के अमययन का विषय बनी हुई है। लोक संगीत द्वारा ही सामाजिक जीवन का कोष संचित हुआ है, जन साधारण के स्वप्न, आदर्श, उद्देश्य और कल्पना सब कुछ लोक संगीत में ही मुखरित होता है।

जर्मनी के प्रसिद्ध शास्त्राकर्ता श्री विलियम ग्रिन ने समुदाय वाद-सिद्धान्त में स्पष्ट किया है कि लोक काव्य का निर्माण अपने आप विशाल जन-समूह द्वारा होता है, किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं। लोक संगीत स्वतः सम्पूर्ण है।

लोक काव्य संग्राहक श्री राम नरेश ने लोक संगीत की प्रशंसा करते हुए कहा है कि 'जब गृह देवियां एकत्रित होकर पूरे आनन्द के साथ गीत गाती हैं, तब उन्हें सुनकर चराचर के प्राण तरंगित हो जाते हैं।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था कि लोकगीतों में धरती गाती है, पर्वत गाते हैं, नदियां गाती हैं, फसलें गाती हैं। उत्सव, मेले और अन्य अवसरों पर मधुर कंठों में लोक समूह लोकगीत गाते हैं।

स्व॰ रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में जैसे कोई नदी किसी घोर अंधकारमयी गुफा में से बहकर आती हो और किसी को उसके उद्गम का पता न हो, ठीक यही दशा लोकगीतों के बारे में विद्वान मनीषियों ने स्वीकारी है।

लोकगीत तो प्रकृति के उद्गार हैं। साहित्य की छंदबद्धता एवं अलंकारों से मुक्त रहकर ये मानवीय संवेदनाओं के संवाहक के रूप में माधुर्य प्रवाहित कर हमें तन्मयता के लोक में पहुंचा देते हैं। लोकगीतों के विषय, सामान्य मानव की सहज संवेदना से जुड़े हुए हैं। इन गीतों में प्राकृतिक सौंदर्य, सुख-दुःख और विभिन्न संस्कारों और जन्म-मृत्यु को बड़े ही हृदयस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। संगीतमयी प्रकृति जब गुनगुना उठती है लोकगीतों का स्फुरण हो उठना स्वाभाविक ही है। विभिन्न ऋतुओं के सहजतम प्रभाव से अनुप्राणित ये लोकगीत प्रकृति रस में लीन हो उठते हैं। बारह मासा, छैमासा तथा चौमासा गीत इस सत्यता को रेखांकित करने वाले सिद्ध होते हैं। पावसी संवेदनाओं ने तो इन गीतों में जादुई प्रभाव भर दिया है। पावस ऋतु में गाए जाने वाले कजरी, झूला, हिंडोला, आल्हा आदि इसके गुजर कर पूर्ण हुई है। महिलाओं ने लोकगीतों को ज़िन्दा रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। संस्था महत्वपूर्ण लोक कलाकारों

के अन्वेषण में भी लगी हुई है और उसने रसूल जैसे महत्वपूर्ण लोक कलाकार की खोज की है जो भिखारी ठाकुर के समकालीन एवं उन जैसे जरूरी कलाकार थे। लोक संगीत का मुख्य उद्देश्य जन मनोरंजन है। लोक संगीत में मानव जीवन की उसके उल्लास की, उसकी उमंगों की, उसकी करुणा की, उसके समस्त सुख-दुःख की कहानी चित्रित होती है। लोक जीवन में आने वाले प्रत्येक शुभ अवसर, उत्सव, त्यौहार आदि में लोक संगीत का मुख्य स्थान रहता है। उदाहरणार्थ विवाह के गीत, जन्म दिवस के गीत, धर्मिक गीत, कृषि सम्बन्धी गीत आदि। लोक संगीत किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा न गा बजाकर सामूहिक रूप में गाया, बजाया जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की परम्परा भरत मुनि के नाट्यशास्त्र और उससे पहले सामदेव के गायन तक जाती है। भरत मुनि द्वारा रचित भरत नाट्य शास्त्र, भारतीय संगीत के इतिहास का प्रथम लिखित प्रमाण माना जाता है। इसकी रचना के समय के बारे में कई मतभेद हैं। आज के भारतीय शास्त्रीय संगीत के कई पहलुओं का उल्लेख इस प्राचीन ग्रंथ में मिलता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के बाद मतंग मुनि की बृहद्देशी और शारंगदेव रचित संगीत रत्नाकर, ऐतिहासिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखे सात अध्यायों वाले इस ग्रंथ में संगीत व नृत्य का विस्तार का वर्णन है।

भारतीय संगीत के आधुनिक मनीषी स्थापित कर चुके हैं कि वैदिक काल से आरम्भ हुई भारतीय वाद्यों की यात्रा क्रमशः एक के बाद दूसरी विशेषता से इन यंत्रों को सँवारती गयी। एक-तंत्री वीणा ही त्रितंत्री बनी और सारिका युक्त होकर मध्य-काल के पूर्व किन्नरी वीणा के नाम से प्रसिद्ध हुई। मध्यकाल में यह यंत्र जंत्र कहलाने लगा जो बंगाल के कारीगरों द्वारा सहतार या सितार कहने लगे। इसी प्रकार सप्त तंत्री अथवा चित्रा-वीणा, सरोद कहलाने लगी। उत्तर भारत में मुगल राज्य ज्यादा फैला हुआ था जिस कारण उत्तर भारतीय संगीत पर मुस्लिम संस्कृति व इस्लाम का प्रभाव को ज्यादा महसूस किया गया। जबकि दक्षिण भारत में प्रचलित संगीत किसी प्रकार के मुस्लिम प्रभाव से अपना से अछूता रहा। बाद में सूफी आन्दोलन ने भी भारतीय संगीत पर अपना प्रभाव जमाया। आगे चलकर देश के विभिन्न हिस्सों में कई नई पद्धतियों व घरानों का जन्म हुआ। ब्रिटिश शासनकाल के दौरान कई नये वाद्य प्रचलन में आए पाश्चात्य संगीत। से भी भारतीय संगीत का परिचय हुआ। आमतौर पर हिन्दुस्तानी संगीत में इस्तेमाल किए गए उपकरणों में सितार, सिरोद, सुरबहार, ईसराज, वीणा, तानपूरा, बाँसुरी, शहनाई, सारंगी, वायलिन, संतूर, पखावज और तबला शामिल हैं। आमतौर पर कर्नाटक संगीत में इस्तेमाल किए जाने वाले उपकरणों में वीना, वीनू, गोत्वादम, हार्मोनियम, मदमंग, कजिर, घमत, नादाश्वर और वायलिन शामिल है। भारत में शास्त्रीय संगीत, संगीत का एक रूप या अंग है।

शास्त्रीय संगीत की विशेषता यह है कि यह ध्वनि प्रधान होता है, शब्द प्रधान नहीं। इसमें ध्वनि या संगीत को शब्द या गीत के भावार्थ कि अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाता है। भारत में शास्त्रीय संगीत का इतिहास वैदिक काल से शुरू होता है। सामवेद संगीत पर आधारित दुनिया की पहली पुस्तक है। इसके बाद भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी शास्त्रीय संगीत का वर्णन है। नाट्यशास्त्र के बाद शारंगदेव के संगीत रत्नाकार में भी शास्त्रीय संगीत का वर्णन है। इसके अलावा दत्तीयम और बृहददेसी में भी भारतीय शास्त्रीय संगीत के बारें में वर्णन किया गया है।

भारत में शास्त्रीय संगीत की आज दो पद्धतियाँ हैं।

1. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत
2. कर्नाटक संगीत

1. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत :

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत उत्तर भारत में प्रचलित हुआ। यह संगीत हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों में

प्रचलित हुआ। इसमें हिन्दू संगीतकारों को पंडित जबकि मुस्लिम संगीतकारों को उस्ताद कहा जाता है। यह मंदिरों और राजाओं के दरबारों में काफी प्रचलित हुआ। भक्ति आंदोलन और सूफी आंदोलन के समय काफी प्रसिद्ध हुआ। इसमें 7 स्वर होते हैं - सा (षडज),रे (ऋषभ),गा (गांधार),मा (माध्यम),पा (पंचम),धा (धेवत),नी (निषाद)।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की विधाएं :

1. **ध्रुपद :** यह हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का हिन्दुस्तान शास्त्रीय संगीत के प्रमुख रूप हैं एक प्रचीन रूप है। यह एक ब्रजभाषा प्रधान संगीत है।
2. **ख्याल :** यह हिन्दुस्तानी संगीत का रूप है। इसमें राजस्तुति, नायिका वर्णन और श्रृंगार रस होते हैं।
3. **धमार :** यह भगवान कृष्ण से सम्बन्धित है। इसका गायन मुख्य रूप से होली पर होता है।
4. **ठुमरी :** यह भावप्रधान और स्वतंत्र संगीत है। यह उप-शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत आता है।
5. **टप्पा :** यह ज्यादातर पंजाब क्षेत्र में गाया जाता है इसके बोल पंजाबी भाषा में होते हैं परंतु यह भी ठुमरी की भांति उप-शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत आता है।

2. कर्नाटक शास्त्रीय संगीत :

इसका विकास मुख्य रूप से दक्षिण भारत में हुआ। यह आंध्रा प्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडू और श्रीलंका में मुख्य रूप से प्रसिद्ध है। भारत में प्राचीन काल में शास्त्रीय संगीत भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर आधारित था। किन्तु 12वीं सदी में इस्लामिक आक्रमणों के प्रभाव में भारत में शास्त्रीय संगीत दो भागों में बंट गया। पहला हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत और दूसरा कर्नाटक संगीत। कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के अंग- श्रुति, स्वर, राग और ताल कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के प्रमुख अंग हैं कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के रूप - कर्नाटक शास्त्रीय संगीत के 3 रूप प्रमुख हैं -

1. **वर्णम :** इसके तीन रूप होते हैं- पल्लवी, अनुपल्लवी।
2. **जावाली :** यह प्रेम प्रधान गीतों के लिए प्रसिद्ध है।
3. **तिल्लाना :** इसमें भक्तिगीतों कि प्रधानता मुख्य होती है। त्यागराज, मुथुस्वामी दीक्षितार, श्यामा शास्त्री कर्नाटक संगीत के प्रमुख संगीतज्ञ रहे हैं।

लोकसंगीत का स्वरूप सहज, स्वच्छन्द एवं लयगर्भित होता है, शास्त्रीय संगीत जटिल एवं शास्त्रोक्त होता है, किन्तु सांगीतिक तत्वों के आधार पर दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध की अनुभूति विद्यमान है। लोकधुनों में शास्त्रोक्त रागें छुपी हुई हैं। शास्त्रीय नृत्यों में लोक तत्वों का व्यापक प्रभाव है। शास्त्रीय पद्धति से गाए जाने वाले अनेक गीतों में लोक बोली के शब्द होते हैं, ऐसे ही शब्द लोकगीतों के आधार स्तम्भ होते हैं। लोकसंगीत में स्वर व ताल रचना का सीधा महत्व नहीं होता है, किन्तु रचनाकार शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से रचना की युक्ति का निर्माण कर लेता है, जिससे दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध उजागर होता है। तबला शास्त्रीय संगीत का प्रधान वाद्य है, किन्तु लोक संगीतज्ञ भी इसका उपयोग पूर्ण मनोयोग से करते हैं जो शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत के पारस्परिक सम्बन्ध का परिचायक है। शास्त्रीय संगीत में कलात्मकता है लोक संगीत की कला में सर्वग्राहिता है। पंडवानी गायकी में लोकधुनों की मात्राओं में बंधकर शास्त्रीयता का रूप प्रदान करने की कोशिश की जाती है।

झाडूराम देवांगन के पंडवानी गायन में इस तरह की पारस्परिकता का अनुभव शास्त्रीय संगीत के मनीषियों ने बखूबी परखा है। उनका कहना है कि झाराम देवांगन मात्राओं का प्रयोग ठीक उसी प्रकार करते हैं, जिस तरह पक्की गायकी में प्रयोग होता है। झाडूराम देवांगन शास्त्रीय संगीतज्ञ नहीं हैं, फिर भी अनजाने में वे शास्त्रीय पद्धति का उपयोग पंडवानी

गायन में यत्र-तत्र कर लेते हैं, यही लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध है। लोकसंगीत में स्वर एवं लय रचना की प्रधानता नहीं होती है, किंतु रचना करने योग्य परिस्थिति अवश्य होती है। तभी तो शास्त्रीय संगीत के ज्ञाता किसी भी लोकगीत की स्वर एवं लय रचना (नाटेशन्स) करने में सफल हो जाते हैं। यह लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत का आन्तरिक पारस्परिक सम्बन्ध है। लोकसंगीत में भी स्वर एवं लय विशेष पर ठहराव, ठहराव का उचित समय, न्यास, स्वर संगति आदि समाहित होते हैं। आरोह-अवरोह का उपयुक्त सामंजस्य होता है जो दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराता है। आकर्षण, सम्मोहन, विविधता, सौंदर्य, रोचकता एवं रंजकता आदि गुण संगीत के प्राथमिक तत्व हैं जो दोनों प्रकार के संगीत में विद्यमान होते हैं, इस दृष्टि से भी दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध हैं। लोकगीतों के स्वर-चयन में शास्त्रोक्त राग निर्धारण न पहले ही था और न आज ही है। उनमें केवल रागों का आभास मात्र रहता है। उसी आभास के आधार पर शास्त्रीय संगीत का विस्तार पक्ष सक्रिय होता है। मूल स्वर-चयन को स्वर-विस्तार के समय वादी, संवादी, विवादी, आरोही, अवरोही आदि के कड़े नियमों में बाँधकर शास्त्रकारों ने उन्हें विशिष्ट दशा दी तथा उन्हें रागों के घेरे में बाँध दिया ।

निष्कर्ष :

शास्त्रीय संगीत के बहुत सारे राग है जो लोक गीतों के धुन द्वारा सृजन किये गए हैं जैसे राग पहाड़ी, राग मांड, राग वृंदावनी सारंग, राग काफी इत्यादि। वृंदावनी सारंग के बारे में कहा जाता है कि यह उत्तर प्रदेश के वृंदावन नामक गांव से यह धुन लिया गया है, राधा कृष्ण के अनेक गीतों का वर्णन इस धुन के माध्यम से मिलता है। राग पहाड़ी को पहाड़ी क्षेत्रों में गाये बजाये जाने धुनो के माध्यम से लिया गया है। राजस्थान का प्रसिद्ध लोक गीत 'केसरिया बालमा पधारो म्हारे देश' यह मांड के धुन में पिरोया गया है। राग काफी में भी अनेक लोकगीत सुनने को मिलते हैं जिनमें होरी का वर्णन मिलता है जोकि अत्यंत प्राचीन है। ऐसे अनेकों अनेक शास्त्रीय संगीत के राग हैं जो लोकगीतों के धुनो से लिए गए हैं। यह परम सत्य है कि सर्वप्रथम भाषा की उत्पत्ति हुई उसके बाद ही व्याकरण शास्त्र इत्यादि बनाए गए वैसे ही लोकगीत संगीत का आधार है सर्वप्रथम इसकी उत्पत्ति हुई इसके बाद ही शास्त्रीय संगीत की संकल्पना की गई एवं इसके आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि सभी प्रकार के संगीत की जननी लोकगीत ही है ऐसा मानना ही उचित रहेगा। दोनों के अंतर्संबंधों के लिए यह अतिशयोक्ति नहीं होगी कि लोकगीत को संगीत की प्रारंभिक अवस्था एवं शास्त्रीय संगीत को संगीत की उत्कृष्ट अवस्था कह सकते हैं।

संदर्भ :

1. बसंत, संगीत विशारद (पृष्ठ संख्या-12)।
2. श्रीवास्तव, वीणा : भारतीय लोक संगीत, पृष्ठ संख्या- 113, 115, 116
3. वैश्विक लोक संस्कृति : परंपरा और प्रतिबिंब, सेमिनार, अक्टूबर 2018 (का॰ हिं॰ वि॰ वाराणसी)
4. उपाध्याय, कृष्ण देव : लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ-334
5. गर्ग, लक्ष्मी नारायण : निबंध संगीत, पृष्ठ संख्या 97
6. शर्मा, डॉ॰ मनमोहन : भारतीय संस्कृति और साहित्य, चित्रगुप्त प्रकाशन, अजमेर, 1967 पृष्ठ-144
7. कपूर, मस्त राम : लोक संस्कृति एवं साहित्य।

'पंकिल' के काव्य में संगीत-तत्व

आमोद प्रकाश चतुर्वेदी
असि॰ प्रो॰ हिन्दी
ग्राम भारती महाविद्यालय रामगढ़, कैमूर, बिहार

सारांश

कवि प्रेम नारायण पाण्डेय 'पंकिल' बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं। इनकी विविध रचनाओं में हम लोकतत्व, प्रकृति, भक्ति आदि का समावेश पाते हैं। प्रस्तुत आलेख में इनकी रचनाओं में संगीत-तत्व की उपस्थिति को केंद्र में रखा गया है। साथ ही यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि वर्तमान समय में जब कविता गद्यात्मक होती जा रही है, पंकिल ने किस प्रकार लय, तुक, यति-गति आदि कारकों को अपनी कविता में पिरोया है। इनकी रचनायें लोक के कितनी निकट हैं, इसका पता इनके लिखे सोहर, कजरी, चैता आदि विधाओं की रचनाओं से चलता है।

बीज शब्द

गाथा, लोक, संगीततत्व, चैता, कजरी, सोहर

विश्व की सभी आदिम सभ्यताओं में मनोरंजन अथवा धार्मिक अनुष्ठानों के एक अंग के रूप में संगीत का अस्तित्व रहा है। भारतीय समाज में तो प्राचीनकाल से ही संगीत की एक बहुत सुनियोजित व्यवस्था रही है। चौसठ विद्याओं में संगीत भी एक विद्या है। संगीत के दो रूप प्रचलित हैं। एक है शास्त्रीय संगीत और दूसरा लोक-संगीत। हमारे यहाँ लोक-संगीत की एक बहुत ही समृद्ध परम्परा रही है। जहाँ एक ओर शास्त्रीय संगीत कई प्रकार के जटिल नियमों में निबद्ध होता है वहीं दूसरी ओर लोक-संगीत के नियम बहुत बाध्यकारी नहीं होते हैं। लोक संगीतों के माध्यम से लोक कंठ फूटता है। आजकल जिस प्रकार पुत्र के जन्म लेने, उसके यज्ञोपवीत संस्कार और विवाह के अवसर पर गीत गाए जाने की परम्परा है ठीक उसी प्रकार वैदिक समाज में भी इन अवसरों पर सुंदर और मनोहर गीत गाने का उल्लेख आर्ष ग्रंथों में मिलता है। वहाँ इन गीतों को 'गाथा' कहा जाता है।[1]

प्राचीन वैदिक साहित्य में गाथाओं का उल्लेख जगह-जगह मिलता है। हम इन्हीं गाथाओं को लोकगीतों का पूर्वज मान सकते हैं क्योंकि गाथा शब्द का अर्थ ही है गाना या गीत और इसी अर्थ में अनेक वैदिक मंत्रों में इनका उल्लेख होता है। आश्वलायन गृह्य-सूत्र में एक अनुष्ठान विशेष के समय वीणा के साथ गाथा गाये जाने की प्रथा का उल्लेख मिलता है।[2] यह बात ध्यान देने की है कि कविता का मुख्य आनंद उसके अर्थ से निष्पन्न होता है जबकि संगीत के मूल में उसका नाद तत्व विद्यमान होता है, किंतु कविता में छंद, लय, तुक, यति-गति जैसे कुछ गुण उसे संगीत के लिये अनुकूल बनाते हैं। 'पंकिल' की कविता का एक प्रधान गुण है संगीत-तत्व। खण्डकाव्यों के इतर भी 'पंकिल' के स्फुट-काव्य की संगीतमय प्रस्तुति अनेक स्थानीय विद्यालयों-महाविद्यालयों के मंचों पर होती रही है। शैक्षणिक परिसरों में, अनेक आयोजनों में संगीतमय प्रस्तुति हेतु प्रियजनों के आग्रह पर

इन्होंने गीतों, जिनमें भोजपुरी लोकगीतों तथा क्रियात्मक गीतों की संख्या अधिक है, की रचना की है। चूँकि मंचीय प्रस्तुति को सरस बनाने में संगीत की प्रमुख भूमिका होती है, इस कारण भी इनकी रचनाओं में गेयता अनिवार्य रूप से उपस्थित रहती है और यह तत्व 'पंकिल' की लगभग सभी रचनाओं में पाया जाता है। भले ही उन्होंने स्थापित छंदों का उल्लेख न किया हो लेकिन वे जहाँ भी पद धरते हैं उनमें एक सधे हुए पैटर्न का पालन करते हैं। भोजपुरी और खड़ी बोली की सभी मौलिक रचनाओं में यह पैटर्न दिखाई पड़ता है। जैसे उनके गीतिकाव्य 'बावरिया बरसाने वाली' के सभी पद आठ-आठ पंक्तियों के हैं और दो-दो पंक्तियों का तुक मिलान किया गया है? और इसके सभी एक सौ इक्यावन पदों में प्रत्येक पद की आठवीं पंक्ति यही है- 'क्या प्राण निकलने पर आओगे जीवन वन के वनमाली'। इसका प्रयोग टेक के रूप में किया जाता है। उदाहरण स्वरूप -

कैसे विस्मृत हो गया तुम्हें प्रिय! केलि-कुंज कालिन्दी-तट।

कैसे भूले गोपालों के साँवलिया! वचन सुधा लटपट।

कैसे भूली पछाड़ खा गिरती गैया हा! यशुमति मैया।

राधा के आँसू भूल गये कैसे बलदाऊ के भैया।

कैसे भूली कदम्ब-पादप की छाया अहो नन्दलाला।

बेचती 'कृष्ण लो कृष्ण' टेर दधि भूली क्या अहीर-बाला।

दिन गिनते अँगुरी घिसी, विकल बावरिया बरसाने वाली ।

क्या प्राण निकलने पर आओगे जीवन-वन के वनमाली?[3]

यह कम आश्चर्य का विषय नहीं है कि आधुनिक हिंदी काव्य जो निराला के समय ही छंद के बंध को तोड़ने की घोषणा कर चुका है और अकविता जैसे पड़ाव पार कर हाइकू तक को नकार चुका है, ऐसे समय भी 'पंकिल' कविताई की पुरानी राह के कायल हैं। उनकी कविता आज के युग में छायावादी स्वर की मधुर बाँसुरी की याद दिलाती है। छायावादी कविता का एक मुख्य गुण उसका संगीत-तत्व है। कहना न होगा कि हम जैसे-जैसे तकनीकी रूप से आगे बढ़ते जा रहे हैं, कविता की रचना कठिन होती चली जा रही है। उसमें यांत्रिकता आने लगी है। निराला के छंद-बंध को तोड़ डालने की घोषणा के बाद भी उनकी अधिकांश कवितायें कई न्यारे पैटर्नों का प्रयोग करती हैं। और यह विशिष्ट पैटर्न ही तो छंद-विधान है। वस्तुतः निराला के मुक्त छंद स्वच्छंद हैं। उनमें एक लय है। लय संगीत का प्रधान लक्षण है। यह लय 'पंकिल' की रचनाओं में भी देखी जा सकती है। कवित्त और सवैया जैसे छंद-बद्ध रचनाओं में तो गेयता उनका अभिलाक्षणिक गुण हैं किंतु उनसे इतर भी 'पंकिल' जहाँ कहीं भी अपनी लेखनी चलाते हैं, एक अनूठा संगीत रच जाते हैं। उनके एक कवित्त और एक सवैया की रचना देखिये -

सवैया :

पूरनमासी के मंजु मयंक सी आनन की जेहि के सुघराई

नैननि कज्जल रेख सुधा अधरान पै हीरक हास सुहाई

सोभत सिन्दुर कुंकुम भाल कपोलन ते छलकै अरुनाई

कामिनि कामविनासिनि की पिय कि संग मोरे हिये बसु माई[4]

कवित्त :

बाजत खटाखट खट लटकत गल मुण्डमाल

नाटक विकराल काल खेलति खल खण्डिका

टप टप टप टपकत हुताषन रसना सो रकत

लहर लहर लहरति सिर उर्ध्वकेश झण्डिका

भैरवि भयावनि भयहारिनि भवभामिनि भली

सब सुख दात्री धात्री धर्मध्वज दण्डिका

संसय सोक समनी शंभु रमनी पुत्र 'पंकिल' को

चरन सरन दो भवानी रणचण्डिका[5]

लोक-तत्व से सम्पृक्त उनकी कवितायें गीति-तत्व से परिपुष्ट हैं-

अंजलि भरि धोवै उदधि अपार हो, अरुण पद पंकज?

केरल कुंज चनन केरि गँछिया/तेहि छुइ गमकै ला मलय बयार हो, अरुण पद पंकज?

नरमद सोन जमुन रावी सतलज/गंगा लहरि डारै हीरक हार हो, अरुण पद पंकज?

नेह सनेहवा पवन घन पिक आली/हंसा उड़ैला नभ पँखिया पसार हो, अरुण पद पंकज?

रजत शिखर हिमगिरि नभ चूमत/भारत जननि क मुकुट सिंगार हो, अरुण पद पंकज?

बंग कलिंग द्रविड़ कुरु उत्कल/अवध असम ब्रज अँचरा क तार हो, अरुण पद पंकज?

स्वर्णिम चिरई ई देव दुलरुई/बोल हजारन जयजयकार हो, अरुण पद पंकज?[6]

यह गेयता उनकी रचनाओं को लोक के एकदम निकट लाकर खड़ा कर देती है -

रितुपति रँगैला सुरंग रंग चुनरीध् वेदवा सँवारत केश मोरि सजनी

पद रज चुमलैं सगर रघु विक्रम/शिवि हरिचंद नरेश मोरि सजनी

मरि मिटि जइबै तजब नाहिं 'पंकिल'/धनि-धनि भारत देस मोरि सजनी[7]

हिंदी-भोजपुरी पट्टी का लोक-कण्ठ लोकगीतों की जिन विधाओं में गाने का अभ्यस्त है, पंकिल' ने उनमें प्रचुर साहित्य दिया है। क्या कजरी! क्या फाग क्या! और क्या चैता! सभी में इन्होंने अपनी सरस लेखनी चलायी है। उनकी विभिन्न गीतिमय शैलियों का निम्न प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है।

चैता/चैती :

सनातनी परंपरा का पहला महीना होता है चैत्र। चैत के इसी मनभावन महीने में चैता गाया जाता है। चैत महीने में गाए जाने के कारण ही इसका नाम चैता पड़ा है। बसंत में चैता गाना और सुनना दोनों आह्लादकारी होते हैं। चैती में मधुरता, सरसता और कोमलता का स्वाभाविक परिपाक होता है। चैती का वर्ण्य-विषय श्रृंगार से लेकर करुण तक हो सकता है। वैसे तो भोजपुरी साहित्य में या कहें कि भोजपुरी लोक-कंठ में चैता के अलावा अन्य कई विधायें हैं किंतु लोकगीतों की परंपरा में चैता को सर्वोपरि माना जाता है। चैता उसमें भाग लेने वालों मनुष्यों की संख्या के आधार पर दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक है साधारण चैता जिसमें केवल एक आदमी गाता है और दूसरा है झलकुटिया चैता जिसमें कई जन एक साथ झाल बजाकर चैता गाते हैं। ढोलक और झाल-मजीरे चैता के मुख्य वाद्य-यंत्र हैं फिर भी झाल का विशेष महत्व है। सहभागियों की संख्या और अधिक होने पर गाने वाले दो दल बना लेते हैं और बारी-बारी से एक के बाद दूसरी पंक्ति गाते हैं। बीच-बीच में टेक चलती रहती है। अधिकांश चैता में पंक्तियों के अंत में 'हो रामा' की टेक होती है, किंतु यह कोई निश्चित नियम नहीं है। चैता धीरे-धीरे आरम्भ होकर गति पकड़ता है और उसी अनुसार ढोलक और झाल की गति तेज होती जाती है। शीर्ष पर जाते-जाते गवैये जोश में भर कर घुटनों के बल खड़े होकर झाल कूटने लगते हैं, इसी कारण इसे झलकुटिया चैता भी कहते हैं। साहित्य और संगीत दोनों दृष्टियों से देखने पर पता चलता है कि 'पंकिल' के लिखे चैता कहीं से भी कम नहीं हैं। भाषा, भाव और गेयता तीनों में अद्भुत्। 'पंकिल' ने कई सरस चैता लिखे हैं। इनके अधिसंख्य चैता श्रृंगार रस से सम्पृक्त हैं। प्रस्तुत चैता में कृष्ण की बाँसुरी सुनकर गोपियों की क्या मनोदशा होती है, यही बताया गया है -

आधी आधी रतिया बँसुरिया हो रामा टेरलैं मोहनवाँ।

टह टह अँजोरिया में सुतलीं अंगनवाँ,

बहै रसवंती बयरिया हो रामाए टेरलैं मोहनवाँ।
औचट सजनी उचटि गइलीं निनियाँ
फर फर फहरै अँचरवा हो रामा टेरलैं मोहनवाँ
उमगै लगल अलसाइल जवनियाँ
पोरे-पोरे टिसलीं सरीरिया हो रामा टेरलैं मोहनवाँ
अस मन करै उड़ि जाईं ओहि देसवा
रसमयि जमुना कगरिया हो रामा टेरलैं मोहनवाँ
बाँसिया बजवलैं कदम चढ़ सँवरू
सखि निरमोहिया सँवरिया हो रामा टेरलैं मोहनवाँ[8]

(मोहन आधी रात को बाँसुरी पर तान छेड़ देते हैं, एकदम उजाली रात में मैं आँगन में सोई हुई हूँ, रसवंती बयार चल रही है, तान सुनकर नींद उचट गयी है, बयार से मेरा आँचल फहराने लगा है, मेरा अलसाया यौवन उमगने लगा है, पोर-पोर में टीस उठने लगी है, ऐसा मन हो रहा कि उड़कर उस देस पहुँच जाऊँ जहाँ रसमय यमुना के किनारे कदम्ब पर चढ़ वह निरमोही सावँरियाँ बाँसुरी बजा रहा है।)

प्रस्तुत रचना चैता के सभी लक्षणों से युक्त होने के कारण पूर्णतः चैता-शैली में गेय हैं। जैसा हम पहले कह आये हैं, चैता की अधिकांशतः टेक 'हो रामा' ही रहती है किंतु इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। 'पंकिल' उक्त चैता में 'टेरलैं मोहनवा' की टेक रखते हैं।

कजरी :

सावन के महीने में भोजपुरी और अवध प्रांतों में जो विशेष गीत गाए जाते हैं उन्हें कजरी या कजली कहते हैं। यह गीत बड़े मनभावन होते हैं। ऐसे समय में जब वसुंधरा का हरा-भरा वैभव बादलों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता सा प्रतीत होता है, मानों उसी कृतज्ञता के शब्द कजरी के रूप में लोक-कण्ठ से फूटते हैं। बरखा की फुहारों का बार-बार आगमन एक सुखद अनुभूति प्रदान करता है। वर्षा-ऋतु में चारों ओर एक विशेष प्रकार की मधुरिमा छा जाती है। लोक के सुर में सुर मिलाते हुये प्रकृति के लाडले 'पंकिल' ने अनेक सरस कजलियाँ रची हैं। कजली या कजरी का नामकरण कैसे हुआ यह तो ठीक-ठीक नहीं पता परंतु हो सकता है आकाश में काले-कजरारे बादलों के कारण ही इसका नाम कजरी पड़ गया हो। गांवों में सावन के महीने में किसी बाग में या तालाब के किनारे वृक्षों से झूले लटकाए जाते हैं जिसमें गांव के पुरुष और स्त्रियां झूला झूलते हैं और उसी झूलने की मस्ती में जो गीत गाए जाते हैं उन्हें हम कजरी कहते हैं। ऐसा नहीं है कि हम कोई भी गीत गाने लगे तो उसे कजरी मान लिया जायेगा। कजरी की एक विशेष संरचना होती है। चैता की तरह ही कजरी में भी दो दल बनाये जा सकते हैं जो बारी-बारी से गाते और टेरी भरते हैं। कजरी में तुक का विशेष महत्त्व है। सामान्यतया पंक्तियों का समापन 'ए हरी' अथवा 'ना' से होता है परंतु इसके अपवाद भी देखने को मिलते हैं। 'पंकिल' ने प्रेमघन और भारतेंदु की ही भाँति साहित्यिक कजरियाँ लिखी हैं -

आज मिलल्ैं श्याम सावनी विहान में, माधवी लतान में ना।

नियरे कनखी से बोलवलैं सिर पै पीतपट ओढ़वलैं

रस के बतिया कहलैं सट के सखी कान में, माधवी लतान में ना।

बोलैं मधुर-मधुर बयना मोहै तरुन अरुन नयना

जइसे कमल खिलल पुरनिमा के चान में, माधवी लतान में ना।

गर में डार दिहलैं बाहीं नाहीं मुंह से निकसे नाहीं
कहली फेर मिलबै जमुना नहान में, माधवी लतान में ना।
हमरे ओठवा पै नंदलाल ओठवा रखले लाल लाल
सखी गुदगुदी समाइ गइल प्रान में, माधवी लतान में ना।[9]

कजरी में श्रृंगार, करुण, वात्सल्य और शांत रसों का उद्रेक हो सकता है। कभी-कभी लीला-गायन में भी इसकी सहायता ली जा सकती है। 'पंकिल' की अधिकांश कजरियों का केंद्रीय भाव रति

है और इसमें राधा-कृष्ण की केलि अथवा नायक-नायिका के संयोग-वियोग का वर्णन है -

अइलैं ना सखि जीवन धनवाँ बीतल जात सवनवाँ ना
धाये धन कारे-कजरारे झुरकै मलय पवनवाँ ना
सिहरै मन गदराइल तनवाँ बीतल जात सवनवाँ ना
पिउ-पिउ रटै मयूर पपिहरा सूनो लगै भवनवाँ ना
हंसा अकसर करी गवनवाँ बीतल जात सवनवाँ ना[10]

कजरी में इसकी टेक के आधार पर कजरी के कई भेद किये जा सकते हैं। गायन के आधार पर भी कजरी के अनेक प्रकार हैं। विभिन्न राग-रागिनियों में कजरी-गायन की अक्षुण्ण परम्परा चली आ रही है। कजरी गायन में वाराणसीस्थ पंडित छन्नूलाल मिश्र और विदुषी गिरिजा देवी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कजरी के विभिन्न प्रकारों में मिर्जापुरी कजरी का विशेष महत्व है। इस आधार पर देंखे तो हम पाते हैं कि 'पंकिल' की कजरी में मिर्जापुरी-कजरी का स्वरूप अधिक मिलता है। उदाहरण -

श्याम हँसलैं बोललैं बइठके नजदीक सखी
बड़ा लागे नीक सखी ना?
चमकै लिलरा जस अँजोरिया, दमकै बिजुरी अस दंतुरिया
मोहै अधरन की लाल-लाल लीक सखी
बड़ा लागे नीक सखी ना?
बड़री अँखिया कै पुतरिया, मुख पै लटकै लट लटुरिया
जइसे धाये मधु कै लोभी चंचरीक सखी
बड़ा लागे नीक सखी ना?
धइके दूनों मोर कलइया, लगलैं थिरकै सखि कन्हइया
जइसे नाचै बन क मोरवा ठीक ठीक सखी
बड़ा लागे नीक सखी ना?
थामि अँचरा कै किनारा, कइलैं अँखियाँ से इशारा
सेन्हुरा लेके चुपके मँगिया दिहलैं टीक सखी
बड़ा लागे नीक सखी ना?
मुहँवा चूमि चूमि आली 'पंकिल' ओठवा पै बनमाली
रखलैं अधर नंदनंदन सटीक सखी
बड़ा लागे नीक सखी ना?[11]

कजरी लोकगीत की विधा है तथापि इसका गायन शास्त्रीय संगीत की परिपटी के अनुसार भी होता है।

बिदेसिया/पूरबी :

बिहार के छपरा-जनपद निवासी लोककवि भिखारी ठाकुर के नाटक 'बिदेसिया' की प्रयेक काव्य-पंक्ति के अंत में 'बिदेसिया' आने के कारण भोजपुरी की यह शैली बिदेसिया के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। इसका एक उदाहरण देखें -

दिनवाँ बीते ला सइयाँ बटिया जोहत तोर
रतिया बितेली जागि-जागि रे बिदेसिया।
घारि-राति गइले पहर रात गइले से धधके
करेजबा में आगि रे बिदेसिया?[12]

यह शैली इतनी लोकप्रिय हुई कि भोजपुरी में अनेक 'बिदेसिया' लिखे गये। 'पंकिल' ने कहीं स्पष्टतः यह उल्लेख तो नहीं किया है कि वे बिदेसिया से कितने प्रभावित थे या उनकी रचनाओं पर बिदेसिया का कितना प्रभाव पड़ा है किंतु इनकी कुछ रचनायें बिदेसिया के ढर्रे पर लिखीं अवश्य जान पड़ती हैं। देखें-

पुलकित रजनी मयंक कुमुदिनी क चूमत
ललित कपोल मोरि सखिया
मलय मरुत निरमोहिया लहरि आली पुनि-पुनि परसत लोल मोरि सखिया
लवँगलता तन तिरिया विरहिनी अँसुआ भीजावै निचोल मोरि सखिया
उमड़त बदरा निरखि नभ बिछपित अटपट बोलत बोल मोरि सखिया[13]

हाँ! इस प्रकार की अन्य रचनाओं में बिदेसिया की जगह कहीं 'सहेलिया' तो कहीं 'सखिया' जैसे

शब्द 'बिदेसिया' से तुक मिलाते-से प्रतीत होते हैं तो कहीं-कहीं इस प्रकार के शब्दों का सर्वथा लोप रहता है। ऐसे में ये रचनायें कुछ भिन्न रूप ग्रहण कर लेती हैं। जहाँ 'बिदेसिया' के हमवजन शब्द न लगाये गये हों वहाँ यह शैली बहुत कुछ 'महेंदर मिसिर' के 'पूरबी' से मिलती है। किंतु यह मिलान ठीक-ठीक ऐसा नहीं होता कि उसी परिपाटी की रचना मान लिया जाय। वस्तुतः यह भिखारी ठाकुर और महेंदर मिसिर की शैलियों से कुछ-कुछ प्रभावित 'पंकिल' की अपनी प्रतिभा है। पंक्तियाँ 'बिदेसिया' और 'पूरबी' की पंक्तियों से छोटी होती है किंतु इसकी कमी की पूर्ति लम्बी तान से की जाती है। इस प्रकार की रचना की प्रस्तुति बड़ी मनोहर होती है। मंच पर दो दल बना लिये जाते हैं- और बारी-बारे से एक के बाद दूसरी पंक्ति गायी जाती है।

धवल सिखर जँह मानस सर तट हंसा करत कलोल रे

गुंजत मधुप मयनवाँ सुगनवाँ विहरैं हरित पट खोल रे

मृदुल सुमन मुख अविरल चूमत मलय मरुत जँह लोल रे

अस सखि जगमणि भारत धरनी उमगि-उमगि जय बोल रे[14]

यहाँ हम देखते हैं कि 'पंकिल' की रचनाओं में शब्द-संयोजन के साथ-साथ संगीतात्मकता का अद्भुत मणिकाञ्चन संयोग हुआ है।

सोहर :

पुत्र-जन्म के अवसर पर जो मंगल गीत गाये जाते हैं, उन्हें सोहर कहा जाता है। वैसे तो भोजपुरी सोहर में तुक का कोई निश्चित विधान तो नहीं है किंतु गोस्वामी तुलसीदास जी के रामलला नहछू में जो सोहर मिलते हैं उनमें तुक मिलान हुआ है और प्रत्येक पद में बराबर मात्रायें पायी जाती हैं। 'पंकिल' के सोहर इसी परम्परा का पालन करते हैं। उनमें भी तुक मिलान आवश्यक रूप से उपस्थित है और पदों में मात्राओं की संख्या बराबर हो, इसका ध्यान रखा गया है। यद्यपि सोहर का गायन पुत्र जन्म के अवसर पर होता है तथापि उसके वर्ण्य विषयों में विविधता पायी जाती है। 'पंकिल' के सोहर राष्ट्रीय चेतना, करुणा और शृंगार विशेषतः वियोग-शृंगार से आच्छदित हैं-

सखि आइल मधुऋतु आइल खुशिया छिटाइल हो।
आली कंत न अइलैं तै कइसे बसंत मनाइब हो।
बैरिनि कुहुँकै कोइलिया कतेक समुझाइब हो।
सखि बगिया निरखि रसवंती पगल होइ जाइब हो।
जाती की बेरियाँ कहत गइलैं तोहै ना भुलाइब हो।
आली हमहूँ पयोधर दूतवा के अलका पठाइब हो
रानी रखबै करेजवा की ओट पलकिया छिपाइब हो?
जनि रोआ अँखिया कै पुतरी तोहैं न बिसराइब हो
सखि चढ़तै फगुनवाँ कै मास बहुरि हम आइब हो?
हम नाहिं धनि निरमोहिया कि बिरहे जराइब हो
सखि सवने के मेघे तोहैं मघवा के जाड़ जुड़ाइब हो?
बहियाँ के पलना में झुर-झुर बेनियाँ डोलाइब हो
रानी तोरि निनिया सूतब जागब कल नहिं पाइब हो?
सपना भइल सुख कइसे करेज मनाइब हो
आली केकरे गरे लपटाइब बिपती बताइब हो?
'पंकिल' कहवाँ से सिखि गइलैं रोवाँ डहकाइब हो
सखि अब कहिं कुइयाँ पतलवा में बुड़ि धँसि जाइब हो?[15]

हम पाते हैं कि आज के समय में कविता का स्वरूप जबकि गद्यात्मक हो गया है, पंकिल की रचनाओं में लय और तुक विधान मिलता है। इससे उनकी कविता में संगीतात्मकता का पूर्ण परिपाक पाया जाता है।

सन्दर्भ :

1. उपाध्याय, कृष्णदेव : भोजपुरी लोकसाहित्य, अध्याय-3, पृष्ठ सं॰ 111

2. उपाध्याय, कृष्णदेव : भोजपुरी लोकसाहित्य, अध्याय-3, पृष्ठ सं॰ 113
3. 'पंकिल' बा : वरिया बरसाने वाली, पद सं॰ 132 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
4. 'पंकिल' : शैलबाला शतक पद सं॰ 41 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
5. 'पंकिल' : शैलबाला शतक पद सं॰ 7 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
6. 'पंकिल' : चोंचिया पसरले चिंहुँक बोले पपिहा, पृ॰ सं॰-40 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
7. 'पंकिल' : चोंचिया पसरले चिंहुँक बोले पपिहा, पृ॰ सं॰-42 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
8. 'पंकिल' : मिला नहीं सइयाँ क गाँव रे, पृ॰ सं॰-95 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
9. 'पंकिल' : मिला नहीं सइयाँ क गाँव रे, पृ॰ सं॰-25 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
10. 'पंकिल' : चोंचिया पसरले चिंहुँक बोले पपिहा, पृ॰ सं॰-52 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
11. 'पंकिल' : मिला नहीं सइयाँ क गाँव रे, पृ॰ सं॰-95 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
12 हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 प्रकाशक : ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी संकलन : भारतकोश पुस्तकालय संपादन : डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा , पृ॰ सं॰-432
13. 'पंकिल' : चोंचिया पसरले चिंहुँक बोले पपिहा , पृ॰ सं॰-51 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
14. 'पंकिल' : चोंचिया पसरले चिंहुँक बोले पपिहा, पृ॰ सं॰-39 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)
15. 'पंकिल' : मिला नहीं सइयाँ क गाँव रे, पृ॰ सं॰-76 (पोथी डॉट कॉम से प्रकाशित)

विभिन्नी शास्त्राग्रंथों में वर्णित कलाकार एवं भावक : एक लाक्षणिक विश्लेषण

डॉ॰ अभिनव नारायण आचार्य
संगीत शिक्षक,
सेंट्रल हिंदू ब्वा यज स्कूल, वाराणसी

डॉ॰ संगीता पंडित
प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय,
का॰ हि॰ वि॰ वि॰, वाराणसी

सारांश

कला की समीक्षा के अंतर्गत कलाकार के लक्षणों के निर्धारण के बिना किसी भी कला की न्याय संगत समीक्षा कदापि संभव नहीं है। इसीलिए कला शास्त्रियों के द्वारा कलाकार के लक्षणों को निश्चित करने का प्रयत्न अनादि काल से ही होता रहा है। यद्यपि ये लक्षण देश-काल-परिस्थितियों आदि के आधार पर परिवर्तनशील भी होते हैं तथापि कुछ लक्षण ऐसे भी होते हैं जो सभी देश काल व परिस्थितियों में समान रूप से प्रभावकारी जान पड़ते हैं। प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास कलाकार के कुछ ऐसे ही स्थूल लक्षणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो पूर्णतया सार्वभौमिक होते हैं। प्रस्तुकत लेख में कलाकार के उन लक्षणों का विस्तृत विवेचन विश्लेषण किया गया है जिन्हों ने कला मनीषियों के द्वारा गहनतापूर्वक विचार-विमर्श के उपरांत हमारे विभिन्नि शास्त्र ग्रंथों में स्थान प्राप्त किया है।

संकेत शब्द

कला, प्रतिभा, कलाकार, रस, परंपरा

भूमिका :

भारतीय काव्य शास्त्र में प्रतिभा (Talent) की विवेचना करते समय आचार्यों ने प्रतिभा के प्रमुख रूप से दो प्रकार बताये हैं :

1. कारयित्री प्रतिभा
2. भावयित्री प्रतिभा

उपरोक्त दोनों प्रकारों में से कारयित्री प्रतिभा का संबंध मुख्य रूप से कलाकार से एवं भावयित्री प्रतिभा का संबंध भावक से माना जाता है। परंतु सूक्ष्मता से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि इन दोनों प्रकारों का संबंध कलाकार अथवा श्रोता से अलग-अलग जोड़ना भ्रम की स्थिति उत्पन्न करता है। दरअसल बात यह है कि कलाकार में केवल कारयित्री प्रतिभा ही नहीं बल्कि भावयित्री प्रतिभा भी होती है। उसी भावयित्री प्रतिभा के माध्येम से ही कलाकार वर्ण्य वस्तु अथवा भावों को आत्मासात करने में सक्षम होता है एवं इस भावन के पश्चात् ही कलाकार की कारयित्री प्रतिभा सक्रिय होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि कलाकार में प्रतिभा के दोनों प्रकारों के बीज विद्यमान रहते हैं। हमारी इस बात की पुष्टि हेतु प्रमाण स्वरूप निम्नलिखित श्लोक ध्यातव्य है :

''प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठो भुवि भूरिधा॥
भावकस्तुप कविः प्रायो न भजत्य धमां दशाम्॥[1]

अर्थात् कवि प्रतिभा के माध्यम से एक तारतम्य? में प्रतिष्ठा तो प्राप्ता करता ही है परंतु साथ ही साथ

भावयित्री प्रतिभा उसे किसी स्थिति में भी दीन-हीन दशा को प्राप्त नहीं होने देती। इस प्रकार उपरोक्त उद्धरण एवं विवेचन के आधार पर अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कलाकार में प्रतिभा के दोनों प्रकारों का समावेश होता है परंतु दोनों प्रकारों में मात्रा भेद अवश्य होता है। अर्थात् प्रायः भावयित्री प्रतिभा की तुलना में कारयित्री प्रतिभा अधिक सक्रिय होती है।

इन्हीं सब बातों पर विचार करके पुरातन आचार्यों की धारणाएँ भी कवि और भावक में विशेष अंतर नहीं मानती। आचार्य राजशेखर का निम्नांकित उद्धरण इस बात की भली-भाँति पुष्टि करता है :

कः पुनरनयोर्भेदो यत्करविर्भावयति भावकश्च कविः इत्याचार्याः।

अर्थात् कवि को भी आवश्यक रूप से रचना का भावन करना पड़ता है तथा एक सच्चे एवं सफल भावक में भी कवित्वय होना परमावश्यचक है।

प्राचीन आचार्यों की प्रतिभा संबंधी इस भ्रांति को महाकवि कालिदास जी ने दूर किया तथा कारयित्री तथा भावयित्री प्रतिभा के भेद तथा अभेद में समन्ववय स्थापित किया। उनके अनुसार भले ही कलाकार एवं भावक की कोटियाँ आपस में मिश्रित प्रतीत होती हैं परंतु अंततोगत्वा हमें दोनों में स्पष्ट भेद को स्वीकार करना ही पड़ता है। उनके अनुसार कवित्त्व एवं भावकत्त्व बिलकुल अलग-अलग तत्व हैं- विषय की दृष्टि से भी तथा स्वरूप की दृष्टि से भी एवं जब भी कवित्त्व एवं भावकत्त्व में एकत्त्व परिलक्षित होता है वहाँ तारतमिक दृष्टिकोण से विचार करने पर प्रधानता के आधार पर ही कलाकार अथवा भावक का स्वरूप निर्धारित होता है। अर्थात् जहाँ कवित्त्व की प्रधानता हो उस व्यक्ति को कवि माना जायेगा एवं जहाँ भावकत्त्व की प्रधानता हो उस व्यक्ति को भावक माना जायेगा। परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि कवि में भावकत्त्व का सर्वथा अभाव होता है तथा भावक कवित्व के सारे लक्षणों से हीन होता है। कहा भी गया है कि- ***उपधेयसांकर्येऽपि उपाधरेसांकर्यात्***[3] अर्थात् आश्रय की एकता होने पर भी दो भिन्न धर्म कदापि एक नहीं हो सकते। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कलाकार एवं भावक कि दो भिन्न कोटियों का निर्माण सर्वथा सार्थक है। विभिन्न शास्त्रग्रंथों में कलाकार एवं श्रोता के लक्षणों का निर्धारण कई भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया गया है जिनमें से कलाकार के लक्षणों के कुछ प्रमुख भेद-प्रभेदों का वर्णन आगे किया जा रहा है।

विभिन्न शास्त्रग्रंथों में वर्णित कलाकार के लक्षण :

भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य हेतु के प्रसंग में अर्थात् कला सृजन के कारणों के प्रसंग में कलाकार (प्रतिभा) पर भी बहुत विस्तार से विचार किया गया है तथा सभी साहित्यक शास्त्रियों ने अपने-अपने मतानुसार कलाकार के लक्षण बताये हैं। कलाकार संसार का अनुशीलन करते हुए उसमें निहित विभूतियों से प्रभावित होता है और उस प्रभाव से कलाकार के अंदर छिपी हुई शक्ति अथवा प्रतिभा प्रस्फुटित या प्रकाशित होती है। इस प्रतिभा का ठीक-ठीक उपयोग वह केवल उसी अवस्था में कर सकता है जबकि वह अपने मनोगत रूपों और स्थितियों को एक व्यवस्थित क्रम में अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता हो। इस प्रकार कला सृजन के तीन महत्वपूर्ण कारक होते हैं जो किसी भी कलाकार में होना बहुत आवश्यक हैं :

1. प्रतिभा
2. लोक निरीक्षण अथवा व्युत्पत्ति (शिक्षा)
3. अभ्यास

शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्र काव्युद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।[4]

कलाकार के अंदर के उपरोक्त इन तीनों गुणों में से प्रतिभा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है इसका कारण यही है कि प्रतिभा वह बीज है जिसके द्वारा कला हमें वृक्ष के रूप फलती-फूलती दिखाई देती है। इसी से संबंधित एक पश्चिमी कहावत भी प्रचलित है कि - ''Artist are born not made'' इस कहावत में born से अभिप्राय प्रतिभा के उद्भव

से ही है। हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी इस तथ्य को यथावत स्वीकार किया जाता है -

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्त्वां दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्रापि दुर्लभा।[5]

अर्थात् संसार में मनुष्यत्व अत्यंत दुर्लभ है। मनुष्य होने के बाद विद्या की प्राप्ति बहुत कठिन है, विद्या की प्राप्ति होने पर भी कवित्व दुर्लभ है और कवित्व की प्राप्ति हो जाने पर भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतिभा अत्यंत दुर्लभ है। यह प्रतिभा दो प्रकार की मानी गई है- सहजा और उत्पाद्या। कभी-कभी कलाकार में जन्म के साथ ही ऐसी विलक्षण प्रतिभा दिखाई देती है जिसके कारण वह कला सृजन में अभिरूचि रखता है और बहुत कम अवस्था से ही कला सृजन में प्रवृत्त हो जाता है। शैशव काल की यह चमत्कृति सहजा प्रतिभा के कारण ही संभव होती है। इसके विपरीत उत्पाद्या वह प्रतिभा है जिसे कलाकार के द्वारा अर्जित किया जाता है। अर्थात् वह संस्कार जिसके द्वारा सहजा शक्ति के अभाव में अथवा अल्प मात्रा में होने पर भी कोई कलाकार रसपूर्ण रचनायें करने में समर्थ हो जाता है उसे उत्पाद्या प्रतिभा कहते हैं। इसी उत्पाद्या प्रतिभा के अंतर्गत ही कलाकार के शेष दो अन्य गुणों व्युत्पत्ति और अभ्यास का भी समावेश है।

व्युत्पत्ति तीन प्रकार से अर्जित की जाती है :

1. लोक का निरीक्षण
2. शास्त्र ग्रंथों का अनुशीलन
3. परंपरा की निर्वहन

लोक का निरीक्षण इस कारण जरूरी होता है क्योंकि कला-पीठीका तो समाज अर्थात् लोक ही होता है। जिस प्रकार बिना गहरी नींव के किसी भव्य महल का निर्माण नहीं हो सकता उसी प्रकार बिना लोक के निरीक्षण के कलाकार अपनी कलाकृति का रूप निर्धारण नहीं कर सकता। निरीक्षण के संबंध में कलाकार के अंदर दो गुणों की अपेक्षा होती है :

1. निरीक्षित वस्तु के स्वरूप को हृदयंगम करने की शक्ति।
2. प्रत्येक परिस्थिति में अपने आप को रखकर उसकी अनुभूति कर सकने की क्षमता।

पहली शक्ति में बुद्धि तत्त्व से काम लेना होता है और दूसरी में हृदयतत्त्व से। अर्थात् पहली ज्ञान प्रधान और दूसरी भाव प्रधान। पहली शक्ति में वर्ण्य विषय के सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म ब्यौरों का ज्ञान अपेक्षित होता है और दूसरी के अनुकूल भाव ग्राहकता। इस प्रकार यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि कला सृजन के लिए बोध वृत्ति और राग वृत्ति दोनों का ही सम्यक योग आवश्यक होता है।

लोक निरीक्षण के बाद भी संबंधित विधा के शास्त्रों का अनुशीलन आवश्यक होता है क्यों कि बिना शास्त्रों का अनुशीलन किये हुए कलाकार को अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की प्रणालियों, प्रवृत्तियों व शैलियों आदि का सम्यक ज्ञान नहीं हो पाता। शास्त्र अध्ययन से उसके ज्ञान चक्षु खुलते हैं। इसी कारण जो कलाकार शास्त्रों का अध्ययन किये बिना ही कला रचना में प्रवृत्त होता है उसे अंधा कहा जाता है क्योंकि आँखों के साथ विषयों का ग्रहण जितनी सूक्ष्मता और सरलता से हो सकता है वह अंधे रहने पर कदापि नहीं हो सकता। अतः यह स्पूष्ट है कि कलाकार के लिए शास्त्रोंा का अध्ययन विषयों को सूक्ष्मता और शुद्धता के साथ सरलता से प्रदर्शित करने के लिए ही होता है ना कि पांडित्य प्रदर्शन के लिए। ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ कलाकारों के पांडित्य प्रदर्शन को लक्ष्य करके कुछ लोग शास्त्र की उपेक्षा भी करने लगते हैं तथा शास्त्र को गूढ़ कहकर उससे विरत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में दुष्परिणाम यह होता है कि अच्छे से अच्छे कलाकारों की रचनाओं में भी कहीं-कहीं भयानक अशुद्धियाँ दिखाई देती हैं।

शास्त्रानुशीलन के अंतर्गत ही परंपरा का अध्ययन भी आता है। वस्तुतः परंपरा का अध्ययन भी कलाकार की अपनी पहचान एवं कला सृजन की सुगमता के

लिए ही होता है। परंपरा को छोड़कर चलने से कलाकार की रचना बेमेल सी प्रतीत होने लगती है। परंपरा के द्वारा कला सृजन में वैसे ही आसानी होती है जैसे पुल बन जाने पर नदी को पार करना आसान हो जाता है। रामचरितमानस में तुलसीदास जी लिखते हैं कि :

अति अपार जे सरितबर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं।[6]

जो नदी पार करने के लिए पुल का उपयोग नहीं करना चाहता वह पार करने की इच्छा होते हुए भी या तो नदी में उतरने का साहस ही नहीं करेगा और यदि कहीं साहस किया भी तो बहते-बहते कब किनारा पायेगा यह कहा नहीं जा सकता अर्थात् ऐसे कलाकार के लिए साध्य तक पहुँचना कठिन हो जाता है जो परंपरा की अवहेलना करते हैं।

कलाकार के लक्षणों में तीसरा सबसे महत्वपूर्ण लक्षण अभ्यास है। अभ्यास के अभाव में कला सृजन हो तो अवश्य सकता है परंतु वह सृजन एक व्यवस्थित रूप कभी नहीं पा सकता। यही कारण है कि सभी पुराने प्रतिष्ठित कलाकार अपने गुरूओं के यहाँ घंटों अभ्याास किया करते थे। बिना अभ्यास के प्रतिभा और व्युत्पत्ति कभी भी कलाकार की रचना में सहयोग नहीं करती है एवं अभ्यास की यह प्रक्रिया निरंतर चलने वाली प्रक्रिया मानी जाती है। अर्थात् कलाकार के कला जीवन आरंभ होने के साथ ही यह शुरू होती है और कला की जीवनलीला के साथ ही यह समाप्त होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शास्त्रों में कलाकार के जो तीन गुण बताये गए हैं कला सृजन के लिए किसी भी कलाकार में उन तीनों गुणों का एकसाथ होना परम आवश्यक है। इसे एक काव्य-रथ में रूपक के द्वारा कविवर भिखारीदास ने बड़े ही मनोरम ढंग से निम्नांकित सवैये में स्पष्ट किया है :

सक्ति कबित्तम बनाइबे की जिहिं जन्मनछत्र में दीनी बिधातैं।
काव्य की रीति सिख्यो सुकबीन सों देखी सुनी बहु लोक की बातैं।
'दासजू' जामें एकत्र ये तीन्यौ बनै कबिता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसें धुरंधर सूत कि चक्र निपातैं।

इसके अलावा आचार्य वामन ने भी कलाकार के संबंध में इस प्रकार के विचार का उपक्रम किया है। अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ के पहले अधिकरण के दूसरे अध्याय के पहले सूत्र में उन्होंने कवियों (कलाकारों) के दो प्रकार बताये हैं : ***अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः।***[8] अर्थात् कवि दो प्रकार के होते हैं अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। इसमें कवि के लक्षणों के लिए जिन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है वे दोनों शब्द पारिभाषिक हैं क्योंकि अरोचकी का अर्थ होता है - वह व्यक्ति जिसे अरूचि का रोग हो गया है परंतु यहाँ पर अरोचकी का अर्थ 'विवेकशील कवि' है। इसी प्रकार सतृणाभ्यवहारी का शाब्दिक अर्थ होता है- जो तृण का भी भक्षण कर ले परंतु लाक्षणिक रूप से यहाँ इसका अर्थ 'अविवेकशील कवि' है। इस प्रकार आचार्य वामन ने कलाकार के लक्षणों को बहुत ही स्थूल रूप में (विवेकशील कवि और अविवेकशील कवि) बताया है।

आचार्य वामन के बाद राजशेखर ने अपेक्षाकृत सूक्ष्म दृष्टि से कलाकार के लक्षणों का उपस्थापन किया है। उनके अनुसार :

द्विविधं शिष्यमाचक्षते।
यदुत बुद्धिमानाहार्यबुद्धिश्च।
यस्य निसर्गतः शास्त्रमनुधावति बुद्धिः स बुद्धिमान्।
यस्य् च शास्त्राभ्यासः संस्कुरूते बुद्धिमसावाहार्यबुद्धिः।[9]

अर्थात् शिष्य (कवि, कलाकार) प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं - बुद्धिमान एवं आहार्यबुद्धि। पहले प्रकार का कवि शास्त्रवगाहिनी बुद्धि का स्वामी होता है तथा दूसरा शिक्षा एवं अभ्यास के द्वारा वह बुद्धि प्राप्त करता है। आगे उन्होंने कहा कि बुद्धिमान

शिष्य संकेत मात्र से ही सबकुछ समझ लेता है परंतु दूसरा सशंकित रहता है तथा शंका निवारण हेतु उसे अभ्यास एवं शिक्षा की सहायता लेनी पड़ती है।

इसके अलावा प्रतिभा, विषय, अवस्था आदि अलग-अलग दृष्टियों से भी कलाकार के विभिन्न लक्षणों का निर्धारण देखने को मिलता है जिनमें से कुछ प्रमुख भेद-प्रभेदों का वर्णन आगे है।

विषय की दृष्टि से :

विषय की दृष्टि से कलाकार की तीन कोटियाँ हैं :

1. **शास्त्र कवि :** शास्त्र कवि के भी तीन उपभेद हैं- पहला वह कवि अथवा कलाकार जो शास्त्र का निर्माता होता है, दूसरा वह कलाकार जो शास्त्र में अपनी कला का निवेश करता है तथा तीसरा वह कलाकार जो कलाकृति में शास्त्रार्थ का निरूपण करता है।
2. **काव्य कवि :** काव्य कवि के भी आठ उपभेद होते हैं- रचना कवि, शब्द कवि, अर्थ कवि, अलंकार कवि, उक्ति कवि, रस कवि, मार्ग कवि एवं शास्त्रार्थ कवि। इन सभी उपभेदों का निर्धारण प्रधानता के आधार पर ही किया गया है तथा जिनके नाम से ही उनके लक्षणों का सम्यक ज्ञान हो जाता है इसी कारण यहाँ पर उसकी विस्तृत व्याख्या अनुपयोगी व अनपेक्षित है।
3. **उभय कवि :** जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस प्रकार के कवि अथवा कलाकार में उपरोक्त दोनों प्रकारों के कलाकारों के गुणों का समावेश होता है।

अवस्थात की दृष्टि से :

अवस्थात की दृष्टि से कलाकारों के दस प्रकार बताये गये हैं -

1. **काव्य विद्या स्नातक :** ऐसा कलाकार जो कवित्व प्राप्ति की अकांक्षा से गुरूकुल आदि में रहकर शिक्षा ग्रहण करता है एवं गुरू की उपासना करता है वह काव्य विद्या स्नातक कहलाता है।
2. **हृदय कवि :** ऐसा कलाकार जो मानसिक रूप से रचना करता हो परंतु दोष-भय के कारण उसे प्रकट ना करता हो वह हृदय कवि कहलाता है।
3. **अन्यापदेशी :** अर्थात् वह कलाकार जो अपनी रचना को आलोचना अथवा निंदा आदि के भय से परकीय बताकर प्रस्तुत करता हो।
4. **सेविता :** ऐसा कलाकार जो रचना में प्रवृत्त हो गया हो और किसी पूर्ववर्ती कलाकार को आदर्श मानकर उसकी छाया में ही अभ्यास करता हो।
5. **घटमान :** ऐसा कलाकार जो बड़ी रचनायें करने में सक्षम नहीं होता तथा केवल फुटकर रूप से प्रशस्त रचनाएँ ही करता हो।
6. **महाकवि :** ऐसा कलाकार जो सिर्फ प्रबंध रूपी ही रचनाएँ ही करता हो।
7. **कविराज :** ऐसा कलाकार जो भिन्न-भिन्न शैलियों में, भिन्न-भिन्ना विधाओं में तथा भिन्न-भिन्न रसों में रचना करने में कुशल हो। ऐसे कलाकार जगत में बिरले ही होते हैं।
8. **आवेशिक :** ऐसे कलाकार जो किसी भी प्रकार के आवेश के प्रभाव में ही रचना करने में सक्षम होते हों।
9. **अविच्छेदी :** ऐसा कलाकार जो अपनी इच्छाआनुसार जब चाहे तब अविछिन्न गति से रचना कर सके।
10. **संक्रामयिता :** ऐसा कलाकार जो अपनी साधना की सिद्धि के परिणामस्वरूप भावक को भी सरस्वती का संक्रमण कराने में सक्षम हो।

अभ्यास की दृष्टि से :

अभ्यास की दृष्टि से कलाकारों की चार कोटियाँ निर्धारित की गई हैं :

1. **असूर्यम्पश्य :** अर्थात् ऐसा कलाकार जो पर्वतीय गुफाओं आदि में बैठकर अभ्यास करता हो। कहने का तात्पर्य यह है कि वह कलाकार जो सर्वथा एकांत में अपनी विद्या का अभ्यास करता हो।

2. **निषण्ण :** अर्थात् वह कलाकार जो सिर्फ तभी रचना करे जब वह अभिनिविष्ट हो (मूड में आने पर)।

3. **दत्तावसर** : अर्थात् ऐसा कलाकार जो जीविकोपयोगी एवं शारीरिक व्यस्तताओं से मुक्त होने पर अवकाश मिलने पर ही रचना करे। सामान्य भाषा में इन्हें शौकिया कलाकार भी कह सकते हैं।

4. **प्रायोजनिक :** ऐसा कलाकार जो प्रसंग अथवा प्रयोजन विशेष के लिए रचना करता हो।

कवित्वार्जन की दृष्टि से :

कवित्वार्जन की दृष्टि से अर्थात् कलाकार के कलात्मक गुण विकसित करने के उपाय के रूप में आचार्य क्षेमेंद्र ने 'कविकण्ठाभरण' में कलाकारों के तीन भेद बताये हैं :

1. **अल्प-प्रयत्न-साध्य :** इस प्रकार के कलाकार को विभिन्न तत्ववेत्ताओं के समक्ष बैठकर उनसे शास्त्र ज्ञान का अर्जन करना चाहिए तथा गुरू का चुनाव भी ऐसा नहीं होना चाहिए जो केवल तार्किक अथवा वैयाकरण ही हो। क्योंकि तार्किक व्यक्ति को सूक्ति लतिका के विकास में विघ्न बताया गया है। इस प्रकार के प्रयासों से कलाकार के कलात्मक गुणों का विकास होता है।

2. **कृच्छ्र साध्य :** इस प्रकार के कलाकार को इतिहासविज्ञ तथा भविष्यविज्ञ आदि सभी प्रकार के कलाकारों की रचनाओं का अध्ययन करना चाहिए तथा बराबर इस बात से सचेत रहना चाहिए कि उसकी रचना में तार्किकों की उग्र गंध का स्पर्श ना हो पाये। इस प्रकार के कलाकार को अपनी विधा के बड़े कलाकारों के साथ पर्याप्त परिचर्चा करनी चाहिए तथा उनकी रचनाओं को ही नवीन रूप में ढालकर अभ्यास करना चाहिए।

3. **असाध्य :** वह कलाकार जिसमें कलात्मक प्रतिभा का सर्वथा अभाव होता है तथा जिसपर व्याकरण, तर्क जैसे कर्कश वांगमय के अध्ययन का प्रभाव हो इस प्रकार के कलाकार को असाध्या कलाकार माना जाता है क्यों कि उसके लिए तो सारे प्रयत्न निष्फल ही हो जाते हैं। ऐसे कलाकार की तुलना शास्त्रों में उस गधे से की गई है जिसे गान कला की शिक्षा प्रदान की जा रही हो।

इस प्रकार भारतीय साहित्य शास्त्र के लगभग सभी आचार्यों ने कलाकार के लक्षणों पर विचार अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है तथा लगभग सभी प्रमुख विचारकों के विचारों का उल्लेख हम कर चुके हैं। इसके अलावा भी क्षेमेंद्र आदि विचारकों ने भी कलाकार के लक्षण बताये तो अवश्य हैं परंतु वे लक्षण उपरोक्त वर्णित लक्षणों की व्याख्या ही कहे जा सकते हैं।

निष्कर्ष :

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि कलाकार के लक्षणों का विचार देश एवं काल की सीमा में रहकर भी उसकी सीमा से परे जाकर ही किया जाना चाहिए क्योंकि ये लक्षण सार्वभौमिक एवं शाश्वत होते हैं। चूँकि कला की अखण्ड सत्तो अपने आप को कई नाम और रूपों में व्यक्त? करती रहती है इसलिए मूलतः सापेक्ष दृष्टि रखने वाला मनुष्य उसकी अखण्ड रूपता के दर्शन नहीं कर पाता और होता यह है कि अपनी सीमित दृष्टि के आधार पर ही वह अपने कला के स्वरूप का निर्धारण करता है एवं समय-समय पर उसे वाग्बद्ध या लिपिबद्ध करता रहा है। अतः कलाकार के निर्धारित लक्षणों को पूर्णतः सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता है। उपरोक्त वर्णित कलाकार के लक्षणों के अंतर्गत वर्णित की गयी सभी विशेषताएं सत्य तो है परंतु अपूर्ण होने के कारण अंतिम सत्य नहीं है। कला एवं कलाकार के लक्षणों के निर्धारण संबंधी चर्चा का भी अंत नहीं है।

कला एक अनायास चलने वाली तरंग की भांति होती है तथापि निश्चित रूप से उसमें कुछ ऐसे तत्व होते हैं जिनके अभाव में कला-सृजन संभव नहीं हो सकती। कलाकार के मौलिक लक्षणों में प्रतिभा,

व्युत्पत्ति एवं अभ्याक ऐसे ही मूलभूत लक्षण कहे जा सकते हैं जो सभी देश-काल परिस्थितियों में समान रूप से सत्य एवं प्रभावकारी, प्रमाणित होते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. त्रिपाठी, राममूर्ति, भारतीय-साहित्य-दर्शन, पृ॰सं॰-85
2. वही, पृ॰सं॰-86
3. द्विवेदी, पं॰ दशरथ, अभिनव रस सिद्धांत, पृ॰सं॰-34
4. द्विवेदी, डॉ॰ नाथूराम, मम्मटकृत काव्य प्रकाश, द्वितीय अध्याय, श्लोक संख्या-12
5. त्रिपाठी, राममूर्ति, भारतीय-साहित्य-दर्शन, पृ॰सं॰-85
6. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा नं॰13
7. चतुर्वेदी, जवाहर लाल, काव्य निर्णय-भिखारी दास, पृ॰सं॰-27
8. त्रिपाठी, राममूर्ति, भारतीय-साहित्य-दर्शन, पृ॰सं॰-89
9. वही, पृ॰सं॰-89
10. मिश्र, आचार्य विश्वसनाथ प्रसाद, वांगमय विमर्श, पृ॰सं॰-16
11. वही, पृ॰सं॰-17
12. त्रिपाठी, राममूर्ति, भारतीय-साहित्य-दर्शन, पृ॰सं॰-88
13. मिश्र, प्रतापनारायण, आचार्य क्षेमेंद्र कृत कविकण्ठाभरण, पृ॰सं॰-53

Recording to Mixing : Exploring the Evolving Field of Music Production in the Digital Age

Madhavi C. Mohan
Ph.D. Research Scholar, Department of Music
Avinashilingam Institute For Home science
& Higher Education for Women
Coimbatore-641043 (Tamil Nadu)

Dr. A.V Sajini *(Supervisor)*
Assistant Professor, Department of Music
Avinashilingam Institute For Home science
& Higher Education for Women
Coimbatore-641043 (Tamil Nadu)

Abstract

The journey of music production from recording to mixing has been transformed by technology in the digital age. This transformation has given rise to a new wave of home studios and independent artists. This article explores the evolving field of music production and delves into the tools and equipment that are essential for recording musicians. It also has recording tips for achieving flawless performances, discusses the art of mixing and mastering, and highlights the final steps in the production process. By analyzing these topics, this article aims to broaden understanding of music production and appreciate the advancements that technology has brought to the industry.

Keyword

Music Recording, Digital audio workstations (DAW), Music Production, Mixing, Mastering

Introduction :

Music production has undergone significant changes with the advent of recording technology. Today, musicians can use a variety of tools and techniques to create high-quality recordings from the comfort of their own homes. This article provides an overview of the role of recording in music production, including how it has transformed the music industry. It also covers the essential equipment needed for creating professional recordings, along with tips for achieving flawless performances. The article then goes on to explore the art of mixing and mastering, which are crucial final steps in the recording process. It examines how recording has enabled collaboration among musicians and discusses the rise of home studios and independent artists.

Finally, the article looks at how technology is shaping the future of music production.

Study Area :

The article focuses on the advancements in the music industry that has made music recording more affordable and accessible to the common musician.

Methods / Methodologies :

Various sources were analyzed, including music industry publications, journals and forums. In addition, industry experts and interviews to gain knowledge and to know the techniques used in modern music production. The research focused on the following areas :

- The Role of Recording in Music Production: An Overview.
- How Recording has changed the Music Industry.
- Tools of the Trade: Essential Equipment for Recording Musicians.
- Tips for Recording a Flawless Performance.
- The Art of Mixing: Balancing Instruments and Vocals in the Studio.
- Mastering the tracks: The Final Step in the Recording Process.
- How Recording Brings Musicians Together.
- The Rise of Home Studios and Independent Artists.
- Technology is Changing the Landscape of Music Production.

The Role of Recording in Music Production: An Overview :

Recording has become an essential aspect of music production in the modern age. From capturing live performances to creating digital compositions from scratch, recording technology has made it easier than ever for artists to create and share their work. It has also made it possible for artists to collaborate with others who may be located in different parts of the world, leading to a more diverse and dynamic music scene.

How Recording has changed the Music Industry :

Recording technology has transformed the music industry, making it easier for artists to create professional recordings. In the past, only those with access to expensive equipment and recording studios could create high-quality recordings. However, with the advent of affordable recording software and equipment, more and more artists can now produce and distribute their music without relying on a major record label. This has opened up new opportunities for musicians to showcase their work and reach a wider audience.

Tools of the Trade : Essential Equipment for Recording Musicians :

It's possible to create a recording with just a laptop and a microphone, there are certain pieces of equipment that can make the process easier and more professional. These include a high-quality microphone, a digital audio interface, headphones, and studio monitors. Other useful tools include a pop filter, a mic stand, and a shock mount.

Tips for Recording a Flawless Performance :

It requires careful preparation and attention to detail to record a flawless musical performance. One of the most important things to consider is the acoustics of the recording space. It's important to choose a space with good acoustics, or to make modifications to the space to improve its sound quality. Other tips include warming up before recording, using a metronome to maintain consistent timing, and taking breaks to rest your voice or instrument.

The Art of Mixing: Balancing Instruments and Vocals in the Studio :

Mixing is the process of balancing the levels and frequencies of different instruments and vocals to create a cohesive and well-balanced recording. This requires careful listening and a good understanding of how different instruments and frequencies interact. It's important to use EQ (Equalization) and compression to control the sound of each instrument and to create a sense of space and depth in the mix.

Mastering the tracks: The Final Step in the Recording Process :

Mastering is the final step in the recording process and involves preparing the final mix for distribution. This includes adjusting the overall volume and EQ (Equalization), as well as adding effects such as reverb and compression. Mastering is an important step in ensuring that the final recording sounds polished and professional.

How Recording Brings Musicians Together :

Recording technology has made it easier than ever for musicians to collaborate with others. This can lead to more diverse and dynamic music, as artists from different backgrounds and genres come together to create something new. Recording technology has also made it possible for musicians to work remotely.

To facilitate the creation of high-quality recordings, the recording process itself can also bring musicians together in unique ways. Recording studios have long been a hub for collaboration and creativity, with artists of all genres coming together to experiment and explore new sounds. The recording process also allows musicians to collaborate with producers and engineers, who can offer valuable insight and guidance on everything from song structure to instrumentation.

However, the rise of home recording technology has also changed the way that musicians collaborate. With the ability to record high-quality tracks from the comfort of their own homes, musicians are no longer limited by place when it comes to collaborating with others. Online communities and platforms have also emerged, allowing musicians to connect with each other and collaborate remotely.

The Rise of Home Studios and Independent Artists :

One of the most significant changes in the music industry in recent years has been the rise of home recording technology and independent artists. With affordable recording equipment and software widely available, musicians can now create professional-quality recordings from the comfort of their own homes. This has led to a proliferation of independent artists and greater accessibility to the music industry, as musicians no longer need to rely solely on traditional record labels to distribute and promote their music.

Technology is Changing the Landscape of Music Production :

Advancements in technology continue to have a profound impact on the music production process. From the rise of Digital Audio Workstations (DAW) to the use of artificial intelligence and machine learning in music creation, new tools and technologies are constantly emerging that are changing the way that music is produced and consumed.

Conclusion and findings :

The article provides a comprehensive overview of how recording technology has transformed the music industry, from enabling remote collaboration and the rise of home recording studios to empowering independent artists. It also covers essential equipment for recording musicians, tips for recording a flawless performance, and the art of mixing and mastering.

The article highlights how technology is changing the landscape of music production and consumption, from the use of Digital Audio Workstations(DAW) to artificial intelligence and machine learning in music creation. It emphasizes the significance of capturing and preserving the artistry and creativity of musicians for future generations.

The findings of this article suggest that recording technology has played a multifaceted and ever-evolving role in the music industry. It has empowered independent artists to create and distribute their work without the need for a major record label, as well as facilitated collaboration and diversity in the music scene, bringing together artists from different backgrounds and genres. However, while recording technology has made it easier than ever to create high-quality recordings, it has also presented unique challenges, such as the need for careful preparation, attention to detail, and acoustically treated recording spaces.

In conclusion, recording technology has played a significant role in the music industry, revolutionizing the way music is created, produced, and consumed. The article provides valuable insights and tips for musicians, producers, and engineers to create high-quality recordings and highlights the importance of preserving the artistry and creativity of musicians for future generations.

Reference :

1. Jyoti Sehgal, Music in Industry and Education, First edition 2014, Published by Cyber Tech Publication.
2. Sanjay gaur, Modern Era of Media, First Edition 2019, Published by Ykings Books.
3. Tommy Swindale, Music Production For Beginners ,2020 Edition: How to Produce Music, The Easy to Read Guide for Music Producers(Music business, Electronic Dance Music, Edm, Producing Music).
4. Interview with Mahesh Nair, Music composer and Sound Engineer.

कथाओं व संगीत का अंतर्संबंध : एक अध्ययन

अशेष नारायण मिश्रा
शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रस्तावना

कथा शब्द का अर्थ मुख्य रूप से हम भगवान या दिव्य शक्तियों के बारे में होने वाले विस्तृत विवरण से समझते हैं, परंतु कथा वस्तुतः साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है, जिसका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। यदि हम तुलसीदास या सूरदास जैसे कवियों के बारे में पढ़ेंगे तो हमें स्पष्ट होगा कि उन्होंने श्रीराम व श्रीकृष्ण की लीलाओं का कितनी सुंदर ढंग से वर्णन किया है तथा उन वर्णन को भी साहित्य में श्रीराम कथा या श्रीकृष्ण कथा की संज्ञा दी है। इसी प्रकार से किसी भी प्राचीन युग की लड़ाई व युद्ध को भी महाभारत कथा व रामायण कथा के नाम से जाना जाता है। यदि हम अन्य भाषाओं की बात करें तो हिंदी से मिलती-जुलती भाषा बंगाली में भी बातचीत करने के माध्यम को 'कौथा' शब्द की संज्ञा दी गई है अतः इस बात से स्पष्ट है कि कथा शब्द का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है स पुराने समय से ही प्रचलित चरित काव्यों को कथा कहने की प्रथा बहुत बाद तक प्रचलन में रही है तथा वर्तमान में भी इसका प्रयोग किया जाता रहा है स प्राचीन साहित्य में कथा को स्पष्ट रूप से दो अर्थों में प्रयोग किया गया है.

1. *साधारण कहानी*
2. *अलंकारिक काव्य*

साधारण कहानी में रामायण, महाभारत व पंचतंत्र की कहानियां, कथा के अंतर्गत आती हैं, इसके साथ-साथ पुराणों के आख्यान, सुबंधु की वासवदत्ता, बाण की कादंबरी, गुणाव्य की वृहतकथा आदि भी कथा है, पर विशिष्ट अर्थ में यह अलंकारिक गद्य के लिए प्रयोग किया गया है। इस अर्थ में कथा शब्द को बहुत प्राचीन समय से विभिन्न अर्थ में प्रयोग किया जा रहा है पर इस सामान्य अर्थ के अलावा अलंकारिक गद्य काव्य की कहानी के अर्थ में कथा शब्द का जो शास्त्रीय अर्थ पर प्रयोग है मुख्यतः उसका उल्लेख यहां पर प्रस्तुत करना या बताना है।

मुख्य बिंदु

कथा, संगीत, स्वर, छंद, अलंकार

कथा के मूल तत्व :

प्रायः हम अनुभव करते हैं की जीवन सदा एक रस नहीं रहता जीवन में अस्थिरता आ जाती हैं। जीवन में जो स्थितियां हमें शांत वह मूक बनाए रखती हैं वे साधारणतः शब्दों का रूप नहीं ले पाती उन्हें हम अपनी चेष्टाओं से ही व्यक्त कर देते हैं, परंतु जो मनोभाव हमारी चेष्टाओं से भी व्यक्त नहीं हो पाते अथवा जिन्हें चेष्टा से व्यक्त करने पर हमें

संतोष नहीं होता उन्हीं को हम शब्दों से प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार ध्यान से देखने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि शब्द सृष्टि एक प्रकार के असंतोष से होती है। कथा की सृष्टि में भी हम यही बात पाते हैं।

कथा की पृष्टभूमि :

कथा उस प्रकार की बात है जो दुःख ही नहीं जीवन सांख्य के अभिव्यंजना का एक संकेत होता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य अपनी बात दूसरे से कहे बिना नहीं रह सकता वह दूसरे से अपने मन की ग्रंथियों को खोलता है और भेदाभेद की बातें भी बतलाता रहता है और जो लोग बतला नहीं पाते वह उसे अपने आचार-विचार व व्यवहार में व्यक्त करते हैं। कथन के रूप में व्यक्त करने की विधा का एक नाम संवाद है। दूसरा व्यक्ति जब उन्हीं बातों को संवाद के रूप में अन्य व्यक्तियों से कह देता है। तभी वह कथा का रूप धारण कर लेती है। साहित्य में आकर वही बातें, वही वस्तु लोकोत्तर आनंद दायिनी बन जाती है। उनमें अनेक शैलियां भेदों और रूपों की प्रतिष्ठा कर ली जाती है। यहां तक की हम उनमें कला और सौंदर्य की अद्भुत झलक देख-देख कर चकित विस्मित हो उठते हैं।

कथा वह है जहां आश्चर्यजनक घटना हो तथा दैविक पात्रों के सहारे ऐसा इतिवृत्त प्रस्तुत किया जाए जिससे एक और साहसिक धार्मिक और कभी-कभी शुद्ध मानसिक मनोरंजन हो तथा जिससे कोई जीवन, धर्म, दर्शन का उदाहरण या उपदेश दिया जाए। इस तरह कथा की मूल धुरी चरित्र ना होकर घटना चमत्कार हैं स इसी के सहारे लोकोत्तर और असंभव बातें कही जाती थी। कथा की प्रकृति में मणि, मंत्र, परी, श्राप, ईश्वरीय दान, दैत्य, देव-दानव और मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, दृश्य-अदृश्य यह सारा ब्रह्मांड तर्क-वितर्क से परे समाद्रित होता है।

इसका प्रारंभ अपने रूपक कथा महाभारत के उपाध्याय तथा बौद्ध साहित्य की जातक कथाओं से होता है। असंख्य बहुरूपी कथाओं को सामान्यतः तीन चरणों में बैठकर अलग-अलग देखा जा सकता है।

क) **शुद्ध धार्मिक और रूपक आत्मकथा चरण :** (उपनिषद महाभारत से लेकर जातक तक)

ख) **लोकोपदेश और लोकरंजन कथा चरण :** (कादंबरी, दस कुमार चरित्र, हितोपदेश और बेताल पच्चीसी सिंहासन बत्तीसी तक)

ग) **यवन प्रभाव से से अलौकिक श्रृंगारिक अथवा स्वच्छंद तावादी कथा चरण :** 13वीं सदी से लेकर 18वीं सदी तक- 'सहस्त्र रजनी चरित्र' (अरब और फारस कथा प्रकृति), तोता मैना, सारंगा सदावृक्ष, गुलाब काबली आदि।

कथा की शिल्प विधि समझने के लिए इतना याद रखना काफी है कि कथा का प्रारंभ होते ही श्रोता या पाठक की बुनियादी जिज्ञासा यही होती है कि - ''हांए इसके बाद क्या हुआ?''

''आगे क्या हुआ?''

''हाँ फिर?''

उदाहरण के लिए एक राजा था उसकी चार रानियां थी। राजा जंगल में शिकार खेलने गए वहां उसे एक राक्षस मिला ..... आदि-आदि।

पर कथा से कहानी बिल्कुल अलग चीज है कहानी में बुनियादी जिज्ञासा है ''क्यों?'' उदाहरण के लिए उसी कथा से कहानी तक इस तरह बनेगी- एक राजा था वह बहुत उदास रहता था। उसकी पहली रानी जहर खा कर मर गई थी आदि।

दरअसल कथा का संबंध एक ऐसे समाज और संस्कृति से है जो मूलतः धर्म परायण है इतिहास बोध की भाषा में यदि कहें तो जो सामंतवादी परंपरा या प्रकृति का है।

संगीत के मूलतत्व :

बोलचाल की भाषा में संगीत से केवल गायन समझा जाता है किंतु संगीत जगत में गायन, वादन और नृत्य तीनों के समूह को संगीत कहते हैं। इस प्रकार संगीत के मुख्य तीन अंग हुए गायन, वादन और नृत्य। पं॰ शारंगदेव द्वारा लिखित 'संगीत-रत्नाकर'

में कहा गया है- ''गीतम वाद्यम तथा नृत्य त्रयं संगीत मुच्च्यतें'' अर्थात गाना, बजाना और नृत्य इन तीनों का सम्मिलित रूप संगीत कहलाता है। पश्चिमी देशों में संगीत से केवल गायन और वादन समझा जाता है वहां नृत्य को संगीत में नहीं रखा गया है।

गायन, वादन और नृत्य इन तीनों में घनिष्ठ संबंध रहा है केवल इतना ही नहीं तीनो एक दूसरे के पूरक हैं। गायन, वादन और नृत्य की एवं वादन, गायन और नृत्य की सहायता किया करता है। यहां पर नृत्य का विस्तृत अर्थ लिया गया है।

गाते-बजाते समय भाव प्रदर्शन के लिए थोड़ा बहुत हाथ चलाना गाते समय मुखाकृति बनाना आदि जिसके व्यापक अर्थ में आते हैं।

'संगीत-रत्नाकर' ने कहा गया है कि नृत्य वादन के और वादन गायन के आश्रित है - 'नृत्य वाद्यानुगं प्रोक्तवाद्यगीतानुवर्चित।' अतः इन गीतों में गायन सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ। अभी तक संगीत के विभिन्न अर्थ बताए गए, पर संगीत की परिभाषा इस प्रकार से दी जा सकती है - 'संगीत वह ललित कला है जिसमें स्वर और लय के द्वारा हम अपने भावों को प्रकट करते हैं।'

प्रत्येक कला जैसे - संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला, वास्तुकला में मानव भावनाओं को व्यक्त तो करते हैं परंतु प्रत्येक में उसका माध्यम बदला करता है। अगर रंग, पेंसिल, कागज आदि के द्वारा भावों को व्यक्त करते हैं तो चित्रकला की रचना होती है। इसी प्रकार यदि स्वर के द्वारा अपने भावों को प्रकट करते हैं तो संगीत की रचना होती है। अतः यह स्पष्ट है कि कला का माध्यम बदलते ही कला का नाम बदल जाता है। संगीत को ललित कला कहा गया है, ललित कला में पांच कलाएं आती हैं - संगीत, काव्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला। न ललित कला में संगीत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकार समस्त कला में सर्वश्रेष्ठ संगीत का संबंध देवी-देवताओं से भी जोड़ा गया है, किवंदती है कि- सर्वप्रथम ब्रह्मा ने सरस्वती देवी और सरस्वती ने नारद को संगीत शिक्षा दी, इसके बाद नारद ने भरत को और भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के द्वारा जनसाधारण में संगीत का प्रचार किया। संगीत की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार की मुख्य सात किवंदितियाँ प्रसिद्ध हैं। प्राचीनकाल में इन किवंदितियों का महत्व शायद रहा भी हो किंतु आज के वैज्ञानिक युग में इनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

सन्दर्भ :

1. बाजपेयी, भगवतीप्रसाद, कथा भारती, पृष्ठ संख्या - ख, ग
2. लाल, लक्ष्मी नारायण, कथा भारती, पृष्ठ संख्या- 1, 2
3. श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र, राग परिचय भाग एक, संगीत सदन प्रकाशन, साउथ मलका, इलाहाबाद- 211001, पृष्ठ संख्या- 105, 106

काशी के कतिपय प्रमुख सांगीतिक समारोह

संदीप मुखर्जी
शोध छात्र, गायन विभाग
संगीत एवं मंचकला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ॰ कुमार अम्बरीष चंचल
सहायक अध्यापक, शोध निर्देशक, गायन विभाग
संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

शोध सारांश

संगीत समारोहों की परम्परा तो वैदिक काल से ही चली आ रही है। उस काल में उसे समन या समज्जा के नाम से जाना जाता था। यह एक प्रकार से सांगीतिक मेला ही था जिसकी विशेषता थी कि इसमें कलाकार को अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर प्राप्त था। लगभग पहली शताब्दी तक ये समज्जा से पुकारे जाते रहे तत्पश्चात कालान्तर में संगीत समारोह, संगीत सम्मेलन शब्द से अभिहित हुए।

बनारस मात्र हिन्दुओं की पवित्र या प्राचीन नगरी ही नहीं बल्कि सभी धर्मों सम्प्रदायों की प्रिय नगरी है। यहाँ की कला, साहित्य एवं संगीत की एक अपनी शैली है। बनारस में संगीत के कार्यक्रम हमेशा कहीं न कहीं होते रहते हैं। जैसे कि चैत महिना में शीतला देवी के मन्दिर में पांच दिवसीय कार्यक्रम, संकटमोचन में पांच दिवसीय कार्यक्रम के उपरांत प्रत्येक महिने में शास्त्रीय तथा उपशास्त्रीय संगीत आदि का कार्यक्रम चलता रहता है। दुर्गाकुण्ड स्थित दुर्गा जी के मन्दिर का संगीत समारोह तथा टाइम्स आफ इण्डिया की तरफ से भी घाटों पर बृहद कार्यक्रमों का आयोजन होता है। इधर कुछ वर्षों से प्रदेश सरकार की ओर से राजेन्द्र प्रसाद घाट पर गंगा महोत्सव का भी कार्यक्रम होता है। इसके अतिरिक्त गाय घाट स्थित नाग-बाबा के मन्दिर में, सरस्वती पूजा के अवसर पर बागेश्वरी मन्दिर में वैशाख में शुक्ल सप्तमी को घाटों पर विश्वेश्वर मन्दिर द्वारा नगर में मृत्युंजय महादेव मन्दिर तथा अन्य मेलों में भी सांगीतिक कार्यक्रम होते रहते हैं। इसी को दृष्टिपथ में रखते हुए यह लेख प्रस्तुत है।

सूचक शब्द

संगीत, समारोह, मेला, काशी, कार्यक्रम

विषय प्रवेश :

काशी युगों-युगों से लोक परम्परा, लोक दर्शन, लोक कला, व संगीतात्मक कलाओं आदि की अभिव्यक्तियों को 'सात-वार, नौ-त्योहार' की सामाजिक मान्यताओं के माध्यम से उजागर करती रही है। सुबह बनारस से घाट संध्या तक का जीवन व्यस्त और स्वच्छन्द दोनो ही है। यहां भिन्न-भिन्न प्रकार के मेलें, उत्सव, महोत्सवों व कला-संगीत युक्त कार्यक्रमों आदि को मनाया जाना तथा किसी न किसी बहाने से मौज-मस्ती का अवसर सृजित करना इस स्थान का निजत्व है।

बनारस के अन्य प्रमुख अवसरों पर होने वाले कार्यक्रमों मे गुलाब-बाड़ी, बुढवा मंगल इत्यादि भी बहुत प्रसिद्ध है। बनारसी शैली के गायन-वादन तथा नृत्य के क्षेत्र का विकास बनारस में ही हुआ है इसलिए 'बनारस संगीत परम्परा' का नाम लेते ही तबलें के बोलों के साथ ध्रुपद, धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा से लेकर कजरी चैती के सरस गायन, सारंगी शहनाई के तैरते सुरों तथा नूपुरों के झंकार की अनुगूंज रसिक श्रोता के कानों में मिठास घोल देती है।''[1]

संगीत की कोई भी विद्या, शैली एवं पक्ष अक्षुता अथवा अव्यवस्थित नहीं हैं। इस दृष्टि से बनारस की परम्परा शायद सबसे अधिक समृद्ध मानी जा सकती है, यहाँ का सांगीतिक वातावरण वर्षों बना रहता है, जिसका अन्यत्र अभाव दिखाई देता है।

पं॰ महादेव प्रसाद मिश्र जी का विचार यह हैं कि युवा पीढ़ी को शास्त्रीय संगीत के प्रति उन्मुख करने के लिए गहन प्रशिक्षण दिया जाय और उनके दिमाग में यह भर दिया जाय कि शास्त्रीय संगीत हमारे देश का भविष्य है। यह आत्मा का संगीत है युवा पीढ़ी को मंच प्रदान करने के लिए अधिक से अधिक संगीत के कार्यक्रमों का होना अत्यन्त आवश्यक है।[2]

गिरिजा देवी का कथन है कि काशी की संगीत परम्परा बहुत प्राचीन है यहाँ संगीत के क्षेत्र में उच्च कोटि के विद्वान हुए हैं जो चहुमुखी गायक होते थे। जब किसी एक गायन शैली से महफिल प्रारम्भ होती थी तो उसी से अंत भी होता था, जैसे एक गायक ने ध्रुपद गायन से प्रारम्भ किया तो अन्य गायक ध्रुपद गायन से ही अंत करते थे। इसी तरह ख्याल से शुरू हुई तो ख्याल से, ठुमरी से शुरू हुई तो ठुमरी से, लोकगीत से शुरू हुई तो लोकगीतों से ही समापन होता था। उनका कहना है कि मुझे तो ऐसा लग रहा है कि हमारी पुरानी बहुत सी चीजें लुप्त होती जा रही हैं। जैसे छन्द प्रबन्ध, मठा पर मठा गीत घर घुरन कौल, कल्बना, गुलनक्स आदि।[3]

गुलाब-बाड़ी :

बनारस की संगीत गोष्ठी की परम्परा में 'गुलाब-बाड़ी' के नाम से संगीत का जो कार्यक्रम आयोजित हो रहा है वह अपने में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। बुढ़वा मंगल के आस-पास ही गुलाब बाड़ी संगीत समारोह का आरम्भ 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ। इसका आयोजन प्रतिवर्ष चैत मास में होता था। होली के पश्चात् यह समारोह किसी बाग-बगीचे में आयोजित किया जाता था, इस अवसर पर प्रायः सभी लोगों को गुलाबी परिधान धारण करना पड़ता था। लोग एक दूसरे को अबीर गुलाल लगाते हुए इस समारोह का सामूहिक आनन्द उठाते थे। चारों तरफ गुलाब के फूल की पंखुड़ियों की सजावट होती थी वहीं पर बगीचे के बीच चौकी लगाकर महफिल जमती थी और लोग उसका आनन्द उठाते थे। कभी-कभी गुलाब बाड़ी का आयोजन किसी के घर के आँगन में भी किया जाता था। आँगन में तख्त बिछाकर चारों तरफ गुलाब के फूलों से सजा दिया जाता था।

महिलायें गुलाब पंखुड़ियों को जरी के तारों में पिरोकर गुलाबी कपड़ों में गुलाल भरकर लटका देती थी जिसकी सुगन्ध से श्रोता सराबोर हो जाते थे। इस तरह कलाकारों के साथ श्रोताओं को भी गुलाब की पंखुड़ियों से यह भर दिया जाता था कार्यक्रम में बैठे हुए लोगों के सिर फूल तथा गुलालों से भर जाते थे।[4]

गुलाब का इत्र, गुलाब के फूलों की वर्षा, गुलाबी परिधान गुलाबी रोशनी, गुलाब जल का छिड़काव आदि के प्रयोग के कारण ही इसका नाम 'गुलाब-बाड़ी' पड़ा। इसमें चैती एवं होली गायन की प्रधानता रहती थी।

पहले स्थानीय संगीत परिषद् तथा संगीत के आयोजकों द्वारा गुलाब बाड़ी के कार्यक्रम का नियमित रूप से प्रतिवर्ष आयोजन होता था, लेकिन अब आयोजकों में भी उतना उत्साह नहीं रह गया और कलाकारों की रूचि में भी कमी आ गई है। अतः अब इसका केवल नाम रह गया है। यह आयोजन अब नियमित रूप से नहीं हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत के अन्तर्गत आयी हुई व्यवसायिकता की भावना के फलस्वरूप इसकी यह स्थित हो गई है। सभी लोगों का दृष्टिकोण बदल गया है।

दुर्गाबाड़ी संगीत समारोह :

काशी नगरी के अस्सी चौराहे से पश्चिम दिशा में स्थित इस दुर्गा-मन्दिर का निर्माण नैरोट की रानी भवानी ने किया था। मन्दिर में कुष्माण्डा (दुर्गा जी) की मूर्ति है। मन्दिर के बगल में एक कुंड है, जिसे दुर्गाकुण्ड कहते हैं। मन्दिर के द्वार पर बलि का स्थान है। दुर्गाकुण्ड से पूर्व दिशा में भास्करानन्द की अठ-पहलू संगमरमर की समाधि है। समाधि के चारों ओर एक पार्क बनाया गया है जिसे आनन्द पार्क कहते हैं।

चूँकि दुर्गा शक्ति की देवी है और हर जीव शक्ति का उपासक होता है। काशी में दुर्गा जी कि शक्ति की पुंजरूपी मातेश्वरी मानी जाती है, उनके यहाँ काशी के कलाकारों द्वारा संगीत का जलसा होना आवश्यक होता है। अपने कार्यक्रम द्वारा वे माता के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। बहुकाल से यहाँ देवी के श्रृंगार के उपलक्ष्य में शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों का आयोजन होता रहा है, इस अवसर पर काशी के अधिकांश कलाकारों द्वारा गायन-वादन का कार्यक्रम होता है। यह परम्परा अब भी विद्यमान है। बनारस के प्रायः सभी वर्ग के स्थानीय कलाकार चाहे व्यवसायी हो या अव्यवसायी सभी भाग लेते हैं तथा माँ के दरबार में अपना श्रद्धा सुमन चढाते हैं। यह समारोह चार दिवसीय होता है। इस अवसर पर गायन, वादन तथा नृत्य तीनों विधाओं के कार्यक्रम होते हैं।

संकट-मोचन संगीत समारोह :

भक्ति या उपासना के विभिन्न मार्गों में संगीत को प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यही कारण है कि काशी में संगीत को मन्दिरों से अलग नहीं किया जा सकता। वैसे भी काशी मुख्य रूप से मन्दिरों में संगीत प्रधान आराधना पद्धति है। मन्दिर और संगीत का सम्बन्ध बनारस में बहुत धनिष्ट है यहाँ के मन्दिरों में प्रारम्भ से ही संगीत समारोह का आयोजन किया जाता रहा है।

संकट मोचन हनुमान जी के प्रसिद्ध मन्दिर प्रांगण में पिछले सत्तर वर्षों से आयोजित होने वाले वार्षिक संगीत समारोह की गणना देश के प्रतिष्ठित संगीत समारोहों में की जाती है। पहले हनुमान जयन्ती के अवसर पर संकट-मोचन मन्दिर में भजन कीर्तन का कार्यक्रम होता था। आस-पास के इलाकों से रामायण दल आकर पूरी रात रामायण गाते बजाते थे। तीन दिन तक धार्मिक प्रवचन होते थे परन्तु धीरे-धीरे मंन्दिर के महन्तगण, काशी के बुजुर्ग कलाकारों तथा आयोजकों का झुकाव शास्त्रीय संगीत की ओर हुआ तत्पश्चात यहाँ प्रत्येक वर्ष शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रम आयोजित होने लगे।

विगत वर्षों से संकट मोचन मन्दिर में पांच दिवसीय संगीत समारोह मनाया जा रहा है। देश के ख्याति प्राप्त गायक, वादक, नर्तक यहाँ आकर अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। इस संगीत समारोह में भाग लेने का यहाँ कोई पारिश्रमिक नहीं लेते। इसके पीछे आध्यात्मिक भावना जुड़ी हुई है। पहले यहां महिलाओं का कार्यक्रम नही होता था, परन्तु अब सभी कलाकार समान रूप से अपना-अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं तथा हनुमान जी के समक्ष अपनी-अपनी हाजिरी देते हैं।

काशी के श्रोता संगीतकारों की कद्र करना जानते हैं। भोर की लालिमा देखकर भी फरमाइशों की होड़ सिमटती नहीं है और सुनने वालों की भीड़ इतनी लगती है कि मानो पूरा बनारस संकटमोचन मन्दिर के परिसर में उमड़ पड़ा हो

ध्रुपद मेला :

बनारस के तुलसी घाट पर शिवरात्रि के एक-दो दिन पूर्व से ही ध्रुपद मेला आरम्भ होता चला आ रहा है। इस सांगीतिक समारोह में सिर्फ ध्रुपद गायकों को ही प्रस्तुति के लिए आमंत्रित किया जाता है तथा पखावज के वादन की भी इस समारोह की विशिष्ठता है। रात भर देशी-विदेशी श्रोता वीणा, सुर बहार, पखावज, ध्रुपद आदि की रसानुभूति करते हैं। 1975 में अखिल भारतीय ध्रुपद मेला समिति अस्तित्व में आयी एवं पं॰ लालमणि मिश्र, पं॰ अमर नाथ महंत, प्रो॰ प्रेमलता शर्मा, डॉ॰ राजेश्वर आचार्या आदि के सद्प्रयासों द्वारा प्रो॰ वीरभद्र मिश्र द्वारा इस समारोह का उद्घाटन किया गया।[5] तब से लगभग प्रत्येक वर्ष यह समारोह संचालित होता आ रहा है।

बुढ़वा मंगल संगीत समारोह :

बुढ़वा मंगल बनारस का एक अनूठा सांगीतिक मेला था जो होली के बाद मंगलवार को या फिर संवत् के अंतिम मंगलवार को गंगा की लहरों पर एक अनूठा मेला लगता था जिसे बुढ़वा मंगल कहने लगे। डा. मोतिचन्द ने अपनी पुस्तक 'काशी का इतिहास' में लिखा है कि मीर रूस्तम अली बहुत ही

सुरूचिपूर्ण व्यक्ति थे बनारस का प्रसिद्ध मीरघाट भी इन्होंने बनवाया था और बनारस का प्रसिद्ध बुढ़वा मंगल मेला इन्होंने ही प्रारम्भ किया था।[6] काशी नरेश महाराजा ईश्वरी नारायण सिंह के समय में इस मेला को बहुत बढ़ावा मिला था उन्होंने इस मेले को चरमोत्कर्ष पर पहंचाया था। भारतेन्दु युग के समकालीन लेखक श्री प्रताप नारायण मिश्र ने अपनी पुस्तक चरिताष्टक में मीर रूस्तम अली का बुढ़वा मंगल मेला (समारोह) का जनक और पोषक कहा है।[7] बुढ़वा मंगल का मेला बजड़ों तथा नाव पर शामियाना तानकर जमीन पर गलीया मसनद, तकिया लगाया जाता था इन्हें पटेला कहा जाता था। सभी जगह बड़े-बड़े खण्डों में रोशनी जगमगाती थी तथा पटेला पर नृत्य-गीत की गूंज रहती थी नावों तथा बजड़ों का इस प्रकार जमघट रहता था कि लोग नाव द्वारा रामनगर से राजघाट तक चले जा सकते थे। गत वर्षों से क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्र संस्कृतिक विभाग उत्तर प्रदेश एवं बुढ़वा मंगल आयोजन समिति व स्थानीय प्रशासन के सहयोग से इस समारोह को जीवंत स्वरूप प्रदान किया जाता रहा है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि काशी की पारम्परिक थाती काशी के सांगीतिक समारोह, काशी के अप्रतिम उत्सवों का प्रतिनिधित्व करते हैं ऐसे विभिन्न प्रकार के सांगीतिक समारोह काशी जैसे जीवंत नगरी में ही सम्भव है। धार्मिक एवं सांस्कृतिक नगरी संगीतादि व अनेकानेक विधाओं के उन्नयन एवं विकास में काशी नगरी का योगदान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

अन्त टिप्पणी :

1. छायानट पत्रिका, जनवरी-मार्च अंक, 1988, पृ॰-25
2. जौहरी, डॉ॰ रेनू, श्रद्धांजलि, संस्करण 2017, पृ॰-16
3. वही
4. स्मारिका पत्रिका, काशी संगीत समाज, वाराणसी, 2006, पृ॰-102
5. जौहरी, डॉ॰ रेनू, श्रद्धांजलि, संस्करण 2017, पृ॰-55
6. वही, पृ॰-16
7. वही, पृ॰-16

संगीत का मनोवैज्ञानिक प्रभाव : एक चिन्तन

विनय कुमार
शोध छात्र, गायन विभाग
संगीत एवं मंचकला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ॰ के॰ ए॰ चंचल
शोध निर्देशक, गायन विभाग
संगीत एवं मंचकला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सारांश

संगीत एक ऐसी दृश्य श्रव्य कला है जिसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक और विशाल है। खास कर मानव जीवन के रहस्थात्मक पहलुओं की बात करें तो संगीत एक प्रमुख उपकरण के रूप में निकल कर आता है यह कला मानव जीवन के अन्सुलझे रहस्यों का उद्घाटन करने में सक्षम एवं सफल पायी गयी है। तभी इस कला को भारतीय वांग्यमय में ऋषिमुनियों द्वारा प्रमाणित किया गया है।

मनोविज्ञान मानव शरीर के अन्तः करण की सूक्ष्म-स्थूल जानकारियों को जानने उन्हें समझने का विज्ञान है जिसमें संगीत की प्रेरणा अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मन अत्यन्त सूक्ष्म एवं वेगशील है। वेगशीलता किसी विषय के अनुकूल आकर्षित होने पर चंचलता कही जाती है परन्तु वेगशील चंचल मन मानव शरीर में पायी जाने वाली सभी इन्द्रियों का राजा माना जाता है। यही मन सभी इन्द्रियों को नियन्त्रित संतुलित एवं संचालित करने का दायित्व भी निभाता है।

मन का शक्ति श्रोत संगीत है। इस पर जितना प्रभाव संगीत कला का पड़ता है। शायद ही किसी और कला का उतना प्रभाव इस पर पड़ता हो। क्योकि लैकिक दृष्टिपात करे तो मनुष्य चाहे सुख में हो या दुख में हो वह संगीत की शरण में ही अपना सुख दुख पा लेता है। या यूं कहें कि प्रकट करता है और क्रिया नैसर्गिक है। यही नैसर्गिकता इस बात को प्रमाणित करती है। कि संगीत मनोवैज्ञानिक का मूल समझने के लिए प्रमुख उपागम है।

बीज शब्द

भारतीय वांग्मय-संगीत-मनोविज्ञान-मनोवैज्ञानिक चिन्तन।

भारतीय वांग्मय ने साकार तथा निराकार ब्रह्म की संकल्पना को उजागर ब्रह्म किया है। साकार ब्रह्म की कल्पना में देवी-देवताओं का स्वरूप निर्धारण किया गया है यही कारण रहा है कि धर्म में संगीत को प्रमुख स्थान प्राप्त है।

ललित कलाओं में वास्तु कला, मूर्तिकला, चित्रकला, काव्यकला एवं संगीत कला इन पाँच कलाओं का समावेश है। नाद सृष्टि का आधार तत्व है। नाद से ही संगीत की उत्पत्ति हुई है अतः स्थूल रूप में हम यह मान सकते है कि सृष्टि की उत्पत्ति का उपादान कारण संगीत ही है। संगीत के महत्व पर श्री रिंगे कहते है कि संगीत मानव मात्र की आत्मा का ऐसा भोजन है जिसके आभाव मे मानवेचित गुण फल-फूल नहीं सकते।''[1] प्लेटो ने कहा है कि 'Music

is a moral low- It gives a soul to the universe wings to the mind, Light to imagination, a charm to sadness and gaiety and life to everything'[2] इसी विषय पर अरस्तु के विचार भी है कि 'Music is more obvious that other arts both expressive and formal'[3]

मानव जीवन में भावात्मक क्रियात्मक तथा ज्ञानात्मक इस प्रकार के तीन पक्ष पाये जाते है। इनमे खास कर भावात्मक विकास में सबसे बड़ी भूमिका संगीत निभाता है। विश्व के इतिहास के पृष्ठों को पलट कर देखें तो प्राप्त होता है कि प्रत्येक सभ्यतामें संगीत को प्रमुख स्थान प्राप्त है। खेतों में काम करता हुआ किसान, थकावट से चूर होकर पेड़ की छाया में बैठकर गुनगुनाने लगता है इससे हम समझ सकते हैं कि संगीत मानव जीवन में कुछ अलग ही स्थान रखता है। मानव के वाह्य एवं आन्तरिक विकास, राष्ट्रीय एकता, मनोरंजन इन सभी दृष्टियों से संगीत अपना प्रमुख स्थान रखता है।

भारतीय संगीत में धर्म की महत्ता अधिक है। धर्म अध्यात्म के मार्ग को प्रेरणा प्रदान करता है। इस मार्ग का पथ प्रदर्शक संगीत को ऋषिमुनियों ने एक स्वर में कहा है। यही कारण रहा है कि सनातनी मंदिर मठों में पूजा अर्चना के माध्यम से संगीत सदैव से ही विद्यमान रहा है। ''संगीत में राग ध्यान और राग चित्र देवी-देवताओं पर रखे गये। संगीत वाद्यों और अंगो के नाम भी यथा वीणा तालों में ब्रह्मताल, रूद्रताल आदि देवताओं के नाम पर ही रखे गये हैं।''

भारतीय वांग्मय मे आत्मतत्व की महत्ता पर बल दिया गया है। सनातनी देह के नास एवं आत्मा के अमर होने में ही पूर्ण आस्था रखते हैं। संगीत कला का सम्बन्ध मुख्य रूप से मानवीय संवेदना के साथ हुआ है। जब भावों की अभिव्यक्ति स्वर, लय, ताल के माध्यम से होती है तभी इस महती कला का जन्म होता है। संगीत एक ऐसी मात्र कला है जिसमें कलाकार अपने मनोगत भावों व कल्पनाओं को स्वर, लय, ताल, आदि के माध्यम से व्यक्त करता है। ''संगीत का मौलिक उपकरण स्वर है। जो आहत नाद से उत्पन्न होता है। नाद की उत्पत्ति 'प्राण' और अग्नि के संयोग से होती है। 'प्राण ब्रह्म ग्रन्थी में रहता है जो ब्रह्म का स्थान है। वह ब्रह्म इस सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, वर्धन और संहार का कारण है। ब्रम्हा, विष्णु-महेश भी नाद रूप हैं। जगत का सम्पूर्ण व्यवहार ही नाद पर अवलेबित है। जीवन में चेतना का प्रतीक स्पन्दन रूप नाद है।''

संगीत कला को साधन और साध्य दोनों ही रूपों में देखा जा सकता है। जब अभिव्यक्ति और अनुभूति दोनों ही सांगीतिक होती है तो संगीत साध्य होता है। जब अभिव्यक्ति सांगीतिक हो परन्तु अनुभूति लौकिक भावों से जुड़ी होतो संगीत सदैव साधन रूप में ही प्रयुक्त हुआ करता है।

मानव जीवन के विभिन्न क्रियाकलापों में किसी न किसी रूप में संगीत की भूमिका देखी जा सकती है। मानव ने प्रारम्भ से ही नाद की अलौकिक शक्ति का आभास किया है। संगीत जहाँ एक ओर मनोरंजन का साधन बनता है वहीं दूसरी ओर यह मानव के आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से ईश्वर को प्राप्त करने का श्रेष्ठ मार्गभी प्रशस्त्र करता है। टालस्टॉय ने संगीत कला को मानसिक परिष्कार और संस्कार का ऐसा सबल साधन माना है जिसके द्वारा मानव विश्व में भाईचारे और स्नेह के भावों का व्यापक प्रचार-प्रसार करता है। संगीत में मानव अपनी जातिगत, धर्मगत्, भाषागत् बन्धनों को भूल जाता है। वस्तुतः ये शब्द या भाव ही है जो कि मानव में परस्पर बैर, द्वेष, घृणा इत्यादि के भाव उत्पन्न करते हैं। लेकिन यदि शब्द एवं भाव संगीत कला के धरातल पर नवीन रूप में अवतरित होते हैं तो कुछ क्षणों के लिए शब्दों को अर्थ की ओर श्रोताओं का ध्यान नहीं जाता और वे स्वरों के परमानन्द में सराबोर हो जाते हैं। स्वर वह शक्ति है जो मनुष्य के चित्र का रंजन कर उसमें प्रेम, स्नहे, सौहार्द की धारा का संचयन करती है तथा वह निरन्तर प्रवाहमान रहती है। यह आनन्द मानव की प्रत्येक पीणा दुःख का विनास करने में सक्ष्म एवं सफल रही है।

पाश्चात्य विद्वान फॉयड का कथन है कि संगीत की उत्पत्ति एक शिशु के समान मनोवैज्ञानिक आधार पर हुई है। जिस प्रकार एक बालक का रोना, चिल्लाना, हंसना आदि क्रियायें स्वतः सीख लेता है उसी प्रकार संगीत का प्रादुर्भाव भी माना जाता है[4] कि मन में मनोविज्ञान के आधार पर स्वयं ही हुआ है और कलाओं की अपेक्षा संगीत के बीजाणु मानव हृदय में अधिक पाये जाते हैं इसी प्रकार पशु चाहे मानव की भाषा को समझे पर संगीत के स्वर समुदायों का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता है इसी दृष्टि से संगीत अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक कला है।'' संगीत से प्राप्त होने वाले आनन्द को ब्रम्हानन्द सहोदर माना जाता है। आनन्द चार प्रकार के हैं -

1. ऐन्द्रिय सुख देने वाला आनन्द।
2. बौद्धिक आनन्द।
3. मानसिक आनन्द।
4. आध्यात्मिक आनन्द।

संगीत से मनोउपचार भी किया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो हम पाते हैं कि भावों की अभिव्यक्ति का सूक्ष्म एवं प्रभावी साधन संगीत ही है। स्वाभावतः मनुष्य अपने भावों को व्यक्त करना चाहता है भावों का दमन संगीत नही करता बल्कि अभिव्यक्ति में सहायभूत महत्वपूर्ण तत्व की भूमिका निभाता है।''[5] संगीत ध्येय भी रखता है कि अभिव्यक्ति सुन्दर हो उसकी विधि भी सुन्दर हो तथा उसका परिणाम भी सुन्दर हो। कई भावों सुसंवादी बनाना विभिन्न तत्वों को एकत्रिक करके सुसूत्र बनाना जीवन को सुरमयता प्रदान करना यह सभी का साधन संगीत ही है।''[6]

''संगीत का प्रभाव मानसिक विकास के सभी अंगो पर पड़ता है। मनोविज्ञान के अन्दर मन की प्रक्रिया या मन के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। संगीत के द्वारा मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभावों से व्यक्ति के होने वाले परिवर्तन तथा मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने के लिए रोग के उपचार के रूप में संगीत का विकसित प्रयोग आदि की मनोविश्लेषणात्मक पक्ष का ही रूप है ।''[7]

''प्राचीन काल में भी सामवेद के मंत्रो के गायन द्वारा असाध्य रोगों का उपचार किया जाता था। आधुनिक काल में मानसिक एवं शारीरिक चिकित्सा करने में संगीत कला का प्रयोग किया जाता है।''[8]

''भाव सरल मानसिक क्रिया है। सृष्टि के प्रारंभ से ही अनेक रूपों में उसने विचारों तथा भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही अन्य कलाओं की अपेक्षा संगीत को ऐसी उच्च कला माना है जो मानवीय ही नहीं बल्कि उच्च भावों की अभिव्यक्ति में अधिक सक्षम हैजब भाव अपने चरम सीमा पर पहुँचकर शारीरिक क्रियाओं द्वारा प्रदर्शित होते हैं तबइसे संवेग कहते है। पी॰ टी॰ यंत्र के अनुसार ''संवेग पूर्णता, जीव का वह मनोवैज्ञानिक, उन्दवेग है जिसमें चेतना, अनुभूति, व्यवहार एवं सम्पूर्ण क्रियाऐं संग्रहित रहती है।''[9]

मन संगीत के प्रस्फुटन का आधार स्तम्भ है। मन के दोनों पक्ष (शारीरिक एवं मानसिक) संगीत की उत्पत्ति में प्रेरक शक्ति का काम करते है। मन का सामाजिक पक्ष संगीत के लिए अधिक महत्वपूर्ण है। संगीत में मनोवैज्ञानिक कारक कल्पना, स्मृति ध्यान रूचि और सीखना ये मन से सम्बन्धित मानसिक प्रक्रियाये हैं। इन सभी प्रक्रियाओं में संगीत का उपयोग पूर्ण रूप से देखा जा सकता है। एक संगीतकार में स्मरण का होना अति आवश्यक है। किसी एक राग या ताल को सीखना, फिर सुनना तथा समय आने पर अपने प्रयोग ढंग से अधार पर उसे अच्छे से अच्छे ढंग से प्रस्तुत करना यह स्मरण शक्ति के बगैर कार्य कर पाना मुश्किल ही नहीं बल्कि नामुमकिन होगा। इसी तरह अन्य क्रियाओं में भी संगीतकार की आवश्यकतायें महसूस की जा सकती है।

अब हम समझते हैं कि किस प्रकार संगीत मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है मानव संगीत के प्रति स्वतः आकर्षित होता है। प्रखरता सूर्य का धर्म है दयालुता साधु का धर्म है वैसे ही संगीत के प्रति अनुराग यह मानवीय स्वभाव है। संगीत ब्राद्वय संवेदना को मन तक पहुँचाने का कार्य करता है। संगीत का प्रभाव संगीत एवं मन दोनों पर पड़ता है। संगीत में प्रेरक शक्ति भी है ऐसी प्रेरक शक्ति किस प्रकार कार्य करती है उसका दर्शन हम निम्न प्रकार से देख पाते हैं- संगीत एक ऐसी कला है जो मन को संतुलित/ केन्द्रित करने में पूर्ण सक्षम है। मानवीय धारणा है जिसने मन को केन्द्रित कर लिया उसका जीवन मानो खुदबखुद सन्तुलित एवं सफल हो गया क्योंकि मानव शरीर में अस्थिर कोई है तो वो है मन । मन को संगीत के द्वारा ही वश में करके यश वैभव प्राप्त कर सकते हैं। मन जो भावों का भण्डार ग्रह है जिसमें हर सेकेण्ड में सैकड़ो भाव उपजते हैं उसकी स्थिरता के लिए संगीत ही एक मात्र उपयुक्तसाधन है। संगीत में अनुशासन होता है। जिससे मन केन्द्रित हो जाता है यह आन्तरिक क्रिया है इसे आत्म प्रेरण से सार्थक किया जाता है।

अभी तक हमने स्वर तत्व के प्रभाव को जाना अब हम संगीत के दो प्रमुख तत्वों में से दूसरे तत्व लय तत्व की व्याख्या करेंगे। लय विहीन जीवन असन्तुलित एवं अस्त-व्यस्त ही रहता है लय जब अपनी जगह से हिल जाती है तो प्रलय होता है। लय भाव सम्प्रेषण में भी बहुत हद तक सहायक सिद्ध होती है। धीमी या विलिम्बत वीरता लय दुख और निराशा की द्योतक होती है। द्रुत गति वीरता एवं प्रेरणा की निक्षीक होती है। दुख की बात व्यक्ति अपनी धीमी आवाज में कहता है तो खुशी की बात स्वयं ही उच्च स्वर में जल्दी-जल्दी फूट पड़ती है। विलम्बित लय से द्रुत लय में प्रेरक शक्ति ज्यादा प्रतीत होती है।

मानसिक विक्रति को ठीक करने के लिए संगीत का प्रयोग होता है संगीत अनुकूलतः एक मानसिक गुण है।''[10] मन अनेक कारकों का कारण है पर उसका कारण कोई नहीं है। Identity is contribution of mind.[11] किसी भी वस्तु की संवेदना हमे ज्ञानेन्द्रियों से मिलती है। ज्ञानेन्द्रियां बृद्धि व शरीर को नियंत्रित करती है मन को नहीं। क्योकि मन का अस्तित्व मनोवैज्ञानिक है शारीरिक नहीं। 'The existence at minds phycholical rather then physical'[12]

अतः कहने का आशा यह है कि संगीत का उत्सर्जक मन है और मन भावों का उत्सर्जक है। भाव कल्पनाओ की छोर पकड़ कर नित नयी रचना सृष्टि करते हैं जिससे आध्यात्मिक चेतना, संवेदना सौन्दर्य आदि का दर्शन होता है यह सब एक उच्चकोटि के कलाकार में स्वतः सिद्ध हो जाता है। संगीत से मन संवेदना उसका प्रत्यक्षीकरण, श्रवणसंवेदना, संवेग, संगीत की अभिरूचि कल्पना सृजनात्मक शक्ति आदि का जुड़ाव रहता है। मनोवैज्ञानिक लक्षणों की बात करें तो इसमें बाह्य एवं आन्तरिक लक्षणों की भी दशायें दीख पड़ती है। बाह्य लक्षण उत्तेजना की प्रकृति उत्तेजना की प्रबलता परिवर्तन विषय की नवीनता विरोध गतिशीलता, उत्तेजना का आकार उत्तेजना की स्थिति उत्तेजना की एकान्तता उत्तेजना का सत्ताकाल वही आन्तरिक दशाये, अभिरूचि मौलिक इच्छायें मानसिक तत्परता लक्ष्य अर्थ आदन विन्यावस और स्वभाव अतीत के अनुभव संवेग सामाजिक प्रेरणाये आदि सभी मनोवैज्ञानिक दशाये हैं जो संगीत निरन्तर प्रयोग से समझी जा सकती है।

निष्कर्ष :

निष्कर्षतः यह देखा जा सकता है कि संगीत का मनोवैज्ञानिक प्रभाव हर व्यक्ति पर पड़ता है। जो कि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ही पता चलता है। यह विषय इतना व्यापक है कि इसमें शोध के मार्ग खुलते जाते हैं। इसके गर्भ में बहुत से अनसुलझे बिन्दु हैं।

अन्त टिप्पणी :

1. कुलकर्णी वसुधा भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान प्रकाशन राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर, संस्करण 2013 पृ॰ सं॰ 31
2. वहीं पृ॰ 31
3. वहीं पृ॰ 31
4. गर्ग लक्ष्मी नारायण, निबंध संगीत प्रकाशक, संगीत कार्यालय हाथरस, चतुर्थ संस्करण 2012 पृ॰ सं॰ - 319
5. कुलकर्णी वसुधा, भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर संस्करण 2013 पृ॰ सं॰ - 6-7
6. वहीं पृ॰ सं॰ - 151
7. यमनअशोक कुमार,संगीत रत्नावली, अभिषेक पब्लिकेशन्स चन्डीगढ़, संस्करण 2018, पृ॰ सं॰ - 675
8. वालिया डॉ॰ दीपिका, संगीत कला के विविध आयाम, संजय प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2012 पृ॰ सं॰ - 47-78
9. जौहरी सीमा, संगीतायन, राधा पब्लिकेशन- नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृ॰ सं॰ - 84
10. कुलकर्णी वसुधा, भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर संसकरण 2013 प्रथम पृ॰ सं॰ - 74
11. वहीं पृ॰ सं॰ - 74

A STUDY OF DEVADASI SYSTEM IN TRAVANCORE

K. S. AKILASHRI
Reg No: 19113281082002,
Full Time Research Scholar, Department of History,
Women's Christian College, Nagercoil.
Affiliated to Manonmaniam Sundaranar
University, Tirunelveli-12. Tamil Nadu

Dr. T. N. SUSEELA
Research Supervisor &
Associate Professor, Department of History,
Women's Christian College, Nagercoil.
Affiliated to Manonmaniam Sundaranar
University, Tirunelveli-12. Tamil Nadu

Abstract

The preservation of dance tradition in South India was not entirely left to lifeless temple statues and words in a dead language. Inevitably the close interrelation between religion, temple, and dance, produced a cult of temple dancers attached to temples. These dancers were called as devadasis or servants of the deity, and their part in history and culture is pertinent.The prototype of the devadasi in religious mythology is the Apsaras or heavenly nymph, who dances for the entertainment of the gods. She is found wherever Hindu thought has penetrated, whether in the guise of "flying angels" as in the Tunhuan Buddhist caves in northwest China, or as "Celestial dancers" in the sometimes Buddhist, sometimes Brahmanicaltemples of Angkor in Cambodia.History offers a parallel in the Vestal virgin, the Nun and those noble women who sacrificed wealth, power and position to dedicate their lives to the particular deity they worshipped. In actual practice in South India the private lives of these repositories of art, the devadasi, became a difficult question. The profession of prostitution, they naturally followed, brought odium upon them and their art. In the wake of the many social reform movements that arose in modern India, attempts were made both by legislation as well as by the creation of public opinion, to abolish the caste and institution of devadasis.

Keywords

Devadasi, Travancore, Dancers, Art, Culture, Apsaras

In Travancore a dancing girl attached to a temple was also known as Kudikkari or 'Servant of God'. The Chokur inscription of the reign of Goda Ravi contains a special reference to the Devadasi system. The Tiruvalla Copper plates in the 12 th century A. D. mentions about the Devadasi system in Travancore. It was from the onset of 12 th century that the institution of Devadasis lost its respectability. The rise of Brahmins to a position of pre-eminence in the social hierarchy was one of the major factors that contributed to this disrepute. The leisurely class of Brahmins who also emerged as the landowning class became sensually attracted to this class of women and exercised

a corrupting influence on them. They were Naduvazhis of whom there was a large number during the period following the break-up of the Chera Empire. It became the fashion with the upper caste Nambutiries and Naduvazhis to patronize the Devadasis by bestowing favours on them for the sake of female companionship and sexual gratification. The Devadasis also took this opportunity to amass wealth and enhance their influence and status in the society. It was their sole concern thereafter to entertain the Janmisand Naduvazhis rather than worshipping the God. The Institution also became hereditary. The institution of devadasis attached to the better-endowed temples came to be seen as an additional source of income for the temples. Some devadasis, where they were reduced to being merely temple attendants, came to be regarded as women of easy virtue. Others, however, who were highly accomplished women, were treated with deference. A part of the reason for this was that they were educated and professionally trained in the arts, particularly music and dance.

Marriage in the case of a Devadasi was a renunciation of ordinary family-life and a consecration to the service of God. The girl to be married is generally between six to eight years of age. The bridegroom is the presiding deity in the local temple. Therefore she becomes the wife of the deity in the sense that she formally and solemnly dedicates the rest of her life to his service with same constancy and devotion that a faithful wife united in holy matrimony shows to her wedded lord.The life of Devadasi bedecked with all the accomplishments that the muses could give was one of spotless purity. She undertook fasts in connection with the temple festivals, such as the seven day's fast for the Apamaragam ceremony. During the period of this fast, strict continence was enjoined. She was required to take only one meal and that within the temple. Daily routine included of Devadasi were as follows: attending the Diparadhana, the waving of lighted lamps in front of the deity at sunset every day. Sings hymns in his praise, dances before his presence and goes round with him in processions with light in hand. After the procession, she sings a song or two from the Jayadeva's Gita Govinda and with a few lullabies hymns her work for that night is over. When she grew physically unfit for these duties she is formally invalidated by a special ceremony, i.e., Totuvaikkuwa (old mother) and was entitled only to a subsistence allowance. When she dies, the temple contributes to the funeral expenses. On her deathbed the priest attends to her and after a few ceremonies immediately after death, gets her bathed with saffron-powder.

In ancient days, the dedication of women as devadasis in Hindu temples was regarded as a sacred one. But the practice was degenerated into a method of initiation of young women to a life of immorality and prostitution. The existence or otherwise endorsement of shastraic sanction to the practice of dedication as Devadasis was also immaterial. The shastras are against vice and impurity of all kinds, and enlightened public opinion is against tolerating the continuance of a practice which, in the name of service to God, has condemned a certain class of women to a life of either concubinage or prostitution. A Hindu woman who was dedicated is considered by custom to be incapable of contracting a valid marriage

thereafter. The Devadasi as a corrupt social institution also attracted the attention of the administrators and social reformers in modern times. The Devadasis who were dependents of the temples had not only to perform services such as singing and dancing within the temple but also to do some menial duties. They had also to attend the reception of the members of the royal family when they visited the temple. The system had its evils and it came to be looked upon as an anachronism in modern conditions. Hence during the Regency of Maharani Sethu Lakshmi Bayi the system was abolished by Royal proclamation in the temples of South Travancore where it was prevalent. It helped the devadasis to relieve from the age old socio-religious evil from Travancore.

References :

1. Augustus Somerville, Crime and religious beliefs in India, New Delhi, 2000, pp. 14, 15.
2. Faubion Bowers, The Dance in India, New York, 1953, pp. 18, 19.
3. Sreedhara Menon. A., Kerala History and its Makers, Kottayam, 2008, p. 81.
4. Romila Thapar, The Penguin History of Early India from the origins to A.D. 1300, New Delhi, 2003, pp.391,392.
5. Travancore Archaeological series, Vol.-II, pp. 149-152.
6. H. H. Uthradom Tirunal Marthanda Varma, Travancore the footprints of destiny my life and times under the Grace of Lord Padmanabha, New Delhi, 2011, p. 241.

Traversing Through The Regional Variations In The Ritualistic Performance of Kuthiyottam

Gadha T. R.
Department of English
Amrita Vishwa Vidyapeetham, Amritapuri

Rajalekshmi P.
Department of English
Amrita Vishwa Vidyapeetham, Amritapuri

Dr. Krishnajamol K.
Department of English
Amrita Vishwa Vidyapeetham, Amritapuri

Abstract

'Kuthiyottam' is a portmanteau term derived from the two words, 'Kuthuka' and 'Oduka'. The relevance of these terms can be understood by looking into the ritual and performance of Kuthiyottam. This ritual is said to be originated from 'Ottanthullal'. Kuthiyottam is the process of bringing the child who got pierced, from a sacred area to the temple where the Kuthiyottam is to be performed. This journey, on the other hand is done with fast-paced and dance-oriented steps. The people will be taking this child to the temple and will be dancing throughout their journey. Kuthiyottam is being practised in various places in Kerala like Chettikulangara, Attukal, Kadakkal, Valiyakulangara, etc. Even though the ritual is same, it is observed with minor changes in all these three areas. This paper explores the differences in observance of this ritualistic art of Kuthiyottam in various places of Kerala especially Chettikulangara, Attukal, and Kadakkal. The causes of these regional variations, difference in the procedures, make-up and attire, variations in dance steps and music of Kuthiyottam, and various myths behind practicing this ritual, its reasons, etc. are also being illustrated here. This paper is an initiative to provide further details of the ritual of 'Kuthiyottam', which is an ancient ritual about which more studies were not conducted yet. Hence, it is an attempt to explore the ritual of Kuthiyottam practiced in different parts of Kerala in different forms and manners.

Keywords

Kuthiyottam, ritual, regional variations, myths, socio-cultural anthropology, cultural relativism

Introduction :

Ritual is a chain of activities which uses several words, actions, and gestures etc. These are usually performed based on certain sequences which are already set. Rituals are usually based on the religious communities and its traditions and are thus performed in its own unique ways. Kerala is well known for its rich culture. The art forms present in Kerala, makes this region

unique in its own manner. The most important thing to highlight here regarding these art forms and its performances is that these art forms were passed on to the present generation from the past generations over decades.

Kuthiyottam is a traditional ritualistic dance form which is performed in various parts of Kerala, India. This ritual is carried out in the month of Kumbham in the Malayalam calendar. It is performed on the day of Thiruvathira, an important festival in the Hindu Calendar. There are several preparations for this ritual. The dance is performed by young boys who are dressed as warriors and are accompanied by a group of musicians playing traditional instruments. The boys perform various martial arts movements such as sword fighting, spear throwing and shield fighting. This ritual is dedicated to female deities as an offering to them.

As per the information given by Mr. Dasan who organised Kuthiyottam in his home in Alappuzha, Kuthiyottam ritual involves the tying of a sacred thread around the waist of a male devotee and then dancing for several hours with the accompaniment of traditional music. The ritual is believed to bring good luck and prosperity. This ritualistic dance form is usually performed in temples and other sacred places. The boys who are doing Kuthiyottam are dressed in traditional attire, and they wear a crown as well. They are accompanied by a group of musicians playing traditional instruments such as chenda, maddalam, kuzhitalam, thimila and elathalam. The dance is usually performed in a circular formation and boys move in a clockwise direction.

In recent times, Kuthiyottam has become more of a cultural performance than a religious ritual. The procession is still carried out in some parts of Kerala, but it is now more of a performance that is enjoyed by the villagers. The boys are still dressed in traditional garments, but they are now accompanied by a band of musicians playing modern instrument. The gifts and blessings are now given to the boys in the form of money and other items. The ritual is still believed to bring good luck and prosperity, but it is no longer viewed as a religious ritual. The most important practise during the ritual is 'Chooralkuthu', which epitomises the 'Social transformation' happened over centuries. Mr. Dasan was also undergone the same ritual of Chooralkuthu in his childhood.

As the name of this ritual itself suggests, 'Kuthuka' indicates the insertion and piercing of two feet long thread either made of gold or silver into the abdomens of the boys who are assigned to be pierced and 'Ottam' denotes running or fast walking. Earlier, Chooralkuthu was practised with canes which are shaped in a particular manner. They were known as 'Polimbukal'. These canes were pierced through the abdomen of boys who are doing the ritual of Kuthiyottam and hence the name 'Chooral kuthu' or 'Chooral muriyal'. These boys will be on or below eight years old. Now-a-days, instead of this cane, threads made of Gold or Silver are being used. These children are prepared for 'Chooralkuthu' practise and after this blood sacrifice, they are seen as ghost and are thus seen as unlucky by the society. Thus, it is believed not to see these children while going for any good purposes as they are seen as bad omens, especially in Alappuzha district.

Myths and History :

While having an interview with Mr. Radhakrishnan, who is well-known as 'Aashan, he described the following myth.

He was once a performer and now teaches Kuthiyottam especially in the Kadakkal region. According to the story narrated by him, the dance is believed to have originated from the story of Lord Krishna and his cousin Balarama, who were both warriors. According to a legend, Lord Krishna and Balarama were sent to the kingdom of Mathura to defeat the demons Kamsa and Naraka. The boys performed various movements and actions performed in martial arts during their fight with the demons and this is believed to be the origin of Kuthiyottam.

Another myth is that even after killing Daruka, the demon, Goddess Kali was not able to come out of her anger. To make her calm, her husband, Lord Shiva gave birth to two children. These two children were created from his own dirt. He, then placed these children on the path through which Goddess Kali was passing through. After this, he went to Kailash and started dancing naked. Every year, this ritual is being practised to remember or commemorate these events. This is yet another myth behind practising this ritual. This information was given by Mr. Dasan from Alappuzha while having an interview with him.

Mr. Dasan also narrated yet another story in the interview, which is about a lecherous King who was a womaniser. He used all the women of his kingdom to satisfy his lust, and nobody dare to stand against his cruel attitudes. The poor people prayed to God for help. During this time, a great sage visited the kingdom and after knowing these helpless situations of the people he taught them a song consisting of four musical monologues, called Padam. He also advised them to sing the song in the dusk to please Goddess Bhadrakali and they should do it in front of a lighted lamp and Nirapara (Bushel), which is a vessel filled with rice or grains. The Kuthiyottam that is practised now also has the songs with the same four padams and the dance steps. Hence, yet another belief is also there, that is., Kuthiyottam is originated from this myth.

Another story is that a king who was the devotee of Goddess Bhadrakali once did meditation (Tapas) to please her. She was pleased with his faith and Bhakti, hence appeared before him, and told him to ask for a boon. He asked her to give all the people of his kingdom prosperity and asked to cure the people who are suffering from various diseases, pains and sufferings. For fulfilling this desire of the King, Goddess asked him to find a male child who is perfect in every manner. Also, he should be below ten years old, and he should be taught all the Vedas and Sacred texts before attaining the age of ten. When he became ten years old, he should be sacrificed to the Goddess, then only the King's desires will get fulfilled. For this, the King started organising some ritualistic practises and from that the ritual of Kuthiyottam and sacrifice got originated. This myth was narrated by Mr. Radha-krishnan Aashan from Kollam, while having an interview with him.

This ritual is being performed in Devi Temples, especially in those temples which are dedicated to Goddess Bhadrakali. This ritual art is performed to ward off deadly diseases like smallpox and poison ivy and to gain the favour of their imaginary deities. The devotees who have received the blessings of the Goddess perform Kuthiyottam as an offering to please the deity. In the contemporary scenario as well, it is believed that if they do not do this, their entire family will perish under the wrath of the goddess of Smallpox.

Regional Variations in Performing The Ritual of Kuthiyottam :

The ritualistic practices serve as a connecting link between humans from one region and other outer secluded spheres and describes the way people live their life. The rituals have numerous impacts on the behaviours of the society. This comes under the theory of Rites of Passage, which is a term coined by a French ethnographer, named Arnold Van Gennep, in his work, "Les Rites De Passage" ("The Rites of Passage"). In Rites of Passage, a transition occurs in the life of each person at different stages of life. But they have a buttress perspective about the dominancy that religion has. They also reinforce their perspective about the values that resides in a culture. These transitions from different stages are evident in the observances of this ritual with certain variations in different places of Kerala itself. Here, these boys who practises the ritual of Chooralkuthu in Kuthiyottam are undergoing three stages of transformation. The first stage is 'Separation', in which these little boys are separated from their own home and are forced to stay in the temple premises for one to two months. In the second stage, that is., 'Transition', these boys are taught the dance steps and songs of Kuthiyottam. In the third stage, that is., 'Re-incorporation', these boys are prepared for the 'Sacrifice'. After the ritual of 'Chooralkuthu', they are seen as ghost or as bad omens in some places. Through an ethnographic approach, the people and their culture, the participation of people, etc. are also analysed with respect to the ritual of Kuthiyottam, which might also contribute to the differences.

Difference in the procedures :

There are several differences that can be noticed in the dance, music and the observance of Kuthiyottam in Trivandrum, Kollam, and Alappuzha districts of Kerala. The following details about the procedures of Kuthiyottam in Chettikulangara temple were written based on an interview conducted with Mr. Dasan, who resides in Alappuzha district. Chettikulangara is a place located in the Alappuzha district of Kerala. In Chettikulangara, this traditional art form is being embodied in its purest form even today, especially on all the thirteen regions (Karas). Here, the children are bought for Chooralkuthu by giving money to their parents and is usually done only once. Here, one child can do this ritual only once as it is believed that the child is being sacrificed. Later this boy is seen as a bad omen, waste, or even as a ghost as per the belief. Here, Kuthiyottam starts during the time of 'Shivarathri'. All the ritual ceremonies will begin seven days prior itself. In the first six days, the most important procedure is to teach the boys the Kuthiyottam dance steps. The first step is to prepare a proper place for the deity in the house of the organiser. The dance practises are performed in front of the deity only.

The place for the deity (Devisthanam) will be cleaned and made pure with cow dung and the 'Pandal' will be fully decorated. Banyan leaf, mango leaf, blossom of Areca Palm, Palm leaves, etc. are used for decorating. The position of Devi is being set at the back of the specially made shed (Pandal). A pedestal covered with red silk cloth, also known as 'Pattu', will be there. There will be a sword above it. The rice measuring units like the Nirapara, Niranazhi, etc. were placed above a steamed plantain banana leaf. Red garlands will be placed on the top of the pedestal and coconut blossom will be placed on the Nirapara as well. There will be preparations for Ganapati as well; like

cracked coconuts, jaggery, sugar-candy, aval (beaten rice), malar (popped rice), red bananas (Musa Paradisiaca), etc. All these things will be done in the evening time. The singers will sit in the left side of the deity. An oil lamp will be lighted before them. Only in Alappuzha district, these long procedures are practised.

Usually in those 'Devisthanam' (where the deity is placed), during the evening time a non-brahmin person should do the 'Deeparaadhana' ritual, which is done using lighted lamps in temples especially during the dusk. The 'Guru' among the singer's group or any other elder people will be doing the same. After this, feast will be given to every person who comes to see these dance practises, which will start by 8 O' clock. This will be continued till the sixth day of the ritual. For half-an-hour, they will be teaching the children dance steps, whose positions will be later taken by the experts. This will be continued till 2 O' clock in the morning. These rituals will be done before five days of Kuthiyottam. Sixth day is dedicated for resting and on this day, the hairs of children will be cropped. The feast given on this day is very important since it signifies harmony, unity in diversity, etc. This is because if anyone is being avoided, these people believe that Goddess will show anger on them as the Goddess will appear to take part in the feast disguised as an ordinary person. All these comes under the first session.

On the seventh day, the second session begins. Observances were given more importance during this session. The children will be bathed and then decorated with make-up during this time. Then, chooral-kuthu is done to them in front of the Goddess. On both sides of the stomach, they will rub ashes, which will help in separating the skin from the flush. Later, through this separated skin, they do chooralkuthu. This is done by people who are experienced. During this time, the boy will be undergoing a special feeling in which he will be protected from fear, sufferings, and pain. Elephant with caparison, Amman kudam (pot), Royal umbrellas (Muthukuda), Band instruments, Panchavaadyam (orchestra of five instruments, i.e., thimila, maddalam, ilathalam, edakka and a wind instrument Kombu), Tavil, Nadaswaram or Nagasvaram (the double reed wind instrument), etc. will be there. These children will move by dancing and after reaching the temple, they will be circling the deity thrice. Then, they will do the important steps, called 'Thaalavattangal' and after that they will be taking these pierced canes out of their body and will offer those to the Goddess. After all these, they will return to the organisers' house and will have feast and receive other valuable gifts.

As per the details given in the book, "Kadakkal Devi Kshethram Eitheehyavum Sankalppangalum" written by J. Murali-krishnan, in Kollam district, especially in the Kadakkal region, those people who organise this ritual will be assigning their own children to do the ritual. This is done on the Thiruvathira day. Here, before the ritual of Kuthiyottam, songs and dances will be done in houses only on one day only. The boys who are doing Kuthiyottam not necessarily need to learn dance. Here, Kuthiyottam is not done in a massive manner, like that observed in the Alappuzha district. On the day of Kuthiyottam, the dancers will be performing, and these children will be following them. These children will be placed in the centre and these dancers will be dancing around them. Usually, the same boy will be doing Kuthiyottam for two to three times, here. This is done based on the belief that they

are giving their own children to the Goddess as an offering.

Here, usually this ritual is done in a single day recently. Earlier it was done for several days, and feast were given to everyone during Kuthiyottam which was done in houses as well. Chooralkuthu is done inside the temple premises for these boys, and they will do circumambulation around the temple as well. After the circumambulation, these canes will be removed from the stomach of these boys in front of the Goddess, and it will be offered to the Goddess as well. They will remove the red silk cloth (Pattu) from their waist and later offer that as well to the Goddess. In the Kottarakkara group of perfomers of Kuthiyottam, there are some peculiarities. The boy child who is sitting on the shoulders of his parent, along with a drummer (Chendakkaran) is a kind of symbolic procession. On the day of Thiruvathira Mela, this procession (Khoshayaathra) is circled up to five-hundred times on that single day alone.

In Attukal, which is a place in the Trivandrum district of Kerala also, those people who organise this ritual will be assigning their own children to do the ritual. This is also based on the belief that these children are given as an offering to the Goddess. Usually, the same boy will be doing Kuthiyottam for two to three times here as well, like that in the Kollam district. Here, the children are being given to the temple authorities seven days prior to the ritual and hence there will not be any practises in the houses of people. These children should bath thrice a day and they must do the temple circumam-bulation by keeping themselves wet. They should prostrate before the Goddess as well. The food for them will be prepared inside the temple and they should eat that food only.

According to the book, "Kuthiyottapaattukal" by Harippad Mohanakumar, on the seventh day, at a fixed moment in the night, the children dressed in the form of Lord Krishna are taken in procession from that temple to another nearby temple after doing chooralkuthu. The sides of their stomach are tied with a thread which has hooks curved like a bait at both the ends. On the next day, these children will be brought back to the first temple itself and then they do the temple circumambulation. After that, these canes will be taken out from their body and after offering that to the Goddess they will disperse. Colourful processions will be there, but songs and dances are not usually done here. Now-a-days, Kuthiyottam processions are held only during the night-time.

Difference in the dance steps :

According to the information provided in the book "Kuthiyottapaattukal" by Harippad Mohanakumar, there are four methods for Kuthiyottam dance, known as 'Chuvadukal'. In the first Chuvadu, which is related to the songs with the first Rhythmic Taala, along with the dance steps, some flexible steps like 'Soochivayppu', 'Vandikkiruppu', 'Thettukaal', etc. are also done by the dancers. Whereas the second Chuvadu is related to the songs with the second Rhythmic Tala and the third Chuvadu is related to the songs with the third Rhythmic Tala. The fourth chuvadu is related to the songs having the fourth Rhythmic Tala. Some other types of 'chuvadu' are also possible which have some similarities with the steps of other art forms and are in relation with the difference in the Rhythmic Tala of the songs that are sung.

As per the information given by Mr. Radhakrishnan Aashan and the details

given in the book, "Kadakkal Devi Kshethram Eitheehyavum Sankalppangalum" written by J. Muralikrishnan, a group of six or eight boys will be doing this in a circular manner in Kadakkal region. They need to be at least five years of age and below fifteen years of age. A lighted lamp will be placed on the centre, and they will be circled around that lamp for dancing. Along with the same basic four steps or Chuvadukal of Kuthiyottam, some similarities with the martial art of Kalarippayattu can also be seen here, which got mixed up with the dance steps. 'Ganapathi' or 'Vanakkam' is one such. People will be performing this by standing in a circle. They can make any step according to their likes, but it should combine with the rhythmic tala. The main purpose of doing this is to pray to Lord Ganapati before starting the dance. 'Thettukaal' is yet another type, which is similar with the 'Soochikkiruppu' in Kadhakali. The steps of 'Kudam Pooja' are quite easy as it has only three jumps.

'Kalyanakkali', 'Saari', etc. are also performed, but rarely only. 'Vandikkidal' is another form, which is done after doing Thettukaal. If it is done in one side, then it is called 'One side Vandi' and if it is done on both the sides, then it is called 'Two sided Vandi'. 'Soochikkidal', 'Kaakkakaalchuttu' are also some other types. 'Kasarth' is yet another type, which has another name called, 'Kasarthu marichil'. 'Kasarthu Namaskaram', 'Kasarthu chaattam', etc. are also done along with this. 'Irunnondammaanam', 'Ninnodammaanam', are also included among these. All these are done in accordance with the rhythmic tala. Earlier, a group of at least four people performed the dance in Kuthiyottam. When they get tired, another group takes their place, since there were many devotees for performing this ritual. They stand face to face and dance. This dance is giving importance to the dance of Lord Shiva, 'Tandavam'. It starts from sitting by stepping to the rhythm, moving from side to side, shaking hands, and moving the limbs. The dance starts very slowly according to the beat of the song. Gradually, the rhythm gets tighter, and the dance becomes faster. As the beat of the song reaches the fourth beat, the audience will roar and rap which ultimately lead to the fastest pace of dance. Again, the song on the next beat begins and they start to dance accordingly. This pattern continues till the end of the ritual. But when the contemporary scenario is taken into consideration, there will not be any other group to perform if the first group gets tired, like in Alappuzha. Only a single group will be performing from the beginning till the end. If any accidents happen to anyone's legs during the dance, then they will leave the group and the rest of the people will continue dancing.

There are several changes that can be seen when the link between the past and the present is taken into consideration. When the people get involved in social relationships, a transformation can be seen in the people who practised Kuthiyottam. The people of Kadakkal once celebrated this ritual in its fullest form, but now the entire ritual and its practises were being cut-short just to the name. People were not much interested in learning and observing this ritual in the present, unlike the past in Kadakkal. Whereas, in Chettikulangara alone, the ritual is being practised without many changes and is celebrated completely as well. People participation thus became an important factor.

Difference in the songs :

In his book, "Kuthiyottappattukal", Harippad Mohanakumar explains that, for

Kuthiyottam, usually four basic Talas are used. They have separate vaaythari or oral commands. These songs are known as 'Kuthiyottakkummi'. Before singing the songs, they will be singing the vaaythari of the different rhythmic talas. The Guru or the 'Aashan' will start singing the songs. After singing the vaaythaari twice, the Aashan will start singing the couplets, which will be based on some stories. After Aashan finishes the couplets, the other members will repeat the vaaythari. There will be four to five members in the group of singers, including the Aashan. They will be using their hands for Tala. Now-a-days, large cymbals called Jalra are used along with a frame drum called Ganjira. The double reed wind instrument, Naagaswaram is also used.

In the first rhythm, vaaythari is used before and after every couplet. In the second rhythm also, it is used just as in the first rhythm. Whereas in the third rhythm, unlike the first and the second rhythm, it can be seen that, there is a difference in the number of letters, rhythm, and metre. The first and second couplets of Vaaythaari are repetitions of the first line itself. But this pattern changes when it comes to the third Thaanavattam (the tala of the tune of songs in Kuthiyottam which also includes paana and kummi) as it has double units (Guru) than the first one. The fourth rhythm is entirely different from the rest three. There is a marked difference in the first and second beats of the vaaythaari of this rhythm and it has two double units in it. The fifth, sixth and seventh rhythms are known as 'Kummi', which are borrowed from other art forms. An eighth rhythm is also there.

One song will require a minimum of thirty-five to forty minutes to complete. The rhythms or tunes are known in different names here like 'Thaanaai', 'Thaanaivattam', 'Thaanavattam', etc. Here, one single song is sung in a single rhythm. The length of the songs will be short as well. There are different rhythms used in Kuthiyottam in Kollam district. 'Kummi' is the first one, which signifies the first rhythmic tala. It will be sung in four different manners. The Raga, Tala, and Syllables will vary. 'Eeradikkummi' is there, in which the first two lines are sung in the same manner and the next two lines contains double the number of alphabets than the first two lines. The second one is 'Paandikkummi', which is yet another rhythmic tala. The next one is 'Nayyaandi', which has vaaythaari. 'Kalyanakkali' is quite similar to Neyyaandi as both are having the same songs. But it is sung in a different tune when it comes to Kalyanakkali. The next one is 'Kudam Pooja', which is usually sung in two ways. It also has vaaythari, which is different from others. It has the lines from 'Ottanthullal', but the tune and Tala will be different.

Many of these names are having similarities with Tamil language. This is either because of the Dravidian influences or Human migration and social relationships. The people living near Kadakkal is very close to one part of Tamil Nadu. The connection link between the local and the global can be seen in a minute manner here. Since most of the rhythms used in the songs of Kuthiyottam are having Tamil influence in their names, the ideas of linguistic anthropology can also be traced here.

The next one is 'Kuthirakkulambu', which is an ancient one used rarely now-a-days. It also has a vaaythari. Since it is used rarely, the songs available for this rhythm are also very less. In the Kollam district, yet another music is also used, which is known by the name 'Kavitham'.

It is usually used in the break time, after the completion of singing one story completely and before starting to sing the next story. Usually, dance will not be performed during the time of Kavitham. In Kavitham, questions and answers based on the Puranic stories or based on Goddesses will be there. The Aashan will try to include two to three lines in the Kavitham, based on the history of the place where the temple is being situated, to where they went for performing Kuthiyottam. The lines of 'Saari' are quite similar to that of Kathakali. The songs will include how Devi came to that place, how she is being worshipped there, etc. Several Dravidian influences can be seen here. These were written based on the book, "Kadakkal Devi Kshethram Eitheehyavum Sankalppangalum" written by J. Murali- krishnan.

Difference in the make-up and attire of the boys :

The boys will be using either a Dhoti or a Towel as their costume. The children will be using a 'Maattu', which is also a type of small dhoti or towel and wears a garland made of jungle geranium, which is red in colour, in their neck. The face of these children will be covered with Orpiment or Powder and later small dots will be done in their face and body with rice flour, reminding the disease Smallpox. This is termed as 'Chuttikuthal'. They will be wearing a golden coloured cap on their head, which will be flat-topped. On their waist, they will be wearing a garment called 'Challadam'. On the top of that, a plantain leaf which was dried on fire will be worn. On the top of the plantain leaf, a skin namely, 'Kachappuram' will also be worn, which is either made of Gold or of Silver. On their hands, they will be using thick bangles, called 'Mudu', and uses chains or jingling bells on their legs. On their neck, a garland made of red flowers will also be there along with gold chains. After dressing the child like this, they will be allowed to perform churalkkuthu. These were written based on the interview with Mr. Dasan, who belong to Alappuzha district.

According to the details given by Mr. Radhakrishnan Aashan in the interview, in Kollam district, the make-up for these boys is done only for the sake of these rituals. The children who are doing the ritual of Kuthiyottam will be dressed-up like the Lord Shree Krishna. Chuttikuthal is done on the faces of these children as well. These boys will be wearing a crown made from peacock's feather. Sometimes a small cap, called 'Vattu' is also used. They will also put small dots in the face and body of the children. A small dhoti will be wrapped in the waist in the style of Thar and on the top of it, a piece of cloth called 'Kacha' is tied, which will be stretched on both the sides. The tying of this 'Kacha' itself is unique and different from that of other districts. They must wear 'Pattu' on their waist. They will be given so many chains to wear. They will be wearing a yellow dhoti on their waist. They will also be wearing bangles in their hands and jingling bells on their legs also. No special dressing style or make-up is given to the dancers and singers.

Conclusion :

There are several regional variations in the practise of Kuthiyottam, which can be studied and analysed with the theory of Socio-cultural anthropology. According to the views of Pritchard, socio-cultural anthropology deals with the social and cultural dimensions of the living peoples. The diversity of human societies in time and space, while sharing the same features among them is being studied in Socio-cultural anthropology. According to Howard and Dunaif-Hattis, socio-cultural

anthropology studies the social, symbolic, or non-material and material lives of contemporary and historically recent human societies, taking the concept of culture central to its goal. These commonalities were evident here, which is yet another cause of such variations.

Cultural relativism is also a reason for these variations. Cultural relativism sticks on to the concept that any person's beliefs, practices, etc. should be analysed only based on the culture that person owns. Franz Boas is one of the pioneers of Cultural Relativism. The differences caused by the Dravidian influence is based on this concept of Cultural diversity or relativism. Human migration; from other countries or states to Kerala has also an impact on society and culture. The concept of 'Sacrifice' came like this. Human sacrifice, which once existed in India since the time of British rule was later changed to Animal sacrifice with the influence of Britishers. Later, this also came to an end and blood sacrifice became prevalent, which is done in the ritual of Kuthiyottam as well.

A connection between the past and the present, social transformation, social relationships, etc. are yet other causes of these variations. The past rituals like sacrifices, musical monologues, day-to-day survival practises which are dedicated to the Goddess has its influence on the present ritual of Kuthiyottam as well. Gradually, people changed the procedures and duration of the ritual as per their convenience. During the time of this ritual, social transformation can be seen in the attitude and nature of people. In a way, it can be said that the ritual of human-sacrifice came to an end because of such transformations of people. This ritual helps in strengthening the healthier relationships between people in the society who belongs to different caste, class, religion, etc. One of the most important reason for these regional variations is because of the geographical changes as well.

Ethnography is a branch of anthropology which solely depends on the participation of people of a society on culture. In short, ethnography is the systematic study of individual cultures. This concept was developed by the Russian-German historian and ethnologist, Gerhard Friedrich Muller. Ethnography is evident in this ritual as this ritual unites people belonging to different religion as well. As per the information given by Mr. Radhakrishnan Aashan, in Kadakkal region, even the people belonging to the Muslim communities also used to come and enjoy Kuthiyottam. These people belonging to other communities also are giving their extended support to the ritual of Kuthiyottam. A connection between the local and the global is also seen in connection with the ritual of 'Sacrifice'. Materialistic perspectives on culture are evident in the contemporary scenario. Earlier also it was the same, when people gave a lot of money to the parents of the children whom they adopt for this ritual. The rituals were given the tag 'sacred' during that time. Whereas in the contemporary scenario, people are organising the rituals for showing their money to the public and not purely based on belief or faith.

Chettikulangara is the only place where Kuthiyottam is seen almost in its fullest form. The similarities in the dance steps with other art forms are a part of such changes that were caused by course of time. Several steps in the Kuthiyottam dance were borrowed from Kummi, Thiruvathirakali, Kolkali, etc. Also, as a part of the changes caused over a period, people started using instruments like Ganjira, Jalra, etc. rather than the

Kaitalam, which was used earlier. These modifications are done by the people themselves just to make others attracted to this ritual and also to make this ritual unique and special in the eyes of others. Evolution, modernity, etc. affected the songs of Kuthiyottam, but the way of dancing and its steps were still observed without making many changes.

This folk art is having many songs and dance steps which are borrowed from other art forms like Ottanthullal, Kathakali, etc. Since Kollam area is somewhat closer to some parts of Tamil Nadu region, certain Tamil terms are used in Kuthiyottam like Kummi, Pandikkumi, Neyyaandi, etc. Such influences along with the Dravidian influences are also clearly visible. This can also be traced to the concepts of linguistic anthropology, which is a theory proposed by the great American linguists, Edward Sapir, and Benjamin Lee Whorf. Linguistic anthropology studies the nature of human languages in the context of those cultures that developed them. In short, Linguistic anthropology speaks about how language influences the social life. Several Kummi songs used in Tamil Nadu are also used in Kuthiyottam. Some ritualistic similarities are also there. The concept of ritual and belief or worshipping the Goddess Bhadrakali for curing various diseases as in Kuthiyottam is similarly observed in the neighbouring states like Karnataka, Telangana, Andhra Pradesh, etc. In the Trivandrum side also, such variations can be seen. Since this ritual aims to bring Universal Brotherhood and Unity in Diversity among the people of Kerala, the ritual will continue performing even in future as these sacred art forms are passing on to the future generations as well like their ancestors did.

References :

1. Dasan. Aashan. Telephone Interview. 26 Nov. 2022.
2. Jayaprasad. "Kuthiyottam Pradhaanathvam." Thrippadi Smaranika. 2011: 63-71. Print.
3. Kaimal, Vasudeva. Aashan. Personal Interview. 15 June. 2023.
4. Kumar, Vineed K. Dr. "A study on effect of folk dance on health-related fitness component." International Journal of Physical Education, Sports, and Health, 9.1 (2022): 148-150. Print.
5. Kuthiyottapattum Chuvadum. Perf. Shailanandini Kuthiyotta Samithi. Kuzhikkalidavaka Temple, Pangodu. 21 June 2023. Performance.
6. Misra, U.S., Nadeem Hasnain. Introducing Social-Cultural Anthropology. Gurgaon: Jawahar Publishers and Distributors, 2003. Print.
7. Mohanakumar, Harippad. Kuthiyottappattukal. Thrissur: Kerala Sahitya Akademi, 1998. Print.
8. Monaghan, John., Peter Just. Social and Cultural Anthropology: A Very Short Introduction. Oxford: Oxford UP, 2000. Print.
9. Muraleekrishnan, J. Kadakkal Devi Kshethram Eitheehyavum Sankalpangalum. Kadakkal: Mercy Books, 2011. Print.
10. Radhakrishnan. Aashan. Personal Interview. 07 April. 2023.
11. Rajan. Personal Interview. 15 June. 2023.
12. Shailanandini, Pradeep. Aashan. Personal Interview. 15 June. 2023.
13. Shailanandini, Pramod. Aashan. Personal Interview. 15 June 2023.

ग्वालियर घराने के ख्याल गायन शैली : वर्तमान समय में हुए बदलावों के परिप्रेक्ष्य में

प्रियंका सहवाल
शोध छात्रा, संगीत विभाग,
तिलकधारी पी. जी. कॉलेज, जौनपुर, उत्तर प्रदेश

शोध सार

शास्त्रीय संगीत में वैदिक काल से ही ऐसी संस्थाओं की संकल्पना की गयी जो संगीत के शिक्षण तथा सम्वर्धन के लिए सदैव सज्ज रहें। इन संस्थाओं ने अलग-अलग समय में अपने बदले हुए स्वरूप तथा नाम के साथ संगीत की सेवा करते रहे। इन विविध नामों में मध्य काल के बाद 'घराना' प्रचार में आया। घराना शैली ने संगीत के वर्तमान स्वरूप को स्थापित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

ग्वालियर घराना, ख्याल गायन शैली का एक ऐसा घराना है जिसे शास्त्र सम्मतता के साथ-साथ विद्वत स्वीकार्यता भी प्राप्त है। ख्याल गायन शैली के ग्वालियर घराने को घरानों की गंगोत्री कहा जाता है। इस शैली में परम्परागत रूप से चली आ रही शैली में विगत 50 वर्षों में कुछ बदलाव देखा जा रहा है। इन बदलावों का विविध आधार है। किसी भी परिस्थिति में बदलाव हो रहे हों लेकिन यह तो स्पष्ट है की इस यशस्वी परम्परा के मूल स्वरूप का ह्रास हो रहा है। प्रस्तुत शोध पत्र में इन्हीं तत्वों पर चर्चा की गयी है।

सूचक शब्द

घराना, बंदिश, परम्परागत, बदलाव, प्रस्तुती

शोध उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध पत्र के लेखन का मुख्य उद्देश्य गायन घरानों की गंगोत्री कहे जाने वाले ग्वालियर घराने की गायन शैली में आये हुए विविध बदलावों की गहनता से जानकारी प्राप्त करना है।

शोध विषय :

भारतीय शास्त्रीय संगीत में घराना शब्द की उपस्थिति सहज है। ऐसे लोग जो कि शास्त्रीय संगीत की विशेष समझ नहीं रखते हैं उनके समक्ष शास्त्रीय संगीत की चर्चा के दौरान घराना शब्द स्वतः ही उपस्थित हो जाता है। सामान्यतः लोगों के मन में ऐसी घराना बन चली है कि शास्त्रीय संगीत बिना घराना के सम्भव नहीं है। अर्थात् शास्त्रीय संगीत का पोषण घरानों में ही होता है। घरानों ने अपने उद्भव के बाद से ही शास्त्रीय संगीत की विधिवत सेवा की है। अपने पूर्व तथा समकालिक गायन शैलियों एवं बंदिशों को सहेज कर वर्तमान पीढ़ी तक पहुंचाने का श्रेय घरानों को ही जाता है। घरानों के स्वरूप के सन्दर्भ में विद्वत चिन्तन इस प्रकार है :

श्री कृष्णराव पंडित जी के अनुसार 'शताब्दियों पुरानी परम्परा उच्च कोटि के गुरु तथा कई पीढ़ियों के गुरु-शिष्य परम्परा से मिल कर घराने का निर्माण होता है।'[1]

श्री शरच्चन्द परांजपे जी के अनुसार 'घराना रीति अथवा शैली का दूसरा नाम है। इसका सम्बन्ध किसी गुरु परम्परा से होता है।'[2]

श्री वामन राव देशपांडे जी के अनुसार 'घराना शब्द का शाब्दिक अर्थ घर है। घर परिवार, वंश, कुटुंब आदि के समान ही गुरु तथा उनके शिष्य परिवार के रूप में तीन-चार पीढ़ियों का शिलशिला बनाये रखने पर घराना का सृजन होता है।'[3]

श्री प्रदीप कुमार दीक्षित जी के अनुसार 'घराना में वंश परम्परा वाला संकेत निहित है।'[4]

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। अतः गायन की उन शैलियों में जिनके आधार पर घरानों का सृजन हुआ था, बदलाव होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि संगीत जनप्रियता का विषय है। समय-समय पर जन रूचि के अनुसार संगीत ने अपने स्वरूप को परिवर्तित किया है। शास्त्रीय संगीत के ख्याल गायन शैली के विविध घरानों की गंगोत्री कहे जाने वाले ग्वालियर घराने की गायन शैली में भी बदलाव सहज दृष्टिगोचर होता है। ग्वालियर घराने के विविध विद्वान इस सत्य को स्वीकार भी कर रहे हैं। इन बदलावों को विगत 50 वर्षों के काल खंड में देखा गया है।

ग्वालियर घराने की गायन शैली को विद्वानों द्वारा शास्त्र प्रमाणित गायन शैली माना जाता है। क्योंकि इस शैली में ध्रुपद शैली के विविध तत्वों का सुंदर समावेष स्पष्ट होता है। ग्वालियर घराने की ख्याल गायन शैली में बंदिश आरम्भ होने के पहले विस्तृत आलाप कर के राग का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। किन्तु वर्तमान समय में समय की सीमा के कारण गायक कलाकार थोड़ा आलाप कर के बंदिश का गायन आरम्भ कर देते हैं। पूर्व काल में किसी गायक अथवा प्रस्तोता के लिए समय का बंधन नहीं रखा जाता था इस लिए वे अपने गायन में जल्दीबाजी न कर के अपनी परम्परा के अनुसार गायन व्यवहार किया करते थे। पंडित बलवंत राय भट्ट जी के अनुसार 'राग के गायन के पूर्व यदि विस्तृत आलाप किया जाय तो श्रोताओं को ऐसा प्रतीत होगा कि अमुक गायक आगरे घराने का है इस लिए हम लोग थोड़ी देर में राग का स्वरूप स्पष्ट कर के बंदिश का गायन आरम्भ करते हैं।'[5] ग्वालियर घराने की गायन शैली में राग विस्तार के शैली में विविध कारणों से अंतर दृष्टश्रव्य है। राग विस्तार के साथ ही बंदिशों की प्रस्तुती में भी अंतर देखा जा सकता है। ग्वालियर घराने की प्रचलित बंदिशों का गढ़न इस प्रकार से होता है कि बंदिश का स्थायी तथा अंतरा गाते ही राग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। ग्वालियर शैली में बंदिश के गायन में स्थायी दोबार तथा अंतरा एक बार गाया जाता था। किन्तु वर्तमान काल में कुछ गायक बंदिश को पूरा नहीं गाते हैं। बंदिश की सीमित पंक्तियों को ले कर अपने गायन की कलात्मकता का पूरा प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार के गायन से बंदिश का भाव भी स्पष्ट नहीं हो पाता है। बंदिशों की प्रस्तुती में भी ग्वालियर घराने की परम्परागत गायन शैली तथा वर्तमान गायन शैली में अंतर दिखता है। मध्य काल में जब संगीत राजाश्रय में आया तब संगीत की बंदिशों में देव अराधना के साथ है राजा की प्रशंसा तथा श्रृंगारिक शब्दों का चलन बढ़ा। राजा को प्रसन्न करने के लिए बंदिशों में श्रृंगार परक शब्दों का आधिक्य होने लगा। कभी-कभी यह अश्लीलता परक हो जाता है। वर्तमान समय में ऐसी बंदिशों का गायन समाज अथवा परिवार में करना अमर्यादित है। अतः कलाकारों ने नयी साफ़-सुथरी बंदिशों की रचना की और इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया। नई बंदिशों के सृजन से परम्परागत बंदिशों के अपेक्षा बदलाव दिखना स्वाभाविक है। अतः ग्वालियर की ख्याल शैली में इस तत्व में बदलाव महसूस किया गया।

संगीत के एक मुख्य तत्व लय पर ध्यान केन्द्रित करें तो पाते हैं कि यहाँ भी ग्वालियर घराने की परम्परागत गायन तथा वर्तमान समय के गायन में अंतर आया है। ग्वालियर घराने की गायन शैली को स्वर गायकी कहा जाता जिसमें स्वरों का विस्तार किया जाता है। ग्वालियर घराने में परम्परागत रूप से बड़े ख्याल को विलम्बित लय में गायन किया जाता था किन्तु वर्तमान समय में बड़े ख्याल के लिए अति विलम्बित लय का चुनाव किया जा रहा है। इस सन्दर्भ में ग्वालियर घराने के विद्वान कलाकारों का मत है कि इस घराने की बंदिशों का गढ़न इस प्रकार है कि उन्हें विलम्बित लय में गायन किया जाय तभी सौन्दर्यात्मकता में वृद्धि होगी। इन बंदिशों को अति विलम्बित लय में गायन करने से बंदिश का भाव समझना श्रोताओं के लिए कठिन हो जाता है। इन

सब बातों के बाद भी वर्तमान समय में ग्वालियर घराने में अति विलम्बित लय की बंदिशों का गायन किया जा रहा है। इस परिवर्तन के सन्दर्भ में कुछ कलाकार कहते हैं की वर्तमान समय के अनुसार अति विलम्बित लय में गायन सहज हो गया है। विलम्बित लय के गायन में सम अपेक्षाकृत जल्दी आ जाता है जिससे राग के विस्तार में सहजता नहीं रहती है।

ग्वालियर घराने की गायकी में लय की लड़न्त-भिड़न्त का चलन हुआ करता था। गायन प्रस्तुती में कभी गायक तो कभी वादक अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए लय के साथ छेड़-छाड़ किया करते थे। उनकी इस क्रिया से प्रस्तुती में सौन्दर्य वृद्धि होती थी। ग्वालियर घराने के नामचीन कलाकारों की प्रस्तुती में भी लय की लड़न्त-भिड़न्त को स्थान प्राप्त था। समय के परिवर्तन के साथ ग्वालियर घराने के इस तत्व के प्रदर्शन में अंतर आया है। वर्तमान समय में ग्वालियर घराने की गायन शैली में प्रस्तुती के दौरान लय की लड़न्त-भिड़न्त अपेक्षाकृत कम ही प्रयुक्त होता है। वर्तमान समय के गायक इस का प्रदर्शन लगभग नहीं के बराबर करते हैं। इस सन्दर्भ में वर्तमान गायकों का मत है कि लय के साथ लड़न्त-भिड़न्त करने से सौदर्य वृद्धि होती है किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि लड़न्त-भिड़न्त के आधिक्य के कारण गायन के विशेष प्रभाव से श्रोता वंचित रह जाते है।

शेध निष्कर्ष :

ग्वालियर की परम्परागत गायकी के विविध तत्वों तथा गायकी के वर्तमान स्वरूप में बदलाव महसूस किया जा सकता है। यह बदलाव के विविध कारण हैं। वर्तमान समय की परिस्थितियों का प्रभाव इस शैली पर पड़ा है। विविध नवीन कलाकारों ने गे शैली को अपने गुरु से सिखने के बाद अपनी सोच के अनुसार परिमार्जित किया। वर्तमान श्रोता समुदाय की पसंद के अनुसार भी गायन शैली का स्वरूप परिवर्तित हुआ। पुराने कलाकार इस परिवर्तन को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं करते हैं। वर्तमान काल के बदलावों के क्रम में उनका मत है कि ग्वालियर घराने की परम्परागत गायन शैली की आत्मा का ह्रास हो रहा है। ग्वालियर शैली अपनी उत्कृष्ठता के लिए समानित की जाती रही है। ऐसे में उसके मूल तत्वों से छेड़-छाड़ अनुचित है। जबकि वर्तमान गायक इन विविध परिवर्तनों के पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं।

इन सभी पक्षों का विश्लेषण करने के बाद स्पष्ट है कि ग्वालियर घराने की गायन शैली के विविध तत्वों में बदलाव हो रहे हैं। ये बदलाव कहीं आंशिक हैं तो कहीं अधिक। इन बदलावों का क्रम पिछले लगभग 50 वर्षों में आरम्भ हुआ है। निकट भविष्य में ये आंशिक बदलाव बड़े परिवर्तनों की नींव बन सकते हैं ।

सन्दर्भ सूची :

1. श्री कृष्ण राव पंडित, ग्वालियर घराना, संगीत पत्रिका जुलाई 1966, पृष्ठ संख्या 25
2. डॉ॰ शरच्चंद श्रीधर परांजपे, संगीत में घराना, संगीत पत्रिका जनवरी फरवरी 1982, पृष्ठ-20
3. श्री वामन राव देशपांडे, घरानेदार गायकी, राज कमल प्रकाशन 2020, पृष्ठ-24
4. श्री प्रदीप कुमार दीक्षित, घरानों का भविष्य संगीत पत्रिका जनवरी फरवरी 1982, पृष्ठ-42
5. पंडित बलवंत राय भट्ट जी से साक्षात्कार उद्घृत शोध प्रबंध-बदलते परिवेश में घराना पद्धति की स्थिति और उसमें हो रहे परिवर्तनों का अध्ययन विशेष कर ग्वालियर घराना गायन के सन्दर्भ में, 2007 ज्योंति भरद्वाज, दयाल बाग़ एजुकेशनल इंस्टिट्यूट, पृष्ठ-219

साहित्य संस्कृति व राजनीति

डॉ॰ रूचि मिश्रा
विभागाध्यक्ष राजनीती विज्ञान विभाग
श्री रतनलाल कंवरलाल पाटनी गर्ल्स कॉलेज, किशनगढ़

सारांश

'साहित्य तो समाज का दर्पण है' हमारी संस्कृतिक विरासत, साहित्य, कला इत्यादि पर विचार-विमर्ष केवल गिने चुने बुद्विजीवियों तक सीमित होकर रह गया है। आज भारत में विभिन्न सरकारी व गैर सरकारी सांस्कृतिक संस्थायें अपने अस्तित्व के लिये संर्घषरत है। सांस्कृतिक केन्द्र, संगीत नाटक अकादमी, राष्ट्रीय अभिलेखागार, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय सभी संस्थायें आर्थिक तंगी से नियमित जूझती रहती है। गैर सरकारी संस्थाये कलाकारों के हितों को सहेजने में अक्षम हैं, साहित्य प्रचार व प्रसार की वस्तु नहीं अपितु देष की दिषा व दषा को बदलने की शक्ति रखती है। उसे सस्ता व घटिया बनाने का प्रयास नहीं होना चाहिये। किसी भी राष्ट्र के निर्माण में संस्कृति की मुख्य भूमिका होती। कला स्थापत्य हो या प्रदर्शन, दोनों मिल कर ही राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लेकर कल्हण की 'राजतरंगिणी' तक सबमें राजनय व राजनीति की बात अवश्य हुई है। तात्कालीन व्यवस्था के साथ-साथ अधुनातन राज्य व्यवस्था का वर्णन भी उसमें मिलता है। सांस्कृतिक संस्थाओं का भी दायित्व है, गैर सरकारी संस्थाओं का भी दायित्व है। विरोध अर्थ प्रदर्शन तोड़-फोड़ हिंसा नहीं-लेखनी को भी अपनी सोच और शक्ति।

मुख्य शब्द

साहित्य, संस्कृति, राजनीति, समाज, विरासत, सत्ता, कलाकारों, दर्पण

राग दरबारी में श्रीयुत श्रीलाल शुक्ल जी ने राजनीति व साहित्य को अच्छे से परिभाषित कर दिया था, किन्तु राजनिति के सांस्कृतिक पक्ष पर भी विचार मंथन की आवश्यकता है। कहा भी जाता है 'साहित्य तो समाज का दर्पण है' - साहित्य वहीं जो समाज की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी मान्यताओं को समुचित परिभाषा प्रदान करता है।

हर वर्ष कहीं ना कहीं निर्वाचन आयोग चुनाव की घोषणा करता रहता है। आदर्श आचार संहिता लगा दी जाती है, परन्तु पिछले कुछ समय से बिहार, झारखंड के स्थान पर पश्चिम बंगाल के चुनाव अधिक चर्चा में रहते है। हिंसा वहां की राजनीतिक व्यवस्था का अभिन्न अंग हो गया है।

लेकिन आपने कभी भी किसी भी राजनीतिक दल के घोषणा पत्र में साहित्य कला संस्कृति की चर्चा परोक्ष रूप से भी होती हुई नहीं देखी होगी। हाँ, कला संरक्षण के नाम पर आम चुनावों के बाद राज्य सभा या विधान परिषदों में मनोनीत सदस्यों में कुछ कला प्रेमी या अधिक सिनेमा के कलाकारों को नामित कर राजनीतिक दल अपने दायित्वों की इतिश्री कर लेते है। क्योंकि अनेक साहित्यकार भी राजनीति मे अच्छी खासी दखल रखते थे और समय-समय पर न्यायधीश भी स्वयं बन जाते है। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' तो खुलकर बोला करते थे; फटकार

भी लगा देते थे। निराला भी व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगा देते थे।

राजनीतिक दल ऐसे चाबुक चलाने वालों को पसन्द नहीं करते, इसलिये ऐसे व्यक्ति को आगे नहीं आने दिया जाता। समाज व संस्कृति एक दूसरे के पूरक है या अन्योन्याश्रित भी है। राजनीतिक चश्मा इससे कहीं इतर देखता है। जबसे जातीय व धार्मिक समीकरण 'वोट बैंक' का आधार बनने लगे - अपराधीकरण की तरफ राजनीति का अनायास झुकाव आरंभ हो गया। जबसे 'फ्रीबीज' का चलन आरंभ हुआ राजनीति रसातल की ओर जाने लगी।

श्रीलंका और पाकिस्तान की वर्तमान स्थिति से हमने कुछ नहीं सीखा; मुफ्त बिजली, पानी, गैस, चिकित्सा, शिक्षा वोट बैंक का आधार बनता चला गया है। जिस तरह श्रीलंका की अर्थव्यवस्था का दीवाला निकल चुका है, पाकिस्तान आर्थिक निकम्मेपन की हद तक जा चुका है, भारतीय राजनीतिज्ञो को भी इस पर विचार करना ही पड़ेगा। निर्वाचन के समय किये गये अनन्त वादे केवल कर दाताओं पर बोझ के रूप मे ही परिलक्षित होते है। 'आप' से आरंभ इस नीति को सपा, कांग्रेस और अब भाजपा भी बढ़ाने को मजबूर हो गई है। 100 यूनिट बिजली फ्री से आरंभ होकर 200 यूनिट, फिर पानी, फिर कोरोना काल में 'फ्री अनाज' वितरण अब, अनन्त काल तक चलाने को बाध्य होते राजनीतिक दल केवल निर्वाचन ओर सत्ता पर पकड़ को ध्यान में रखते हैं।

हमारी संस्कृतिक विरासत, साहित्य, कला इत्यादि पर विचार-विमर्श केवल गिने चुने बुद्रिजीवियों तक सीमित होकर रह गया है। धार्मिक ध्रुवीकरण इतनी तीव्र गति से होता जा रहा है कि देश में अन्दरूनी शीत युद्व की स्थिति बनती जा रही है। इस समय ऐसे राजनीतिक नेतृत्व की ओर देश देखने को मजबूर है, जो सभी दलों को एक 'प्लेटफार्म' पर बिठा कर इस पर मंथन करे। इस समय समाज के बुद्रिजीवियों को आगे आना होगा।

यह समय सापेक्ष है कि योग्यता के आधार पर अच्छे विचारक, साहित्यकार भले ही कुछ सफलतम नौकरशाह आगे आयें और राजनीति को स्वच्छ दिशा देने का प्रयास करे। सिंगापुर के निर्माता 'ली कुआन' ने बहुत पहले कह दिया था सफल राष्ट्र का निर्माण भ्रष्टाचार की नींव पर नहीं किया जा सकता। गत दिनों सिंगापुर के राष्ट्र प्रमुख ने जोर देकर यह बात कहीं कि राजनीति में भ्रष्टाचार वह नासूर है जो पूरी व्यवस्था को दीमक की तरह खा जाता है।

यहां अवश्य जोड़ना आवश्यक होगा कि साहित्यकार राजनीतिक दलों से अपने को सीधे-सीधे जोड़ने की तुलना में राष्ट्र के निमित्त अपने को प्रस्तुत करें। दरबारी भाट की तरह सत्ता की चाटुकारिता में ना लगे रहें - चाबुक लेकर व्यवस्था को सुधारें। सात आठ राजनैतिक दल है - सब में कुछ तो गुण होंगे, उन पर प्रकाश डालें। लेखनी में वह शक्ति उत्पन्न करें कि राजसत्ता के अपराधीकरण को रोका जा सके। निर्भिक व निष्पक्ष मतदान अभी भी सपना है, उसे आश्वस्त करने के लिये साहित्य को 'प्रेमचंद' की भूमिका में आना पड़ेगा। 1936 के 'गोदान' में आज दृष्टिगत होता है। तब भी समाज में 'नमक के दारोगा' की प्रसंशा होती थी। श्री लाल शुक्ल जी ने शिवपाल गंज की जो वास्तव में उनका अपना गांव मोहनलाल गंज (लखनऊ) ही है की सामाजिक व्यवस्था की परिभाषा में वर्तमान स्थिति को बखुबी निरूपित कर दिया था। आज भारत में विभिन्न सरकारी व गैर सरकारी सांस्कृतिक संस्थाये अपने अस्तित्व के लिये संर्घषरत है। सांस्कृतिक केन्द्र, संगीत नाटक अकादमी, राष्ट्रीय अभिलेखागार, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय सभी संस्थायें आर्थिक तंगी से नियमित जूझती रहती है। गैर सरकारी संस्थाये कलाकारों के हितों को सहेजने में अक्षम हैं, कोरोना-काल में देश के लगभग 20 हजार से अधिक कलाकारों व कलाविदो् के सम्मुख भयंकर आर्थिक संकट के दौर में अपने दायित्व को बचाने की चिन्ता लग गई थी, किन्तु कोई भी राजनीतिक दल आगे नहीं आया जो जहां साहित्य व संस्कृति की बात करे।

यह यक्ष प्रश्न है, जिसका निदान एवं उपचार आवश्यक है। अनेक वर्षों तक प्रगति पथ पर तेजी से अग्रसर पूर्वोत्तर आज अस्तित्व के संकट से जूझ रहा है। मणिपुर में जातीय संघर्ष विकराल रूप ले चुका है, किन्तु राजनीतिज्ञ मौन हैं। सेना व पुलिस बल लगातार स्थिति को नियंत्रित करने का प्रयास कर रहे है। सभी दलों की संयुक्त बैठक समय आवश्यकता है, मौन इसका उत्तर नहीं हो सकता। साहित्य प्रचार व प्रसार की वस्तु नहीं अपितु देश की दिशा व दशा को बदलने की शक्ति रखती है। उसे सस्ता व घटिया बनाने का प्रयास नहीं होना चाहिये। बिकाऊ बनाने के लिये राम के चरित्र को बाजारू व चलताउ बनाने का 'आदिपुरूष' का प्रयास देश ने हाथों-हाथ नकार दिया। आप डिटर्जेंट पाउडर बेचने के लिये नग्नता नहीं परोस सकते। रोकिये ऐसे प्रयासों को।

राजनीतिज्ञों से भी यह अपेक्षा है कि वे भूल जायें कि सामाजिक मान्यताओं, साहित्यिक प्रतिभाओं व कला संस्कृति को एक तरफ रख कर राष्ट्र का निर्माण हो सकता है। किसी भी राष्ट्र के निर्माण में संस्कृति की मुख्य भूमिका होती। कला स्थापत्य हो या प्रदर्शन, दोनों मिल कर ही राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत की शास्त्रीय कला हो अथवा लोक कला दोनो का संरक्षण ही राष्ट्र को सशक्त करने का मजबूत आधार होता है। कितने राजनेता चुनाव में उतरने के पूर्व इस संबंध में कोई भी आश्वासन देते हैं। राष्ट्रीय धरोहरों की संख्या में वृद्धि की जानी चाहिये, चिन्हित करके उनका पूरा संरक्षण आवश्यक है। राजस्थान की दृष्टि से ही देखें तो 'आभानेरी', 'बून्दी' जैसी अनेक बावड़िया, तालाब, मन्दिर अवशेष देख-रेख के अभाव में क्षरण को प्राप्त हो रहे हैं, कोई विधायक या सांसद इस ओर कितना ध्यान देते हैं? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। यहां साहित्यकारों की भूमिका भी महती हो जाती है। यह प्रश्न पूछे जाने की आवश्यकता है।

किसी भी राजनैतिक व्यवस्था को सुदृढ़ होने के लिये समाज, संस्कृति व साहित्य को पृष्ठभूमि से हटाकर मुख्यधारा में लाना होगा। आप यूरोपीय देशों की यात्रा करके देखिये। यूनान हो, हंगरी हो, बुल्गारिया हो या चेक गणराज्य- वहां के नागरिक बड़े ही गौरव के साथ अपने पुरातत्व, अपने भवन, अपनी कला, नृत्य, गायन व चित्रकला को प्रस्तुत करते हैं। हमने अजंता, ऐलोरा, खजुराहो को कितना विश्व के पठल पर प्रस्तुत किया है? राजनीतिक व्यवस्था का दायित्व है कि राष्ट्र को गौरवान्वित करने का पूर्ण प्रयास करें।

साहित्य सदा से परिवर्तन का आधार रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लेकर कल्हण की 'राजतरंगिणी' तक सबमें राजनय व राजनीति की बात अवश्य हुई है। तात्कालीन व्यवस्था के साथ-साथ अधुनातन राज्य व्यवस्था का वर्णन भी उसमें मिलता है। लिच्छिवों के गणतंत्र की बात करें या कौशाम्बी के उदयन के शासन, की साहित्य ने सदा राजनय को रास्ता दिखाया ही है। यूरोपीय विचारक मैकियावली की 'प्रिंस' की अवधारणा कहीं ना अर्थशास्त्र से प्रभावित होती हुई दिखाई देती है। गांधी के रामराज्य की अवधारणा उसी पर आधारित, है जब हम शासन सत्ता को उसकी सीमा का ज्ञान भी कराते हैं। समकालीन साहित्यकारों को भी निर्भिक/निडर भाव से कलम उठानी चाहिये। गलत को गलत कहने की शक्ति आपकी लेखनी में होनी चाहिये। आज के राजनीतिक आकाओं की योग्यता व क्षमता पर प्रश्न पूछे जाने चाहिये। साहित्य, संस्कृति व राजनीति का संतुलन राष्ट्र की प्रगति व प्रथम सोपान होता है। लेखक का राजनीतिक सरोकार संभव है, परन्तु गुणदोष की विवेचना भी उसी का साहित्यकार का दायित्व होता है। आज दरबारी कवि, भाट व चारण की आवश्यकता नहीं है। ''संस्कृति के चार अध्याय'' को पुनः लिखने की आवश्यकता है। कमलेश्वर और अमृत लाल नागर जैसे उत्तरदायी रचनाकार समय की मांग है, विजय तेन्दुलकर की लेखनी समय की मांग है जो व्यवस्था को आईना दिखा सके।

आज की कलम ''लेफ्ट'' और ''राइट'' नहीं, सत्य और असत्य को परिभाषित करती नजर आनी

चाहिये। ''कोरोना'' से पूरा विश्व जूझता रहा- बहुत बड़ी जनसंख्या काल कलवित हो गई- कोई सशक्त लेखनी इस पर चलती नजर नहीं आई। साहित्य कमजोर होता दिखाई नहीं देना चाहिये था।

सांस्कृतिक संस्थाओं का भी दायित्व है, गैर सरकारी संस्थाओं का भी दायित्व है। विरोध अर्थ प्रदर्शन तोड़-फोड़ हिंसा नहीं - लेखनी को भी अपनी सोच और शक्ति।

शिवपालगंज के वैद्य जी अवधारणा से बाहर आकर लोकतंत्र को सशक्त करने की आधारभूत आवश्यकता है। साहित्य समाज का दर्पण है तो दर्पण साफा होना ही चाहिये, किन्तु चेहरे को भी साफ करने का समय आ गया है।

सन्दर्भ :

1. राग दरबारी : श्री लाल शुक्ल।
2. संस्कृति के चार अध्याय : श्री रामधारी सिंह दिनकर।
3. मानस के हंस : अमृत लाल सागर।
4. वेदो में राजनीतिशास्त्र : डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी ,विश्वभारती अनुसंधान परिषद-ज्ञानपुर, भदोही।
5. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति : डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी।
6. स्मृतियो में राजनीती और अर्थशास्त्र : डॉ॰ प्रतिभा आर्य विश्वभारती अनुसन्धान परिषद (ज्ञानपुर) वाराणसी

महाकवि भास प्रणीत उरुभंग व्यायोग का साहित्यिक अनुशीलन

अतुल खजूरिया
शोध छात्र
संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

सारांश

संस्कृत नाट्य-साहित्य में उरुभंग अपना विशिष्ट स्थान रखता है। महाभारत की कथा पर आश्रित एक एकांकी है, इसमें व्यायोग के लक्षण घटित होते हैं। इस रुपक का नायक दुर्योधन है। दुर्योधन के अतिरिक्त अश्वत्थामा तथा बलराम का व्यक्तित्व भी अपने में महत्वपूर्ण है। नाटकीय कौशल की दृष्टि से यह नाटक प्रशंसनीय है। कथोपकथनों में स्वाभाविकता सर्वत्र परिलक्षित होती है। दुर्योधन के उरुभंग हो जाने पर बलराम जी की चेष्टाओं तथा कथनों में पर्याप्त स्वाभाविकता है। इस नाटक में व्यापक राजनीतिक परिदृश्यों, पारिवारिक विवादों और युद्ध स्थितियों का वर्णन किया गया है। यह नाटक अपनी विवेचनात्मकता, कठिनाइयों के साथ सचेतन व्यापारिकता को मिश्रित करता है और मानवीयता और धर्म के मुद्दों पर विचार करता है।

मुख्य शब्द

महाकविभास, उरुभंग, व्यायोग, नाट्यसंधिया, अर्थप्रकृति।

संस्कृत भाषा के सबसे प्राचीन नाटककार महाकवि भास हुए हैं जिनकी तेरह रचनाएं सुप्रसिद्ध हैं। उन रचनाओं में ऊरुभंग एकांकी अन्यतम है। दृश्यकाव्य के दस रूपकों में से व्यायोग के अंतर्गत परिगणित उरुभंग सम्भवतः संस्कृत साहित्य का प्रथम व्यायोग है। अधिकांश मनीषा महाकवि भास का आविर्भाव काल ईसापूर्व चतुर्थ शतक स्वीकार करते हैं। सम्भवतः यह उत्तरी भारत के निवासी थे क्योंकि उनकी रचनाओं में जो नगर, नदी, पर्वत, परम्परायें और रीति-रिवाज वर्णित हैं, इससे वे उत्तरी भारत के प्रतीत होते हैं। रामायण और महाभारत के विषय का ज्ञान भी यही सिद्ध करता है। कतिपय विद्वान इन्हें उत्तरी भारत के उज्जैन निवासी मानते हैं। इनकी रचनाओं से प्रतीत होता है कि वे किसी राजघराने से सम्बद्ध थे, उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, लोकशास्त्र और धर्मशास्त्र का भी गंभीर अध्ययन था। वे नर्म और विनोदी स्वभाव के थे। उनका पारिवारिक जीवन सुखी था। वे ब्राह्मण तथा गौ के भक्त थे।

इनकी कुल 13 नाट्य रचनायें प्राप्त होती हैं :

1. दूतवाक्यम्
2. कर्णभारम्
3. दूतघटोत्कचम्

4. मध्यमव्यायोगः
5. पंचरात्रम्
6. उरुभंग
7. अभिषेकनाटकम्
8. बालचरितम्
9. अविमारकम्
10. प्रतिमानाटकम्
11. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्
12. स्वप्नवासवदत्तम्
13. चारुदत्तम्।[1]

इन रचनाओं का

सर्वप्रथम प्रकाशन महामहोपाध्याय टी0 गणपति शास्त्री ने किया था।[2]

संस्कृत रूपकों का विभाजन, वस्तु, नेता और रस के आधार पर है- वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः।[3] इन भेदक तत्वों के आधार पर रूपक रचनायें दस प्रकार की होती हैं- नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समावकार, वीथी, अङ्क, ईहामृग।[4]

काव्यशास्त्रियों के अनुसार व्यायोग - व्यायोग नाट्यसाहित्य में एक प्रकार का एकांकी नाटक है। व्यायोग शब्द की व्युत्पति वि + आ + युज् + घञ् प्रत्यय के संयोग से होती है जिसका अर्थ है विविध व्यक्तियों से युक्त रचना। आचार्य भरतमुनि अपने नाट्यशास्त्र में व्यायोग का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि -

व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्यः प्रख्यातनायकशरीरः।
अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव।।[5]

पुरुषपात्रों की संख्या अधिक होने के कारण इसे व्यायोग कहा जाता है और वहीं दूसरी तरफ अभिनवगुप्त का मत है कि युद्ध में पुरूषों के नियुक्त होने कारण इसे व्यायोग कहा जाता है। आचार्य धनञ्जय अपने ग्रन्थ दशरूपक में व्यायोग के स्वरूप को बतलाते हुए लिखते हैं कि -

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः।।

अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा।
एकाहाचरितैकाको व्यायोगो बहुभिर्नरैः।[6]

व्यायोग की कथावस्तु ख्यात अर्थात् इतिहास प्रसिद्ध होती है और इसका नायक प्रख्यात तथा दिव्य पुरूष होता है। भारती, आरभटी एवं सात्वती वृत्तियाँ प्रयुक्त होती हैं। व्यायोग में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग निषिद्ध होता है तथा गर्भ व विमर्श सन्धि का भी अभाव होता है। मुख, प्रतिमुख व निर्वहण नामक सन्धियों की योजना होती है- करूण, भयानक, वीर, रौद्र एवं वीभत्स नामक रसों का प्रयोग व्यायोग में किया जाता है हास्य एवं श्रृङ्गार का प्रयोग वर्जित है। इसके अतिरिक्त व्यायोग में युद्ध का वर्णन देखने को मिलता है जो स्त्री के निमित्त नहीं किया जाता है। पुरूष पात्रों की संख्या अधिक होती है और अंकों की संख्या केवल एक मात्र ही होती है। जैसे मध्यमव्ययोग, उरुभंग आदि।

उरुभङ्गम् व्यायोग की कथावस्तु :

उरुभंग रूपक का कथास्रोत महाभारत का शल्यपर्व है[7] किन्तु कवि ने महाभारतीय कथानक को यथावत न बनाये रखकर उसमें अनेक परिवर्तन परिवर्धन किये हैं। प्रस्तुत एकांकी में भीम द्वारा दुर्योधन की उरुओं का भंग किया जाना ही प्रधान घटना चक्र है। सम्पूर्ण कथावृत्त और संवाद इसी कथाचक्र को दर्शाते हैं।

इस रूपक का प्रारम्भ सूत्रधार के क्षत-विक्षत वीर संकुल रणभूमि के वर्णन से होता है। दुर्योधन को छोड़कर कौरवदल समराङ्गण की अनल में भस्मीभूत हो चुका है और कृष्ण तथा पाण्डव सुरक्षित हैं। तत्पश्चात् दुर्योधन और भीम के बीच युद्ध होता है। दोनों वीर गदा प्रहार से रक्तरंजित हो जाते हैं। भीम के मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिरने से पांडव खिन्न हो जाते हैं। कुछ समय के बाद भीम प्रकृतिस्थ होता है। श्रीकृष्ण अपने ऊरु का ताड़न कर भीम को संकेत

देते हैं जिससे भीम में नवस्फूर्ति का संचार होता है और भीम अपने मनोरथ की पूर्ति करने लगता है।[8] पुनः गदायुद्ध प्रारंभ हो जाता है अवसर मिलते ही भीम दुर्योधन की जंघा पर गदा से प्रहार करता है। दुर्योधन के ऊरुभंग हो जाने से वह भूमि पर गिर पड़ता है। इसे देख बलदेव कुपित होते हैं। बलराम के प्रकोप से बचाने के लिए पांडव भीम को घेरकर कृष्ण के साथ वहां से चले जाते हैं। इसी बीच परिचरों एवं अन्य संबंधियों के साथ दुर्योधन को ढूंढते हुए धृतराष्ट्र और गांधारी का प्रवेश होता है। वे युद्ध में वंचना से किए गए दुर्योधन के दुःखद समाचार से अत्यंत व्याकुल होकर विलाप करते हुए दिखते हैं। एक वीर की भांति अपने माता-पिता एवं पत्नियों को सांत्वना देता है कहता है कि अपने पुत्र के प्रति शोक त्याग कर गर्व करो। तभी क्रोध से अभिभूत अश्वत्थामा का आगमन होता है। दुर्योधन की इस दशा को देखकर श्रीकृष्ण सहित पांडवों को मार डालने का निश्चय करते हैं, परंतु दुर्योधन अपने सभी भाइयों तथा अन्य महाबली राजाओं के युद्ध में मृत्यु को प्राप्त करने के कारण उसे विनम्रतापूर्वक धनुष को त्यागने के लिए परामर्श देते हैं। ऐसे वचनों को सुनकर अश्वत्थामा दुर्योधन पूर्व भांग के साथ-साथ दर्पभंग हो जाने का व्यंग्य करते हैं। इस व्यंग्य से उत्तेजित दुर्योधन पांडवों को कपटपूर्वक जुए में हराकर वन में भेजनेए भरी सभा में द्रौपदी के केशाकर्षण करने एवं अभिमन्यु को छल से मारने आदि अपने द्वारा किए गए दुष्कृत्यों के समक्ष भीमकृत इस छल को नगण्य बताता है। अश्वत्थामा अपने निश्चय को नहीं छोड़ते हैं एवं उसकी भर्त्सना करते हैं।[9]

अश्वत्थामा दुर्जन को उसके पिता के राज्य पर अभिषिक्त करता है। दुर्योधन अपने मृत संबंधियों का स्मरण कर महाप्रयाण करता है, धृतराष्ट्र पुत्र शोक से विचलित होते हैं तथा मुन्जिनों द्वारा सेव्य तपोवन की ओर प्रस्थान करते हैं। रूपक भरत वाक्य के साथ समाप्त हो जाता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि कथा सूत्र केवल एक ही घटना पर केंद्रित है और वह भीम द्वारा गदायुद्ध में दुर्योधन का ऊरुभंजन। कवि ने उभयात्मक भाषा में महाभारतीय कथा को परिवर्तित कर निज कल्पनाशक्ति से प्रतिपाद्य विषय को चारुतर बना दिया है।

महाकवि भास की भाषाशैली :

मानवीय भावनाओं का जैसा सफल चित्रण हमें भास के नाटकों में मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। महाकवि भास भाषा के क्षेत्र में आत्मनिर्भर है। वे किसी के मुखापेक्षी नहीं है। उनकी भाषा सरल, सरस, प्रवाहपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक है। लेखनशैली में धार है वे लघु वाक्यों के पक्षधर हैं, तथापि उनमें गंभीरता, रसपेशलता और व्यंजकता का मणिकांचन संयोग है। दीर्घ समस्त पदावली पूर्ण वाक्य विन्यास उनको रुचिकर नहीं है। नाट्य विश्लेषकों के अनुसार ही कवि ने भाषा शैली का प्रयोग किया है। उनकी उक्ति प्रत्युक्तियों में जीवंतता हैं। प्रसंगानुसार उनकी शैली प्रसाद, ओज, माधुर्य गुणोपेत हो जाती है। उनकी व्यायोग रचनायें महाभाराताश्रित हो करके भी नव्यता लिये हैं उनके वर्णन इतने स्पष्ट और प्रभावोत्पादक होते है कि वर्णन दृश्य बन जाता है। उरुभङ्गम् का निम्नांकित श्लोक किस प्रकार चित्रात्मकता प्रस्तुत करता है, स्पष्ट है -

माल्यैर्ध्वजाग्रपतितैः कृतमुण्डमालं रत्नैकसायकवरं रथिनं विपन्नम्।
जामातरं प्रवहणादिव बन्धुनार्यो हृष्टाः शिवा रथमुखादवतारयन्ति॥[10]

भास के पात्र संवाद प्रयोग में अत्यन्त विदग्ध है। कवि के चुभते हुये छोटे छोटे संवाद भी दृष्टव्य है[11] -

(ततः प्रविशति धृतराष्ट्रो गान्द्रारी देव्यौ दुर्जयश्च)

धृतराष्ट्रः ... पुत्र! क्वासि।

गान्धारी ... पुत्तअ ! कहिं सि। [पुत्रक! क्वासि।]

देव्यौ .. महाराज ! कहिं सि। [महाराज ! कुत्रासि।]

धृतराष्ट्र .. भो! कष्टम्।

रीति-योजना :

नाट्याचार्य तीन प्रकार के संवाद स्वीकार करते हैं सर्वश्राव्य, अश्राव्य नियतश्राव्य। नियत्तश्राव्य के दो भेद होते हैं जनान्तिक और अपवरित। सर्वश्राव्य को प्रकाश भी कहते है प्रेक्षकों के द्वारा सुना जाता है। अश्राव्य संवाद केवल वक्ता अपने-अपने मन में कहता है इसे स्वागत भी करते है। नियतश्राव्य दो पात्रों के बीच में होने वाला संवाद है जिसे केवल वक्ता और जिससे कहना अभीष्ट होता है वही सुन पाता है। कवि ने अपनी रचनाओं में वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी तथा लाटी रीति का प्रयोग किया गया है। वैदर्भी का प्रयोग बाहुलेन है यत्र तत्र गौणी, लाटी के भी प्रसंग आते है। शौर्य और करुणा मिश्रित एकांकी रूपकों में सात्वती, भारती तथा आरभटी वृत्तियों का प्रयोग किया जा सकता है। कैशिकी वृत्ति का प्रयोग इसलिए नहीं होता है क्योंकि वहाँ रसराज श्रृंगार का आशिक चित्रण भी नहीं होता। श्रृंगार में कैशिकी वृत्ति होती है- श्रृंगारेकैशिकी यद्यपि आचार्य भरत और शारदानन्दी उत्सृष्टिकाङ्क रूपकों में कैशिकी सात्वती तथा आरमटी वृत्तियों की सत्ता को अस्वीकार करते हैं - ''आरभटी कैशिकी विहीनों जबकि भावप्रकाशनकार शारदातनय सात्वती तथा आरभटी वृत्तियों का समर्थन करते हैं कैशिकीवृत्तिहीनश्च स्यात्सात्वत्यारभटीयुतः। सात्वती वृत्ति का उदाहरण उरुभङ्गम् के तृतीय श्लोक में देखा जा सकता है।[12] भारती वृत्ति वहीं पर क्रमशः उरुभङ्ग के श्लोक एक एवं कर्णभारम् के श्लोक एक में प्राप्त होती है।

अर्थप्रकृति, कार्यावस्था नाट्यसंधियों की परियोजना :

रूपकों में सन्धियों की योजना अपरिहार्य होती है क्योंकि सन्धि का अर्थ होता है। सम्यक् रूप से मिलाना या मिश्रण करना अर्थात संधान करना। रूपक की कथावस्तु को विभाजित करके पुनः संघटित करना ही सन्धि है। पंच अवस्थाओं और पंच अर्थप्रकृतियों का संयोजन पाँच सन्धियों का रूप धारण कर लेता है। कार्यावस्थाएँ पाँच है- आरम्भ, यत्न प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम और अर्थ प्रकृतियाँ बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य है। इन दोनों का क्रमिक संयोजन मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निर्वहण या उपसंहृति नामक पाँच सन्धियों का रूप धारण करता है। मुख सन्धि में कथा की बीजोत्पप्ति प्रतिमुख में बीज का उद्भेद गर्भ में बीज का अनेच्छा दर्शन और विलेपन विमर्श में बीज का फल की और गमन तथा निर्वहण सन्धि में विविध रूपों में बिखरे बीज को समेटकर उपसंहार किया जाता है। एकांकी रूपक छोटे होते हैं अतः कथावस्तु का कलेवर अति लघु होता है इसलिये उनमें केवल मुख और निर्वहण दो ही सन्धियाँ होती हैं। दशरूपककार इन्हीं दो सन्धियों की सत्ता को स्वीकार करता है। विवेच्य एकांकियों में से उरुभङ्गम् के आरम्भ में ही भीम तथा दुर्योधन का गदायुद्ध आरम्भ होने से मुख सन्धि दिखाई पड़ती है। वहीं सूत्रधार जब रणभूमि का वर्णन करता है तो कहता है कि भीमसेन और दुर्योधन का गदा युद्ध प्रवृत्त है और जहाँ भीम दुर्योधन की जंघाओं को तोड़ देता है उस प्रसंग में निर्वहण सन्धि होती है। जब बलराम क्रोध करते हैं और दुर्योधन उसे शान्त करता हुआ क्रोध को सहन करने की सलाह देता है यहीं निर्वहण सन्धि है क्योंकि यहीं पर धर्म की अधर्म पर विजय है। भीम द्वारा दुर्योधन का ऊरुभंग नाटक का मुख्य विषय है। भीम एवं दुर्योधन का गदायुद्ध में संलग्न होने की सूचना द्वारा नाटकीय बीज का विन्यास किया गया है। दुर्योधन की गदा के आघात से इनके भीम के गिर जाने से कथा मुख्य लक्ष्य से विच्छिन्न हो जाती है। लेकिन श्रीकृष्ण द्वारा भीम को संकेत करने पर भीम में नवस्फूर्ति का संचार हो जाता है और युद्ध के पुनः आरंभ हो जाने से कथा मुख्य लक्ष्य से आबद्ध हो जाती है। जो कि कथानक में बिंदु का काम करता है।

भीम द्वारा दुर्योधन के ऊरु युगल को भग्न कर देना नाटक का कार्य है। अवस्थाओं में भीम का दुर्योधन के साथ गदा युद्ध में प्रवृत्त होना उसकी आरंभावस्था का द्योतक है। श्रीकृष्ण का संकेत पाकर उसके द्वारा गदा युद्ध में पुनः उत्साह पूर्वक संलग्न होना उसकी यत्नावस्था का परिचायक है। दुर्योधन की जंघाओं को भंगकर विजयश्री की प्राप्ति करना फलागम नामक अवस्था है।

रसाभिव्यंजना :

साहित्य का चरम लक्ष्य आनन्द प्राप्ति होता है। आनन्द रस का ही स्वरूप है- ''रसो वै स रूपकों के इतवृत्त संवाद और चारित्रिक अंकन इसी रस के साधन हैं साध्य रसाप्ति ही होती है। आचार्य धनंजय के अनुसार विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारीभावों द्वारा आस्वादन योग्य स्थायीभाव ही रस है।

विभावैरनुभावैश्च सत्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥[13]

साहित्य में इन रसों को आठ प्रकार का स्वीकार किया गया है- श्रृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अदभुत, भयानक और करूण। परवर्ती आचार्यों ने शान्त को भी रस की संज्ञा दी है आजकल भक्ति और वात्सल्य को भी रस कहा जाने लगा है। उत्सृष्टिकाङ्क रूपकों में करुण रस की प्रधानता होती हैं इसमें नियुद्ध युद्ध न होकर वाकयुद्ध होता है इसलिये ऐसे प्रसंगों में वीर रस की सत्ता को भी स्वीकारा जा सकता है।

उरुभङ्गम में करुण रस के दर्शन दुर्योधन के उरूभङ्ग विदारम् में दुर्योधन पुत्र दुर्जय द्वारा पिता की गोद बैठने को लालायित होने के प्रसंग में करुण रस प्राप्त होता है। सौ पुत्रों की मृत्यु से दुःखी गान्धारी और इसी प्रकार दुश्शला, पौरवी और मालवी की कारूणिक अभिवृत्तियाँ सहृदय बुलर महोदय कहना लक्षण से थोड़ा दूर दिखाई पड़ता है। इन्द्र द्वारा छल पूर्वक कर्ण से कवच और कुण्डल दान स्वरूप लेना जो रूपक वृत्ति को विदीर्ण कर देती है। इसके साथ ही रौद्र, बीभत्स एवं भयानक रसों की भी युद्ध-प्रसंगों में व्यंजना हुई है।

अलंकार संयोजना :

काव्य के दृश्य और श्रव्य सभी भेदों में शब्दालंकार और अर्थालंकार उनको गुणवत्ता कवि अभिव्यक्ति में चारुता उपस्थित कर देते हैं। उरुभङ्गम् में जहाँ द्वितीय भट कथन करता है उसमें यमक की छटा है स्पष्ट सुन्दर साम्य उपमा कहलाता है। कवि ने प्रशस्त रूपी बलराम के क्रुद्ध रूप का उपमा अलंकार की सहायता से स्वाभाविक रूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि देखो-देखो यह बलराम बलराम चले आ रहे हैं जिनकी बड़ी-बड़ी आंखें क्रोध के कारण लाल हो गई है जिनके गले में पड़ी माला की सुगंध से भंवरे उनके पास मंडराकर उन्हें काट रहे हैं। जमीन पर लटक रहे नीले वस्त्र को ऐसे समेटते हुई आ रहे हैं मानो परिवेश से युक्त चंद्रमा ही पृथ्वी पर उतर आए हो।[14]

सन्देह अलङ्कार का सुन्दर निदर्शन उरुभङ्गम् से लिया जा सकता है। इस अलङ्कार में कवि प्रतिभा उपमेय में उपमान का संशय जब कल्पित करती है तो सन्देह अलङ्कार होता है। उरुभङ्गम् के निम्नांकित श्लोक में सन्देहालङ्कार देखा जा सकता है- किममेघनिनदन्ति स्वभावोक्ति अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ कवि पदार्थों के स्वरूप व उनकी क्रियाओं का वर्णन करता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि महाकवि भास का सम्पूर्ण स्वजन सरल भाषा में छोटे-छोटे संवादों में तथा ललित और रससिक्त पदावली में सम्गुम्फित है। पाडित्य प्रदर्शन उनकी अभिलाषा नहीं है वे अपने भावों को शब्दार्थ से विभूषित करने के लिये कहीं भी कृतिमता के साथ अलङ्कारों का बोझ नहीं लादते हैं। स्वाभाविकता उनकी मौलिकता है उनकी नाट्य सृष्टियों अलङ्कारों की धारा स्वतः प्रवाहित हुई है उनकी रचनायें

जहाँ चिन्तावर्जक हैं वहीं शब्दों और अर्थों की छटा से आकर्षक हैं। उनके नाट्यानन में अलङ्कारों की अलंकृति नाट्य को उत्कृष्टतम् बना देती है। श्रव्य एवं दृश्य दोनों ही काव्य कोटियों में जहाँ ध्वनि और लक्षणा शक्तियों का प्रयोग कविकृति को उत्कृष्ट बना देता है वहीं शब्दों और अर्थों में स्वतः स्फुरितशब्द और अर्थ के चमत्कार उसकी गुणवत्ता और ग्राह्यता को बढ़ा देते हैं। इन शब्द और अर्थों का चमत्कार पाठक को प्रभावित करते हैं। इन्हीं शब्द और अर्थों के द्वारा आपतित अलङ्कार वर्णन रचना को कर्णप्रिय तो बना ही देता है। अलङ्कार रहित कविता आभूषण विहीन तरूणी के मुख के समान होते हैं अर्थात् बिना पुष्प के पादप होते हैं। बिना जल के सरित प्रवाह होते है बिना कंठ के कोकिल होते हैं अर्थात् इनके बिना काव्य सौन्दर्य क्षीण हो जाया करता है। तत्वतः अलङ्कार रहित कविता निष्प्राण शरीर है।

छन्द योजना :

महाकवि भास ने अपने भावों और रसों को आच्छादित करने के लिये विविध प्रकार के छन्दों का आश्रय लिया है। छन्द शब्द छद् धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है आच्छादित करना या ढकना कतिपय विद्वान इस शब्द की निष्पत्ति चन्द धातु से मानते हैं जिसका अर्थ होता है आहलादन इससे स्पष्ट होता है कि भावों की अभिव्यक्ति का ढंग जो पाठकों को आहलादित करता है छन्द कहलाता है। यति गति, लय और नियत मात्रा वर्णों की संख्या वाणी को वैसे ही प्रभावोत्पादक बना देती है जैसे अलंकृत कविता छन्द मंडित वाणी तोषपरिदायिनी होती है वैसे ही तोषपरिदायिनी होती है जैसे समलंकृति वाणी। अलङ्कार काव्य शैली के सौन्दर्याधायक होते हैं और छन्द सुन्दर गति देते हैं। कहा जाता है कि मानव सृष्टि में जिस प्रकार पुरूष के लिये रमणी प्रेरिका होती है उसी प्रकार कविता की छन्दा सृष्टि सहृदयों के लिये प्राण संचारिका होती हे कदाचित इसीलिये छन्दों के नाम स्त्रीलिंगान्त मिलते हैं। छन्द वर्णिक और मात्रिक गणना के आधार पर दो प्रकार के होते हैं। मात्रिक छन्दों को जाति और वर्णिक छन्दों को वृत्त भी कहते हैं। छन्दों को तीन वर्गों में रखा गया है :

1. समवृत्त
2. अर्द्धसमवृत्त
3. विषमवृत्त

ये सभी छन्द अलङ्कार की तरह काव्यशैली न तो शोभादायक धर्म है न रस की तरह प्राणतत्व है और न ही गुण की तरह उत्कर्ष कारक हैं न रीति की तरह अवयव की संस्थान है अपितु आत्मतत्व रस के सहचर हैं। अतः छन्दों का महत्व स्वतः सिद्ध है विश्व के प्राचीन समग्रन्थ ऋग्वेद का छन्दोबद्ध होना इस महत्व का प्रतिपादन करता है। कवि ने उरुभङ्गम् के प्रथम श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया है।[15] इस छन्द में कुल 19 वर्ण होते हैं। 12 और 7 वर्णों पर यतियाँ होती है। ये वर्ण मगण, समण, जगण, सगण तथा दो तगण और एक गुरूवर्ण होता है। कवि ने अपनी कृतियों में अनुष्टुप छन्द का प्रयोग भी पर्याप्त किया है। अनुष्टुप छन्द वैदिक साहित्य में कहा है और लौकिक साहित्य में श्लोक छन्द कहा गया हैं इसमें चार चरण होते हैं प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं और प्रत्येक चरण का छठवा वर्ण गुरू तथा पंचम् लघु होता है। इसी प्रकार जब एक ही जाति के दो वृत्तों का मेल एक ही श्लोक में कर दिया जाता है तो वह छन्द उपजाति कहलाता है। प्रायः यह मेल इन्द्रवजा और उपेन्द्रवजा का होता है या फिर वंशस्थ या इन्द्रवजा का कर्णभारम् का श्लोक 13 व 17 तथा उरुभङ्गम् का तीसरा श्लोक इसी में उपनिबद्ध है। इन्द्रवजा के प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण दो तगण एक जगण दो गुरु वर्ण के क्रम से होते है चरणान्त में यति होती है। इसी प्रकार बारह वर्णों के वंशस्थ छन्द का प्रयोग भी कवि ने किया है। इस छन्द के अन्त में यति होती है वर्णक्रम जगण तगण जगण और रगण के क्रम होता है।

उरुभङ्गम् में अभिनय के प्रकार :

नाट्यशास्त्र[16], शिल्परत्न[17], भावप्रकाश[18] के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे विकृष्ट, चतुरस्र और त्रयन इनमें से प्रत्येक ज्येष्ठ मध्यम और अवर तीन-तीन प्रकार का हो जाता है। इन प्रेक्षागृहों में रंग पीठ रंग शीर्ष, मत्तवारिणी और नेपथ्य का होना आवश्यक था। महाकवि भास कालीन रूपकों का अभिनय किस प्रकार के प्रेक्षागृहों में होता था। यह अनुमान नहीं होता इतना अवश्य ज्ञात होता है। इनका अभिनय उत्सवों के अवसर पर मंदिरों सड़कों और मैदानों में होता था। यह राज प्रसादों में भी अभिनीत होते थे। विवरण बताते है कि महाकवि भास के काल में स्थाई या अस्थाई दोनों प्रकार की रंगशालायें होती रही है। चतुरस्र, त्रयस्र और विकृष्ट प्रेक्षागृह जो मध्यम कोटि के होते हैं वही महाकवि भास के एकाङ्की रूपकों के लिये उपयुक्त थे। नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन से आङ्गिक, वाचिक आहार्य और सात्विक चार प्रकार के अभिनयों का उल्लेख मिलता है।

शरीर के अंगों द्वारा किया जाने वाला अभिनय शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत होता है। भाव तथा अर्थ को प्रकाशित करने के लिये वाचिक अभिनय होता है। इसका सम्बन्ध कथोपकथन से होता है जो सर्वश्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य तीन प्रकार का होता है। पात्रों द्वारा नेपथ्य के अन्दर किये जाने वाले रचना विधान को आहार्य अभिनय कहते हैं। इसके चार भेद हैं पुस्त, अलंकार, अङ्ग रचना तथा सज्जीव पुस्त में स्थ आदि बनाने के लिये बॉस, लाख और मिट्टी इत्यादि का प्रयोग होता है। अलङ्कार, अङ्ग रचना का विधान स्वतः शब्दों से ही सिद्ध है कृतिम जीव खग, सर्प इत्यादि का रंगमंच पर प्रयोग सज्जीव आहार्य कहा जाता है। सात्विक अभिनय भावों तथा रासों और रोमांच इत्यादि के प्रदर्शन में प्रयुक्त किया जाता है, इसी के अन्तर्गत स्त्री अभिनय भी आता है। भास के उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्की रूपकों में जहाँ सक्रोध, सन्त्रास, सोत्कम्प, स्वगत साख जनान्तिक, अपवारित, आकाशे नेपथ्ये इत्यादि स्थलों में चारों प्रकार के अभिनयों का दर्शन होता है। कर्णभारम् के पृ॰ 1, 4, 15, 21, 24 तथा उरुभंगम् के पृ॰ 23 पर आङ्गिक अभिनय के उदाहरण देखे जा सकते हैं। उरुभगम में पृ॰ 5, 12, 13 इत्यादि इसके प्रमाण हैं। सात्विक अभिनय उरुभङ्गम् के तेईसवें श्लोक में देखा जा सकता है।[19] वस्तुतः उरुभङ्गम् के साथ साथ कर्णभार और दूतघटोत्कच आदि रचनायें अभिनयों के निरूपण में समर्थ है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त व्यायोग के अनुशीलन से स्पष्ट भाषित होता है कि उरुङ्गम् रुपक का विषय वैषम्य एवं अन्य कतिपय निर्दिष्ट विषमताओं के साथ पर्याप्त साम्य है। शिलागत एकरुपता तीनों ही रुपकों में विद्यमान है। प्रस्तुत व्यायोग के आलोचन से संस्कृत साहित्यानुरागियों को अत्यअधिक सुखानुभूति होती है। महाकवि भास की यह रचनाएं जिसकी सुरभि युग युगान्त तक नाट्य प्रेमियों के हृदयों को आहलादित करती रहेगी। नाट्यकार भास नाट्यकला की दृष्टि से वरेण्य है। रूपकों के माध्यम से कवि के सन्देश और उपदेश सार्वजनिक और सार्वकालिक है।

सन्दर्भ सूची :

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डा॰ उमाशंकर शर्मा, पृ॰-466
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डा॰ उमाशंकर शर्मा, पृ॰-467
3. दशरूपक, 1/1
4. नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः । ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश।। साहित्य दर्पण, 6/2
5. नाट्यशास्त्र, 20/91
6. दशरूपक 2/6/62
7. महाभारत शल्यपर्व, अध्याय 54 से 58 तक।

8. भूमौ पाणितले निघृष्य तरसा बाहू प्रमृज्याधिकं सन्दष्टोष्ठपुटेन विक्रमबलात् क्रोधाधिकं गर्जता।

   त्यक्त्वा धर्मघृणां विहाय समयं कृष्णस्य संज्ञासमं गान्धारीतनयस्य पाण्डुतनयेनोर्वोर्विमुक्ता गदा।। उरुभंग, श्लोक-24

9. प्रचललललितमौलिः क्रोधताम्रायताक्षो भ्रमरमुखविदष्टां किञ्चिदुत्कृष्य मालाम्।

   असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्षी क्षितितलमवतीर्णः पारिवेषीव चन्द्रः।। उरुभंग, श्लोक-26

10. उरुभंग - श्लोक 9

11. श्लोक 36 गद्यभाग

12. एतद् रणाहतगजाश्वनरेन्द्रयौधं सङ्कीर्णलेख्यमिव चित्रपटं प्रविद्धम्।

    युद्धे वृकोदरसुयोधनयोः प्रवृत्ते यौधा नरेन्द्रनिधनैकगृहं प्रविष्टाः।। उरुभंग श्लोक-3

13. दशरूपक, 4/1

14. प्रचललललितमौलिः क्रोधताम्रायताक्षो। भ्रमरमुखविदष्टां किञ्चिदुत्कृष्य मालाम्।।

    असिततनुविलम्बिस्रस्तवस्त्रानुकर्ष।। क्षितितलमवतीर्णः पारिवेषीव चन्द्रः।। उरुभंग, श्लोक-26

15. भीष्मद्रोणतटां जयद्रथजलां गान्धारराजह्रदां। कर्णद्रौणिकृपोर्मिनक्रमकरां दुर्योधनस्रोतसम्।।

    तीर्णः शत्रुनदीं शरासिकतां येन प्लवेनार्जुनः। शत्रूणां तरणेषु वः स भगवानस्तु प्लवः केशवः।। उरुभंग, प्रथम श्लोक।

16. नाट्यशास्त्र 2/8

17. शिल्परत्न 1/395

18. भावप्रकाश पृ॰-295

19. संहृत्य भ्रुकुटी ललाटविवरे स्वेदं करेणाक्षिपन्। बाहुभ्यां प्रतिगृह्य भीमवदनश्चित्राङ्गदां स्वां गदाम्।।

    पुत्रं दीनमुदीक्ष्य सर्वगतिना लब्ध्वेव दत्तं बलं। गर्जन् सिंहवृषेक्षणः क्षितितलाद् भूयः समुत्तिष्ठति।। उरुभंग श्लोक-23

आत्मोत्थान में सहायक संगीत

कृष्ण कुमार तिवारी
शोधार्थी, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

सारांश

संगीत मनोरंजन के लिए नहीं है अपितु यह आत्मरंजन के लिए है। संगीत के स्वरों में स्निग्धता होती है। जो मानव को और संवेदनशील बनाते हैं। कहा भी गया है कि स्वर ही ईश्वर है। स्वर साधना से जीवन में ईश्वर साक्षात्कार की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

यदि मनुष्य भली-भाँति संगीत साधना में लगता है। संगीत को ईश्वर का मूर्त रूप मानकर साधना करता हैं तो वह सहज में ही मुक्त हो जाता है। ईश्वर की वास्तविक अनुभूति संगीत से ही समभव है। अतः यह निर्विवाद रूप से हम कह सकते है कि संगीत आत्मोन्नति में सहायक है।

मनुष्य एक समाजिक प्राणी होने के साथ-साथ ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना है। जब परमात्मा के मन में ''एकोऽहं बहुष्यामः की भावना हुयी तब उसने पाञ्चभौतिक सृष्टि में चतुर्विध जीवों की रचना की-

1. उद्भिज
2. स्वेदज
3. अण्डज
4. पिण्डज

उपरोक्त चतुर्विध जीवनों में सबसे अन्त में पिण्डज (जरायुज) अर्थात् मनुष्य की रचना हुयी।

मनुष्य को अन्य जीवों से भिन्न करने के लिए व्यवहार संस्कार और नियम आदि की व्यवस्था हमारे विद्वान् मनीषियों द्वारा शास्त्र के माध्यम से की गई जब शास्त्रों की रचना हुयी तो उसमें कलाओं की भी परिकल्पना की गयी।

पाँच ललित कलाओं में संगीत को उदात्त कला का स्थान प्राप्त है। संगीत का आत्मरंजन के साथ-साथ जीवन को परिष्कृत एवं अनुशासित बनाने में महत्वपूर्ण योगदान है। यही आध्यात्मिक जीवन की ओर ले जाता है।

शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ में वाग्गेयकार के लक्षण के अन्तर्गत भी अनुशासन की बात कही गई है-

''शब्दानुशासनज्ञानमभिधान प्रवीणता''

संगीत एक ऐसी विद्या है कि इसमें गुरु-शिष्य परम्परा वर्तमान में भी जीवंत है। जिसमें गुरु सर्वप्रथम शिष्य को अनुशासन का पाठ पढ़ाते है। जिससे बाल्यावस्था से ही शिष्य के अन्दर अनुशासन के संस्कार पड़ जाते है उसी के माध्यम से शिष्य का जीवन उन्नति को प्राप्त करता है।

संगीत प्रयोग परक विद्या है इसमें निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है और अभ्याय करने के लिए दिनचर्या को व्यवस्थित करना पड़ता है। फलस्वरूप जीवन स्वयं ही आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति कराने का मार्ग ही अध्यात्म मार्ग है। सम्पूर्ण विश्व में तीन सत्ताएँ प्रमुख रूप से विद्यमान हैं। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक सत्ता वह जिसमें मनुष्य अपनी आत्मा को सद्विचारों के माध्यम से उन्नत करता है, दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मिक शान्ति प्राप्त करने की प्रक्रिया से जो सम्बद्ध होता उसे आध्यात्मिक कहते हैं।

स्थापत्य कला, वास्तु कला, मूर्ति कला, काव्य कला और संगीत कला, इन पाँच ललित कलाओं में संगीत को सर्वश्रेष्ठ उदात्त कला का स्थान प्राप्त है, यही कारण है कि संगीत न केवल मनोरंजन का साधन है अपितु यह इहलोक के साथ-साथ आध्यात्म मार्ग की ओर ले जाने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है।

जन सामान्य में संगीत के विषय में जो मान्यता है उसके अनुसार गाने-बजाने को ही संगीत कहते है, किन्तु यह सब संगीत का बाह्य पक्ष ही दर्शाता है। वस्तुतः संगीत केवल गाना या बजाना अथवा केवल नाचना ही नहीं बल्कि यह एक ईश्वर साक्षात्कार कराने का सशक्त माध्यम है।

संगीत के लिए पाश्चात्य देशों में ''म्यूजिक'' (Music) शब्द का प्रयोग किया जाता है। ''म्यूजिक'' शब्द के अन्तर्गत वस्तुतः उन सभी कलाओं का समावेश है। पाश्चात्य देशों में भी म्यूज नामक अपनी अधिष्ठात्री देवी के प्रसन्नार्थ संगीत का प्रयोग होता था। प्रकारान्तर से वहाँ भी संगीत को ''अध्यात्म परक'' विद्या मानते हैं।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार भी संगीत की शाब्दिक व्याख्या संत्रगीत है। सम का अर्थ अच्छी तरह या भली प्रकार से परिपक्व गीत ही संगीत है तात्पर्य यह है जो व्यवस्थित और नियमबद्ध हो वही संगीत है।

संगीत एक योग विद्या है जिसकी स्वर-वर्ण से विभूषित ध्वनि मनुष्य के कर्णरंध्रों से प्रवेश करके मनुष्य के सूक्ष्म स्नायुओं को झंकृत कर सुषुप्त कुण्डलिनी को जागृत कर देती है तथा मनुष्य को आत्मोन्नति की चरमसीमा तक अध्यात्म मार्ग के माध्यम से ले जाती है जो कि प्राणी मात्र का परम-चरम लक्ष्य भी है।

आत्मा स्वयं आनन्द का श्रोत है क्योंकि वह परमात्मा से जुड़ी हुयी है। गोस्वामी तुलसीदास कृत राम चरित मानस में भी लिखा है-

ईश्वर अंश जीव अतिनाशी।
चेतन अमल सहज सुखराशी।।

भारतीय समाज का जीवन ही संगीतमय है। भरतीय संगीत में आत्मिक आनन्द का विशिष्ट स्थान है और संगीत के अतिरिक्त यह आनन्द अन्यत्र या अन्य जगह प्रायः नहीं होता है।

संगीत को विश्व पदार्थों में अभिनवीकरण अर्थात नवीनीकरण का श्रेय मिला है। चिरकाल तक इसने मानव मस्तिष्क में नए-नए रंग भरकर भावनाओं में मधुरिमा की सृष्टि की। निरशा के प्रांगण में आशा एवं आनन्द के अंकुर पैदा किये। विद्वत्जनों ने समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने हेतु यदि किसी भी कार्य का प्रचार किया उसमें संगीत कला को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

भारतीय ऋषियों मनीषियों तथा विद्वानों का संगीत के प्रति समग्र दृष्टिकोण रहा है। खण्डित चेतना को भारतीय संगीत में कहीं भी स्थान नहीं प्राप्त है। संगीत की यह विशेषता सदा से रही है कि इसमें हर क्षण नया है और नई सृजनता तथा रचनाधर्मिता उत्पन्न होती है। जो निर्विवाद रूप से आध्यात्म की ओर हम सबको ले जाती है। संगीत का एक प्रयोजन लोकरंजन तो है ही किन्तु लोकरंजन के साथ-साथ आत्मरंजन भी इसका परम लक्ष्य रहा है।

संगीत का आकर्षण तथा खिंचाव अनुपम है। संगीत की प्राचीनता का जहाँ तक प्रश्न है उसके विषय में इदमित्थं नहीं कहा जा सकता है। संगीत अनादि है। इसको समय की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता है।

वैसे तो सारी सृष्टि परमात्मा की बनायी हुई है फिर भी ईश्वर को सबसे अधिक प्रिय मानव (मनुष्य) है। रामचरित मानस में भी गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं कि प्रजावासियों (अयोध्यावासियों) को सम्बोधित करते हुए, भगवान राम स्वयं कहते हैं कि-

सब मम प्रिय सब मम उपजाए।
सब ते अधिक मनुज मोहिभाए॥

अर्थात् वैसे तो सारी सृष्टि मेरी ही है। किन्तु उन सब में मनुष्य प्रिय है। क्योंकि मनुष्य में ही सद्-असद विवेचनी बुद्धि है और वह सामाजिक भी है। मनुष्य अपने को अन्य जीवों से अलग रखने के लिए विद्या और कलाओं का आश्रय ग्रहण करता है। उसके लिए सर्वोत्कृष्ट कला व विद्या संगीत ही है।

अन्य विद्याओं के माध्यम से प्रायः भरण पोषण तथा जीवन यापन किया जा सकता है उसी के इतर संगीत में दैनिक संसाधनों की पूर्ति होती है। आध्यात्मिक रूचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। 'संगीत-ध्यान' आदि क्रियाएँ भी इसी के अन्तर्गत आती हैं।

डॉ॰ राकेश वाला सक्सेना के कथानुसार ''संगीत कला का सम्बन्ध आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक उपासनाओं में प्रयुक्त कीर्तन, भजन, मंत्रोचारण, जप-तप, आदि के रूप में धर्म आदि से सदा ही रहा है।''

एक बार मतंग कृत बृह्द्देशी ग्रन्थ में राग की परिभाषा पर भी विचार कर लेते हैं, जो इस प्रकार है-

योऽयं ध्वनि विशेषस्तु
स्वर वर्ण विभूषितः।
रंजकोजनचित्तानां
स रागः कथितो बुधैः॥

उपरोक्त परिभाषा या लक्षण में रंजक शब्द और चित्त शब्द राग को आध्यात्म की ओर इंगित कर रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि संगीत का जो मूल है वह राग है। और राग रंजकता के माध्यम से आत्म रंजन अर्थात् आध्यात्मिकता ही है।

अध्यात्म में आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान मुख्य माना जाता है। आत्मा का परमात्मा से सम्बन्धित ज्ञान ही आध्यात्मिक ज्ञान है। प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मिक उन्नति चाहता है। आध्यात्म भी आत्मिक उत्थान का शास्त्र है। आध्यात्मिक उन्नयन का तात्पर्य आत्मिक उन्नति से है। आध्यात्मिक एकाग्रता के लिए निःसंदेह संगीत का आश्रय ग्रहण किया जाता है।

वास्तविकता यह है कि अध्यात्म भौतिकता से ऊपर की अनुभूति है। आध्यात्मिक अनुभूति उसी व्यक्ति को होती है जो सांसारिक स्तर से ऊँचा उठ जाता है। तात्पर्य यह है यह अनुभूति संगीत से सुगमतया प्राप्त हो जाती है।

संगीत, व्यक्ति को अध्यात्म से जोड़कर स्वयं के अस्तित्व के साथ सूक्ष्म विवेचन करने में समर्थ बनाता है। वास्तव में आध्यात्मिक होने का अर्थ है कि व्यक्ति अनुभव के धरातल पर यह जानता है कि वह स्वयं अपने आनन्द का श्रोत है। आध्यात्मिकता का सम्बन्ध हमारे आंतरिक जीवन से है।

अध्यात्मक का अर्थ है अपने भीतर के चेतन तत्त्व को जानना। श्री मद्भगवद् गीता के आठवें अध्याय में अपने स्वरूप अर्थात् जीवात्मा को अध्यात्म कहा गया है।

''परमं स्वभावोऽध्यात्मुच्यते''

गान क्रिया के माध्यम से स्वत्व का बोध शीघ्र होता है। ऐसा मनीषियों का मत है। जो चेतना बाह्य है वही चेतना संगीत के माध्यम से शीघ्र ही आन्तरिक हो जाती है। तब साधक को आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति होने लगती है।

समस्त जगत् में प्रत्येक प्राणी का कोई न कोई आराध्यदेव या इष्ट अवश्य रूप से होता है। अपने इष्ट को प्रसन्न करने हेतु जिस एकाग्रता और शुद्ध चित्तता की आवश्यकता होती है। वह केवल संगीत से ही प्राप्त हो सकती है। भारतीय संगीत के अंग-प्रत्यंग तथा प्रत्येक घटक अवयव पर आध्यात्मिकता

की छाप स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अध्यात्मपथ के माध्यम से परम सत्ता का साक्षात्कार संगीत का प्रथम लक्ष्य है। कहा भी गया है कि-

रूप मन को मरोड़ देता है
प्रेम जीवन को मोड़ देता है।
आत्मा को पखार सुर लय में
''संगीत'' पूजा से जोड़ देता है।

''इति''

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. गोस्वामी, तुलसीदास, राम चरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर
2. गुप्ता, प्रो॰ लिपिका दास, संगीतशास्त्र चिन्तन, कला प्रकाशन, वाराणसी
3. प्रताप, डॉ॰ रागिनी, सूर मीरा एवं हरीदास की भक्ति साधना में संगीत का योगदान, शुलभ पब्लिशिंग हाउस, शास्त्री नगर, मेरठ
4. श्रीमद्भगवद गीता - अध्याय-8
5. सचदेव, रेनु, धार्मिक परम्पराएं एवं हिन्दुस्तानी संगीत, राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली

Piyali Sadhukhan's Broken Bangle Collages

Piyali Sadhukhan
Broken Bangle Collages

Harshika Maan
Broken Bangle Collages

Anjali Duhan Gulia
Broken Bangle Collages

Abstract

Piyali Sadhukhan is a Kolkata-based contemporary artist working with daily life and found unconventional materials in her collages. The main materials in her collages are colorful bangles, Nepali handmade paper, tissue, cotton, etc. Her large-scale works glitter with varied different colored bangles broken into several big, large, dot, zig-zag, irregular pieces that are pasted together to form a floral design in her work giving the appearance of Persian and Kashmiri carpet designs - as if these glass bangle pieces are weaved as a thread from a distance. The discrimination against females is the main content of Sadhukhan's collages, which are represented by bangles that are symbolic of feministic power. This paper will examine the unconventional medium i.e., bangles, their symbolic usage and technique used by the artist.

Keywords

Piyali Sadhukhan, Bangles, Collage, Feminism, Carpet.

Contemporary artist Piyali Sadhukhan was born in 1979 in Kolkata. She obtained her MFA degree from Visva Bharati University in 2006 and is the recipient of a junior research fellowship from the government of India in 2007. Piyali's works are being exhibited on both national and international platforms. Apart from paintings she is also actively involved in art direction and theatre productions,[1] because of this, her artworks also reflect the influence of the dramatic narratives of theatres. She portrays the subdued female voices and discrimination through the use ofmundane objects *i.e.*, broken bangles. The glittering, small, sharp, irregular, multi-coloured broken bangles, all are pasted closely on a layered surface of thin handmade paper or on canvas to form beautiful carpet-like floral patterns in her work. Various issues such as gender violence, menstruation, freedom, and unheard voices of women are portrayed in her collage works.

The first work under consideration here is titled as *Flaming Altar* (Fig. 1), a monumental piece with an extension spreading like a carpet symbolising the buried voices of women. It is a comment on the Sabarimala Shree Ayyappan

Temple's stand of exclusive entry of only males leading to a much-debated issue, which was only solved after a court case. Menstruation of the females was the sole reason for their in accessibility to this holy shrine.[2] The celibate God Ayyappan is present in the centre of the composition, wearing white clothes and covering his eyes with several hands. Similarly, the two groups of saints flanking the small altar also have their eyes closed with their head dresses. With folded hands, they are paying their homage to the Central Figure. The pelvic structure of this main form is rendered with a uterus and deep blood-like flames emitting from it, pointing to the fact that even the Gods have their births from females, so how are they denied accessibility to them? The carpet like extension that spread on the floor represents therepressed situation of women. Multi-coloured broken bangles are glued together to form these figures; however, the whole piece seems like a weaved carpet from a distance.

Fig.1 - Flaming Altar, Collage: Nepali handmade paper, canvas, cotton, fabric, bangles, acrylic paint, iron structure, 105 x 107 in. (wall piece), 59 x 119 in. (Carpet), 2019. Image Courtesy: Gallery Akar Prakar, Kolkata.

Piyali's another work, 'Mirror Mirror' is also significant. It is divided into two parts: the multi-coloured carpet like section and the other is an Afghan woman in a *burqa*. The former has a delicate creased light background that is made of handmade, created by carefully pasting layers of transparent tissues according to an intricate design alongside the broken bangles that altogether makes her work appear like glowing rich carpet, commenting the deep concept through such unconventional collage technique. The choice of glass bangles auspicious to women is broken. Its use here as an alternative collage language that is different from traditional techniques used in collages. The silhouette of the black clad Afghan woman is a critique on the suppression of the voices of females, their choices, their feelings, and most significantly their education in this Taliban-captured country.[3] Such a harsh reality is beautifully depicted by the artist in a symbolicway, see Fig.2.

The two-faced reality is portrayed in this work on the past life or future aspirations in the form of a beautiful floral intricate design with varied flowers, circular blue creepers all- natural motifs along with repeated floral bands around the border of this rectangular collage, the other reality is the present situation of women that is depicted with the crimson-colored silhouette of the female form with several gunshots like marks over her body. They are created by sticking circular cotton and burning them with a blown fire. This Silhouette figure portrays the scars of such captivated women. The other attachment to this collage depicts the woman all draped in black, even her face is covered fully. This figure is made up of several broken black glass bangles pasted over burnt-hard handmade sheets representing the choice of appearance and voices of those women.

Fig. 2 *Mirror Mirror*, Collage on canvas, 84.5 x 61 in & 59 x 27 in (figure), 2021. Image Courtesy: Gallery Akar Prakar, Kolkata.

Fig. 3. *Udaan*, Nepali handmade paper, canvas, cotton fabric, bangles, acrylic paint, 34.75 x 56 in., 2019. Image Courtesy: Gallery Akar Prakar, Kolkata.

Piyali Sadhukhan's other work titled 'Udaan' (Fig. 3) is in the form of a rectangle with irregular burnt edges. This work appears like a small weaved carpet but on closer inspection, the entire pattern is made up of broken pieces of bangles glued to form this crochet-like surface. These small pieces of bangles are forming natural motifs of flowers and leaves. The uniformity of this design is disrupted by negative space that symbolizes the wounds on the females in society. The lower part of this collage is stuck with minute pieces of red bangles that form the word 'Udaan' in Devanagari along with a sound wave-like pattern made up of several different pieces of broken glass bangles pasted closely. This particular word and the background motif denote the voices of women that are suppressed due to either patriarchy or politics in society.

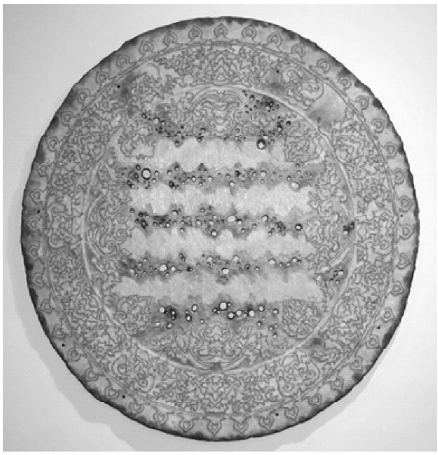

Fig. 4. *Hallowed*, Collage on canvas, 44 x 46.5 in, 2021. Image Courtesy: Gallery Akar Prakar, Kolkata.

The work titled 'Hallowed' (Fig. 4) is in a circular form that represents ornate halo-like form. These nimbuses were seen behind the Buddha sculptures of the Kushan and Gupta times. The halo is the special significance that is given to Gods in the work of art. Here the halo-like shape appears singularly without the idol. The circular piece of canvas is burnt around the edges and its interior is pasted with a delicate circular floral design made up of broken glass bangles. The interior circular space is denoted with several small circular holes around sound beam-shaped faded marks. These burnt holes that Piyali has often used in her works, again represent the suppressed voices of women due to religion, power, and patriarchy.

Whereas in the work titled 'Silent Tales- Blue I' the artist has raised the

voices and narrative of female discrimination through their bangles that are broken and fixed to form a collage-like in Fig. 5. This vertical piece of canvas layered with Nepali handmade paper and colorful pieces of bangles gives the illusion of Persian and Kashmiri Namda carpet designs.[4]

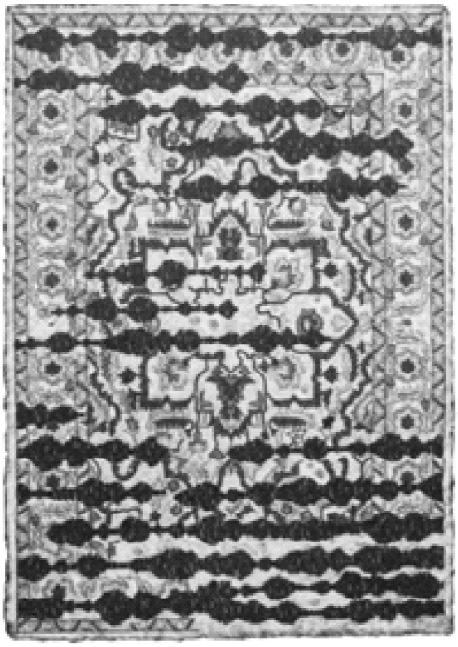

Fig. 5. *Silent Tales – Blue I*, Collage: glass bangles, Nepali paper, cotton, synthetic adhesive, and acrylic on canvas,168 × 119 cm, 2021. Image Courtesy : Gallery Akar Prakar, Kolkata and Kiran Nadar Museum of Art Collection.

The green alpana-like floral pattern appears like an architectural map of some Persian-influenced garden map. Several pieces of broken green-colored bangles are pasted against contrasting pinkto forma floral pattern in the centre.The upper and lower part of this beautiful cool green design is obstructed with a blue sound wave-like pattern that appears to travel across the boundaries of the collage. These sound wave-like zig-zag pattern is made from blue-colored broken bangle pieces passed altogether to symbolize the unheard, surpassed, tormented voices of women throughout the social construct.

Hence the delicate, sharp broken pieces of bangles that are largely discarded by the females due to sin to the auspiciousness of husbands are mindfully chosen by the artist and are utilized intellectually by turning them into beautiful floral patterns generally associated with feminist characteristics in society.[5] These beautiful floral intricate designs are altered with hue, shape, and form to signify the subject of discrimination and suppression of women due to politics, patriarchy, menstruation, and authoritative powers in society. Thus, the large scaled unusual works of Piyali Sadhukhan break the visual and traditional stereotypes in visual art and society discriminating against females.

Bibliography :

1. Adjania, Nancy. "Seeing Is (Not) Believing by Piyali Sadhukhan." Akar Prakar, Kolkata. Accessed at https://www.akarprakar.com/exhibitions/seeing-is-not-believing on 31 March 2023.
2. Bagchi, Apeksha. (2019). "Making Art Her Voice: artist Piyali Sadhukhan has been bringing women's Issues to the forefront". *Indian Express*.
3. Chattopadhyay, Pallavi. (2019). "Kolkata-based artist Piyali Sadhukhan uses art to address violence against women". *Indian* Express, 20 May 2019.
4. Latif, Safinaand Romana Yasmin Khan.(2012). "Creation and exploitation of new Textile designs derived from Kashmiri Namda and Gabba Motifs." *Greener Journal of Art and Humanities*: 8-16.
5. "Piyali Sadhukhan". Accessed at https://www.akarprakar.com/exhibitions/kingdom-of-cards on 19 January 2023.

6. Shailendra, Siddhi. "Kingdom of Cards by Piyali Sadhukhan", *Akar Prakar*, Kolkata. Accessed at https:// static1.squarespace.com/on 4 April 2023.
7. Thakur, Shrimayee. (2021). "Kolkata-based artist Piyali Sadhukhan has an emotional ode toexperiences with cut glass bangles", *Indian Express*,13 December 2021.

(Endnotes)

1. "Piyali Sadhukhan", accessed at https://www.akarprakar.com/exhibitions/ kingdom-of-cards on 19 January 2023.
2. Nancy Adjania, "Seeing Is (Not) Believing by Piyali Sadhukhan," Akar Prakar, Kolkata, accessed at https://www.akarprakar.com/exhibitions/ seeing-is-not-believing on 31 March 2023.
3. Siddhi Shailendra. "Kingdom of Cards by Piyali Sadhukhan", *Akar Prakar*, Kolkata, accessed at https://static1.squarespace.com/ on 4 April 2023.
4. Safina Latif and Romana Yasmin Khan, "Creation and exploitation of new Textile designs derived from Kashmiri Namda and Gabba Motifs," *Greener Journal of Art and Humanities* (2012): 9.
5. Apeksha Bagchi, "Making Art Her Voice: artist Piyali Sadhukhan has been bringing women's Issues to the forefront", *Indian Express*, 2019.